The Secret of Jainism

जैनधर्म रहस्य

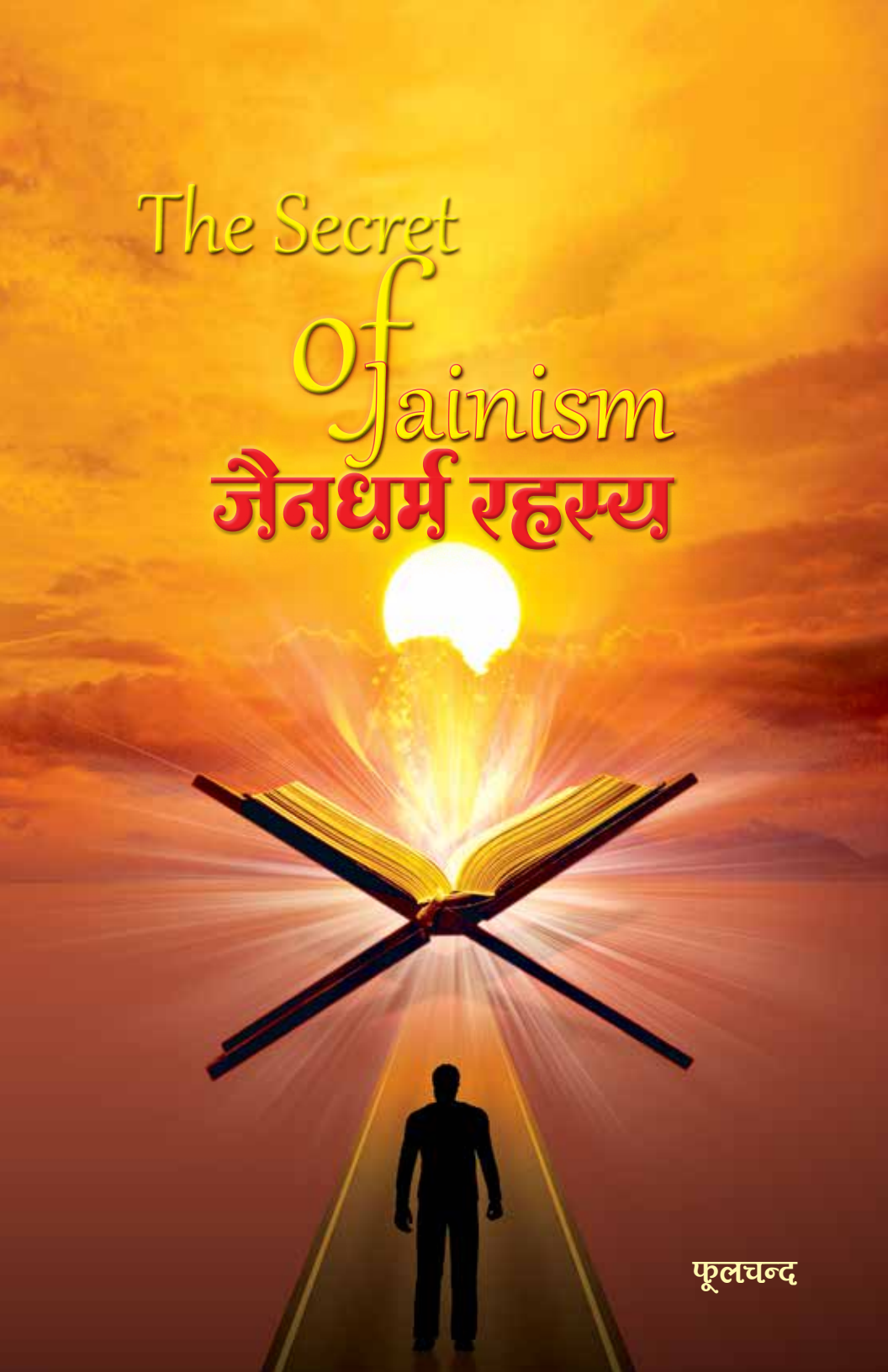

फूलचन्द

देश-विदेश की 16 भाषाओं में उपलब्ध लेखक के 6000 घण्टे में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवचन

www.fulchandshastri.com

आध्यात्मिक साधना प्रश्नोत्तरमाला, तत्त्वचर्चा, साधना विशेष, साधना सत्संग शिविर, समयसार, प्रवचनसार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, मोक्षमार्ग प्रकाशक, तत्त्वार्थसूत्र, गुणस्थान विवेचन, श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत, बहन श्री चंपाबेन के वचनामृत, पंचास्तिकायसंग्रह, ज्ञान से ज्ञायक तक, बारह भावना, बाईस परिषह, 47 शक्तियाँ, अलिंगग्रहण प्रवचन, अपरिग्रह, अपूर्व अवसर, जैन जीवन जीने की कला, आत्मसिद्धिसार, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुभूति की पूर्वभूमिका, पं श्री दौलतराम जी कृत छहढाला, धर्म के दस लक्षण, दशहरा, दीपावली, रक्षाबंधन, द्रव्य स्वभाव पर्याय स्वभाव, द्वादशानुप्रेक्षा, गजपंथा साधना, गृहित मिथ्यात्व, गुरुदेव श्री कानजीस्वामी, ज्ञान स्वभाव ज्ञेय स्वभाव, कारण-कार्य व्यवस्था, क्रमबद्धपर्याय, क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव, मोह की महिमा, नय, निश्चय-व्यवहार, प्रतिक्रमण, साधक की भूमिका, साधनाविधि, साधु के अठ्ठाईस मूलगुण, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूतिदर्शन, तत्त्व का अभ्यास, विकल्प से निर्विकल्प, इन्द्रिय और मन में सुखबुद्धि, भावलिंगी साधु, महावीरजयंति, ध्यान, मनुष्य जीवन की महत्ता-दुर्लभता-सार्थकता, सदाचार, अहिंसा एवं शाकाहार, भक्ति प्रवचन आदि विषयों पर ओडियो एवं विडियो प्रवचन सुने और डाउनलोड किये जा सकते हैं।

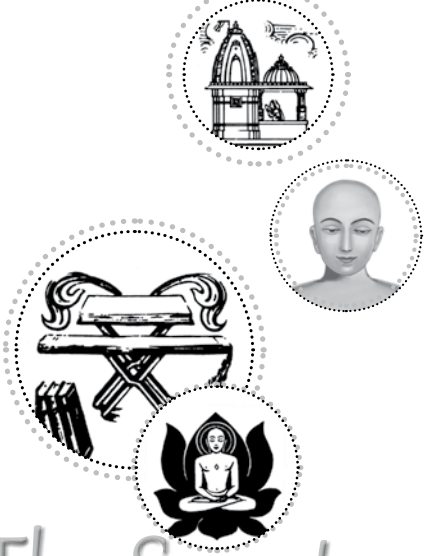

The Secret of Jainism

जैनधर्म रहस्य

लेखक

फूलचन्द

प्रकाशक

आध्यात्मिक साधना केन्द्र

उमराला, जि. भावनगर, गुजरात. फोन : +91-2843-235202/03

Website : www.fulchandshastri.com

E-mail : ask@fulchandshastri.com

{ जैनधर्म रहस्य के समस्त विषयों पर लेखक के मार्मिक
प्रवचनों की सी.डी. एवं डी.वी.डी भी उपलब्ध हैं। }

आर्थिक सहयोग

श्री मांगीलालजी एस. चंदन

ब्राईट मेटल्स, मुंबई. फोन : 09223278899

प्रथम आवृत्ति : 25/07/2014 प्रत : 1000 मुल्य : 200/-

प्राप्ति स्थान : आध्यात्मिक साधना केन्द्र

उमराला, जि. भावनगर (गुजरात). फोन : +91-2843-235203

Website : www.fulchandshastri.com • E-mail : ask@fulchandshastri.com

टाईप सेटिंग एवं मुद्रक : मल्टी ग्राफिक्स

18, खोताची वाडी, वर्धमान बिल्डींग, ३रा माला, प्रार्थना समाज, वी. पी. रोड, मुंबई-400 004.

फोन : 23884222 / 23873222. • Website : multygraphics.com • shrutgyan.com

जैनधर्म रहस्य की प्रामाणिकता

जैनधर्म रहस्य में निम्नलिखित शास्त्रों में से प्रमाण लिये गये हैं।

षट्खंडागम, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पंचास्तिकायसंग्रह, रयणसार, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, धवल, जयधवल, महाधवल, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार, परमात्मप्रकाश, योगसार, समाधिशतक, ज्ञानार्णव, पद्मनंदिपंचविशति, भगवती आराधना, पाहुडदोहा, द्रव्यसंग्रह, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आदिपुराण, पद्मपुराण, पाण्डवपुराण, भक्तामरस्तोत्र, न्यायदीपिका, देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा), समयसार कलशटीका, अनगारधर्मामृत, सारसमुच्चय, लोहाणुवेक्खा आदि ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त मोक्षमार्ग प्रकाशक, छहढाला (पं. दोलतरामजी कृत), श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, आत्मसिद्धि शास्त्र, अपूर्व अवसर आदि ग्रन्थों के प्रमाण भी उद्धृत किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त लेखक की अन्य कृति महावीर का वारिस कौन?, आत्मसिद्धि अनुशीलन, ज्ञान से ज्ञायक तक, क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव, क्रमबद्ध पुरुषार्थ, आतंकवाद में अनेकांतवाद आदि पुस्तकों के अंशो को उद्धृत किये गये हैं।

नये पाठकों के लिये शब्दकोष

मूल शब्द	शब्दार्थ (हिन्दी)	MEANING (ENGLISH)
अनिष्ट	बुरा	Bad
अविनाशी	जिसका कभी नाश नहीं होता	Indestructible
असत्	टिककर नहीं रहने वाला	Momentary
आत्मजागृति	मैं आत्मा ही हूँ, ऐसा एहसास	Self-Awakening
आत्मार्थी	आत्मा का प्रयोजनवाला जीव	True Seeker
इष्ट	अच्छा	Good
उपादेय	प्रकट करने योग्य	Beneficial
एकत्व	एकपना/मैं पना	Attachment/One-ness
कर्त्ता	करने वाला	Doer
कर्तृत्व	कर्तापना	Feelings of Doing
करुणा	किसी जीव के प्रति मृदुता	Compassion
खंडखंडरुप ज्ञान	चमडी-जीभ-नाक-आँख-कान और मन के निमित्त से होता ज्ञान	Sensory Knowledge
गुण	द्रव्य का टिककर रहने वाला अंश	Attribute
गृहस्थ	चार दीवार और छत के नीचे रहने वाला व्यक्ति, जो अठ्ठाईस मूलगुण का पालन नहीं करता	All laymen except the possessionless Monks
चैतन्य	जानने और देखने का स्वभाव	Nature of Knowledge
जिज्ञासु	सत्य जानने का रुचिवान जीव	True Seeker
दर्शन	ज्ञान के साथ दर्शन हो तो सामान्य प्रतिभास/ ज्ञान और चारित्र के साथ दर्शन हो तो श्रद्धा	Perception/Belief
द्रष्टा	देखने वाला	Observer
द्रव्य	वस्तु	Substance
द्रव्यद्रष्टि	द्रव्य को देखने वाली द्रष्टि	Vision of the Substance
दया	जीव के प्रति कोमल भाव	Pity
ध्रुव	स्थिर रहने वाला	Steady
निज परमात्मा	स्वभाव से शुद्ध आत्मा (मैं स्वयं परमात्मा)	One's own Soul
निर्जरा	भूतकाल में बंधे हुए कर्मों का खिर जाना	Releasing of Karma

मूल शब्द	शब्दार्थ (हिन्दी)	MEANING (ENGLISH)
निर्विकल्प	विकल्पों से रहित	Unperturbed
प्रतीति	द्रढ श्रद्धा	Belief
प्रयोजन	मतलब, आवश्यक	Purpose
परिणति	आत्मा के चारित्र गुण की शुद्ध (वीतरागता) या अशुद्ध (राग-द्वेष) अवस्था (पर्याय)	Conduct attrubute's State/Modification
पर्याय	अवस्था, कार्य, दशा, हालत	Modification, State
पर्यायद्रष्टि	पर्याय को देखने वाली द्रष्टि	Vision of Modification
पर	अपने आत्मा को छोडकर सब	Others
पर परमात्मा	पूर्ण शुद्ध पर्याय सहित आत्मा, महावीर भगवान, आदि	Omnicient God like The Lord Mahavira
भोक्ता	भोगने वाला	Enjoyer/Sufferer
भोक्तृत्व	भोक्तापना/भोगने का भाव	Enjoyment Feelings
ममत्व	मेरापना	Attachment
वात्सल्य	प्रीति	Affection
विकल्प	आत्मा के अलावा किसी भी प्रकार के विचार	Perturbed Thought
शाश्वत	हमेशा रहने वाला	Eternal
स्व	मैं	Self
सत्	टिककर रहने वाला	Exist
सम्यग्दर्शन	सात तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा	Right Belief
सम्यक्त्व	सच्चापन	Right Faith
समकित	सच्ची मान्यता	True Belief
संकल्प	द्रढ निर्णय/परपदार्थों में और जगत के विचारों में अपनापन	Decision/Feelings of Attachment
संवर	नये कर्मो का आत्मा में नहीं आना	stoppage of inflow of karmic influx
हेय	छोडने योग्य	Retractable
त्रिकाली	तीनों कालों में रहने वाला	Eternal
ज्ञाता	जानने वाला	Knower
ज्ञायक	परद्रव्य, पर्याय और गुणभेदों से जुदा निज शुद्धात्मा	The Soul
ज्ञेय	ज्ञान में जानने में आने वाला	Known object

१. देव अधिकार

01.	णमोकार मंत्र	1
02.	णमोकार मंत्र की चुलिका	3
03.	मंगलाचरण का स्वरुप एवं रहस्य	5
04.	ॐ का स्वरुप एवं महिमा	6
05.	मांगलिक स्वरुप एवं रहस्य	7
06.	णमोकार मंत्र एवं मांगलिक पाठ : कहाँ और कब?	10
07.	देव का स्वरुप एवं रहस्य	11
08.	अरिहंत भगवान को सिद्ध भगवान से पहिले नमस्कार	12
09.	वीतरागता का स्वरुप	14
10.	सर्वज्ञता का स्वरुप	15
11.	हितोपदेश का स्वरुप	18
12.	तीर्थंकर भगवान का स्वरुप	19
13.	महावीर भगवान प्ररुपित जिनशासन	23
14.	विहरमान तीर्थंकर सीमंधर स्वामी	25
15.	जिनालय एवं चैत्यालय: रहस्य	26
16.	जिनप्रतिमा जिनवर-सी कहिए : रहस्य	27
17.	देवदर्शन करने की विधि	31
18.	द्रव्य स्वभाव से प्रत्येक आत्मा है परमात्मा	37
19.	पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	37
20.	जिनदर्शन से निजदर्शन	38
21.	आत्मा से परमात्मा होने की विधि	39
22.	चमत्कार को नमस्कार	40
23.	चैतन्य चमत्कार	43
24.	परमात्मा का अतीन्द्रिय अनन्त सुख	44
25.	अशरीरी सिद्ध भगवान	45

२. शास्त्र अधिकार

01. शास्त्र का स्वरुप एवं रहस्य	47
02. आगम का स्वरुप, भाषा, शैली एवं उपयोगिता	48
03. आगम के अर्थ समझने की पद्धति	50
04. अनेकांत-स्याद्वाद	51
05. चार अनुयोगों का स्वरुप एवं रहस्य	53
06. प्रथमानुयोग का रहस्य	54
07. त्रेसठ शलाका महापुरुषों का संक्षिप्त स्वरुप एवं रहस्य	55
08. करणानुयोग का रहस्य	57
09. जीवस्थान-मार्गणास्थान-गुणस्थान : रहस्य	57
10. तीन लोक का संक्षिप्त स्वरुप	60
11. अधोलोक	61
12. मध्यलोक (तिर्यक्लोक-तिरछालोक)	62
13. उर्ध्वलोक	65
14. कर्मो का स्वरुप एवं रहस्य	68
15. प्रथमोपशम सम्यक्त्वपूर्व पंचलब्धि का रहस्य	71
16. द्रव्यानुयोग का रहस्य	73
17. द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरुप एवं रहस्य	74
18. विश्व की स्वतंत्रता	85
19. स्वरुप ही ऐसा है	92
20. उससे मुझे क्या?	94
21. मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ	94
22. निमित्त और उपादान का रहस्य	95
23. निश्चय और व्यवहार का रहस्य	98
24. क्रमबद्ध पर्याय	105
25. चरणानुयोग का रहस्य	106

3. गुरु अधिकार

01. गुरु का स्वरुप : रहस्य 109
02. सम्यग्दर्शन सहित ही ज्ञान और चारित्र यथार्थ होता है 110
03. सम्यग्दर्शन का स्वरुप 115
04. सात तत्त्वों का स्वरुप एवं रहस्य 118
05. सम्यग्दर्शन की महिमा 123
06. महिमावान सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिका 128
07. देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा 129
08. सात व्यसनों के त्याग का रहस्य 130
09. श्रावक के अष्ट मूलगुण 137
10. अन्याय-अनीति-अभक्ष्य त्यागरुप सदाचार 138
11. आत्मा का स्वरुप 144
12. पंच भाव का स्वरुप 147
13. आत्मा की शक्तियाँ 152
14. भेदज्ञान का स्वरुप एवं महिमा 153
15. निर्विकल्प आत्मानुभूति का स्वरुप 155
16. वैराग्यजननी बारह भावना 160
17. मुनिदीक्षा पूर्व वैराग्य एवं उदासीनता 176
18. अठ्ठाईस मूलगुणों का स्वरुप एवं साधु की महिमा 183
19. भावलिंगी साधु और द्रव्यलिंगी साधु : रहस्य 199
20. बाईस परिषह एवं परिषहजयी साधु : रहस्य 201
21. उपसर्ग एवं उपसर्ग विजयी साधु : रहस्य 213
22. मुनि है चलतें-फिरतें सिद्ध परमात्मा 215
23. जैन धर्म में बालदीक्षा का स्वरुप 216
24. शिथिलाचारी को भी द्रव्य स्वभाव से परमात्मा ही जानो 217
25. जिसने मोह को खण्डित किया, वे ही सच्चे पण्डित है 221

४. धर्म अधिकार

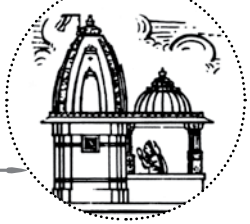

01. धर्म का स्वरुप, पुण्य और धर्म में भेद : रहस्य	223
02. मिथ्यात्व ही अधर्म और सम्यक्त्व ही धर्म	229
03. निश्चय धर्म एवं व्यवहार धर्म	231
04. श्रावक-श्राविका का स्वरुप एवं धर्म	235
05. रात्रिभोजनत्याग	237
06. सामायिक-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना	238
07. तीर्थ एवं तीर्थयात्रा का स्वरुप एवं फल : रहस्य	246
08. प्रार्थना-पूजा-भक्ति : रहस्य	252
09. सत्संग की महिमा	257
10. जैन पर्वो के रहस्य	260
11. पर्युषण महापर्व एवं धर्म के दस लक्षण : रहस्य	261
12. उत्तम क्षमा : रहस्य	263
13. उत्तम मार्दव : रहस्य	265
14. उत्तम आर्जव : रहस्य	267
15. उत्तम शौच : रहस्य	268
16. उत्तम सत्य : रहस्य	269
17. उत्तम संयम : रहस्य	271
18. उत्तम तप : रहस्य	272
19. उत्तम त्याग : रहस्य	295
20. उत्तम आकिंचन्य : रहस्य	300
21. उत्तम ब्रह्मचर्य : रहस्य	301
22. अष्टाह्निका पर्व : रहस्य	302
23. रक्षाबंधन : रहस्य	303
24. दीपावली : रहस्य	306
25. श्रुतपंचमी (ज्ञानपांचम) : रहस्य	310

जैनधर्म रहस्य

मुखपृष्ठ परिचय

जैनधर्म के रहस्य को समझने के लिये देव-शास्त्र-गुरु के रहस्य को समझना अनिवार्य है। जैनधर्म रहस्य के मुखपृष्ठ पर चित्र में तीर्थंकर केवली भगवान को सूर्य की एवं उनकी दिव्यध्वनि को सूर्य की किरणों की उपमा दी गई है। परमात्मा की दिव्यध्वनिरुपी किरणें मोक्षमार्ग को प्रकाशित करती है। मार्ग को प्रकाशित करने के लिये सूर्य को मार्ग तक आने की आवश्यकता नहीं है, सूर्य की किरणें ही मार्ग को प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त है। जैसे सूर्य की किरणें मार्ग को बनाती नहीं है बल्कि बताती है, ऐसे ही परमात्मा एवं उनकी दिव्यध्वनि ने मोक्षमार्ग बनाया नहीं है, बल्कि सिर्फ बताया है, प्रकाशित किया है। दिव्यध्वनि द्वारा प्रकाशित मोक्षपथ पर चलकर साधक जीव जिनवाणीरुपी साधन से केवलज्ञानसूर्यरुपी साध्य को प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग अति सरल, सहज, सीधा एवं एक ही है। चित्र में सूरज के नीचे आगम एवं आगम के नीचे साधक दर्शाये गये हैं। सूरज को देव का, आगम को शास्त्र का और साधक को गुरु का प्रतीक समझना चाहिए।

प्रथम : देव अधिकार

१. णमोकार मंत्र

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं।।

अर्थ : लोक में सर्व अरिहंतो नमस्कार हो, लोक में सर्व सिद्धों को नमस्कार हो, लोक में सर्व आचार्यों को नमस्कार हो, लोक में सर्व उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

णमोकार मंत्र में लोक में रहने वाले पाँच परमेष्ठी को नमस्कार किया है, इसलिये णमोकार मंत्र को नमस्कार मंत्र भी कहते हैं। चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाली शुद्ध पर्याय को प्राप्त आत्मा को परमेष्ठी कहते हैं। परम पद को प्राप्त करके परम पद पर विराजमान शुद्धात्मा को परमेष्ठी कहते हैं। **प्रत्येक आत्मा शक्ति अपेक्षा से परमात्मा है और जब वह परपदार्थो से द्रष्टि हटाकर निज परमात्म तत्त्व पर द्रष्टि करता है, तब पर्याय में भी परमात्म पद प्राप्त करता है।**

कुछ लोग णमोकार महामंत्र का उच्चार नमोकार महामंत्र करते हैं। वे **णमो** अरहंताणं के स्थान पर **नमो** अरहंताणं, **णमो** सिद्धाणं के स्थान पर **नमो** सिद्धाणं कहते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि णमोकार मंत्र प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध हुआ है, प्राकृत भाषा **णमो** शब्द का प्रयोग होता है, **नमो अथवा नमः** शब्द का नहीं। यदि णमोकार मंत्र को संस्कृत भाषा में बोले तो नमो अथवा नमः शब्द का प्रयोग होता है। वहाँ संस्कृत भाषा में नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः उपाध्यायेभ्यः, नमः

लोके सर्वसाधुभ्यः, इसप्रकार के शब्दों का प्रयोग होगा। जैसा कि - हिन्दी भाषा में पानी और गुजराती भाषा में पानी के स्थान पर पाणी शब्द का प्रयोग होता है। ऐसे ही संस्कृत भाषा में नमो अथवा नमः शब्दो का प्रयोग होता है और प्राकृत भाषा में णमो शब्द का प्रयोग होता है।

यह णमोकार मंत्र, नमस्कार मंत्र, नवकार मंत्र, महामंत्र, पंच परमेष्ठी मंत्र, अनादिनिधन मंत्र, अपराजित मंत्र, परम पवित्र मंत्र, सर्वोत्कृष्ट मंत्र आदि नामों से भी जाना जाता है।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठी में से अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हैं, अतः वे ही सच्चे देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु मोक्ष के मार्ग पर चलने वाले वीतरागी भावलिंगी गुरु हैं। पाँच परमेष्ठी में से एक मात्र सिद्ध परमेष्ठी मोक्ष में विराजमान हैं। अन्य चारों परमेष्ठी शरीर और कर्म सहित होने से संसारी हैं। सिद्ध भगवान अचल स्थित होने पर भी कर्मो से रहित होने के कारण मुक्त हैं, जबकि संसारी जीव चलायमान होने पर भी कर्मो से सहित होने के कारण बंधनयुक्त हैं।

केवलज्ञान प्रकट होने के बाद जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, तब तक उस आत्मा को अरिहंत भगवान कहते हैं। मोक्ष प्रकट होने के बाद परमात्मा को सिद्ध भगवान कहते हैं। मुनिसंघ में आदेश और उपदेश देने वाले आचार्य कहलाते हैं। मुनिसंघ में मात्र उपदेश देने वाले उपाध्याय होते हैं। समस्त आत्मानुभवी वीतरागी अपरिग्रही मुनि ही सच्चे भावलिंगी साधु होते हैं। जिस प्रकार विद्यालय में विद्यार्थी, शिक्षक और प्राचार्य होते हैं। उसी प्रकार आध्यात्मिक साधना महाविद्यालय में साधु, उपाध्याय और आचार्य होते हैं। इसप्रकार ये सभी पाँचों परमेष्ठी किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम नहीं हैं, बल्कि आत्मा की शुद्ध अवस्थायें हैं।

णमोकार मंत्र को किसी ने बनाया नहीं है, यह महामंत्र तो अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहने वाला मंत्र है। फिर भी भगवान श्री महावीर स्वामी के निर्वाण के करीब ५०० साल बाद और आज से लगभग २००० वर्ष

पहले जब शास्त्र लिखना प्रारम्भ हुआ, तब आचार्य श्री धरसेन जी के शिष्य मुनि श्री पुष्पदंत जी और मुनि श्री भूतबली जी ने **षट्खंडागम** शास्त्र में णमोकार मंत्र को प्राकृत भाषा में प्रथम बार लिपिबद्ध किया।

णमोकार मंत्र में **लोए** और **सव्व** शब्द **अंतदीपक** है। अंतदीपक शब्द का अर्थ यह है कि जिस शब्द का प्रयोग सबसे अंत में किया गया हो परन्तु उस शब्द का अर्थ उपर सर्वत्र घटित होता हो, तो उस शब्द को अंतदीपक कहते हैं। णमो लोए सव्व साहूणं में लोए अर्थात् लोक में और सव्व अर्थात् सर्व शब्द अंतदीपक होने से ऐसा भाव ग्रहण करना चाहिए कि णमो लोए सव्व अरहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। इसप्रकार णमोकार मंत्र में लोक में पाँचों परमेष्ठी को नमस्कार किया है।

२. णमोकार मंत्र की चुलिका

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं।।

अर्थ : यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है तथा सब मंगलों में पहला मंगल है।

जो जीव णमोकार महामंत्र का भाव सहित जाप-पाठ एवं चिन्तन-मनन करता है, उस जीव के समस्त पापों का नाश हो जाता है। आत्मा मोह-राग-द्वेष के मुक्त होकर वीतराग पद को प्राप्त करता है। अज्ञान से मुक्त होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

णमोकार मंत्र चिन्तन-मनन से समस्त पापों का नाश होता है, इस कथन का आशय यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों को समस्त पाप कहते हैं। जब कोई जीव णमोकार मंत्र का पाठ करता है, तब उस समय के लिये समस्त पापों से छूटता है। यदि

भूतकाल के समस्त पापों का नाश णमोकार मंत्र के जाप-पाठ करने से ही हो जाता तो, ज्ञानी पूर्वकृत समस्त कर्मो का नाश करने के लिये आत्मा का ज्ञान-ध्यान क्यों करते? आत्मसाधना क्यों करते? तात्पर्य यह है कि आत्मसाधना ही वास्तविक साधना है। आत्मोपलब्धि ही कर्मों से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है।

शास्त्रों में भी णमोकार मंत्र के सम्बन्ध में अनेक कथा आती है। एक कुत्ते को मरते वक्त णमोकार मंत्र सुनाया गया, तब वह कुत्ता भी अपने शुभ परिणामों के फल में स्वर्ग में गया और सुभौम चक्रवर्ती ने णमोकार मंत्र को पानी पर लिखकर, उस पर पैर रखा और णमोकार मंत्र का अपमान किया। वह सुभौम चक्रवर्ती मरकर सातवें नरक में गया। इसप्रकार णमोकार मंत्र से सम्बन्धित अनेक कथायें आगमों में लिखी गई है। सार यह है कि णमोकार मंत्र सर्व मंगलो में प्रथम मंगल है।

णमोकार मंत्र और णमोकार मंत्र की चुलिका में भेद नहीं जानने से कुछ लोग णमोकार मंत्र की चुलिका को भी णमोकार मंत्र में शामिल करके पाठ-जाप करते हैं। **णमोकार मंत्र में तो पाँच परमेष्ठी को नमस्कार किया है, जबकि णमोकार मंत्र की चुलिका में णमोकार मंत्र का फल एवं महिमा का निरुपण किया है। णमोकार मंत्र की चुलिका से भव्य जीवों को णमोकार मंत्र का जाप-पाठ आदि करने की प्रेरणा मिलती है।**

३. मंगलाचरण का स्वरूप एवं रहस्य

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म का विवेकपूर्वक निर्णय एवं निश्चय होने पर उनकेनिमित्त से सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। सात तत्त्वों के यथार्थ निर्णय से स्व-पर का भेदविज्ञान होता है। स्व-पर के भेदविज्ञान के बल से आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति होती है। आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति से सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है जिसके बल पर चारित्र रुपी वृक्ष टिकता है जो कि मोक्षरुपी फल का दाता है। अतः मोक्षार्थी जीवों को सर्वप्रथम वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म का स्वरुप अवश्य जानना चाहिए। वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म का स्वरुप समझकर प्रतिक्षण चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होना ही जैनधर्म रहस्य का अध्ययन करने का वास्तविक फल है।

किसी व्यक्ति को मिलते समय, खत लिखते समय या व्यवहार में अभिवादन के रुप में जय जिनेन्द्र बोलकर हम उस व्यक्ति को सम्मान नहीं देते, जिसके सामने जय जिनेन्द्र बोलते हैं। हम तो वीतरागी परमात्मा का आदर करते हैं कि **हे जिनेन्द्र भगवान! सांसारिकजनों के संयोग में भी हमें आपका विस्मरण नहीं होता।** क्या आपको जय जिनेन्द्र बोलते समय हर बार जिनेन्द्र भगवान का स्मरण होता है? जय जिनेन्द्र ऐसा अभिवादन मात्र यंत्रवत् नहीं, बल्कि भावभासन सहित बोलना चाहिए।

जैनधर्म में वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित जिनागम की रचना के पूर्व मंगलाचरण करने की परम्परा रही है। वीतरागता को प्राप्त शुद्धात्मा को नमस्कार करके जिनागम के प्रारम्भ में मंगलाचरण करने से परिणामों में कषायों की मंदता होती है, कषायों की मंदता से ग्रंथ की रचना सफलतापूर्वक सम्पन्न होती है। अतः यहाँ प्रारम्भ में ही णमोकार मंत्र का पाठ करके इस ग्रंथ की रचना करते हैं।

४. ॐ का स्वरूप एवं महिमा

ॐकार बिन्दु संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः ।।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि सिद्धशिला पर विराजमान सिद्ध भगवान का सूचक बिन्दु सहित ॐकार का मुनियों के द्वारा प्रतिदिन ध्यान किया जाता है। ॐ कार का ध्यान सांसारिक सुख और मोक्ष के सुख को देने वाला है। ऐसे ॐ कार को मैं भाव सहित नमन करता हूँ।

ॐ कार ध्वनि की जैनदर्शन में सबसे बडी विशेषता यह है कि भगवान महावीर आदि समस्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनी ॐ कार नाद में ही छूटती थी। तीर्थंकर भगवान का उपदेश मुँह से नहीं निकलता, बल्कि शरीर के प्रत्येक भाग में से ॐ.... ॐ.... ॐ.... ऐसी दिव्यध्वनि खिरती थी। यह निरक्षरी वाणी जब श्रोता के कान के साथ टकराती थी, तब सहज ही भाषा में रुपांतरित हो जाती थी। ॐ ध्वनी १८ महाभाषा और ७०० लधुभाषाओं में मनुष्य सुनते थे। मनुष्य के अलावा स्वर्ग के देव और संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु भी अपनी-अपनी भाषा में भगवान की ॐ कार ध्वनी को समझ जाते थे।

पाँच परमेष्ठी में अरिहंत भगवान का अ, अशरीरी सिद्ध भगवान का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनिराज साधु का म, इसप्रकार पाँचो परमेष्ठी के पहले अक्षर को मिलाने पर अ+अ+आ+उ+म = औम ध्वनि की रचना होती है।

मात्र जैनधर्म में ही नहीं, जगत के अन्य धर्मों में भी आमीन शब्द का प्रयोग किया जाता है। माना जाता है कि वह आमीन शब्द भी ॐ का ही रुपांतरण है। इसप्रकार ॐकार ध्वनि ही समस्त जिनागम का मूल है।

५. मांगलिक स्वरूप एवं रहस्य

चत्तारि मंगलं अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहू सरणं पवज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

अब, मांगलिक के अर्थ एवं रहस्य पर विचार करते हैं।

चत्तारि मंगलं अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

अर्थ : चार मंगल हैं। अरिहंत मंगल हैं। सिद्ध मंगल हैं। साधु मंगल हैं। केवली प्ररुपित धर्म मंगल है।

मगि धातु में अलच् प्रत्यय जोडने पर मंगल शब्द बनता है। मंगल शब्द के दो अर्थ होते हैं। **मं+गल=पाप को+गालने वाला और मंग+ल=सुख को+लाने वाला। आशय यह है कि जो पाप को गाले और सुख को प्रकट कराता है, उसे मंगल कहते हैं।**

अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्ररुपित धर्म स्वयं मंगलमय है और उनकी भक्ति, आराधना करने वालें जीवों का भी मंगल ही होता है। यहाँ किसी धर्म विशेष के नाम का उल्लेख नहीं करके, यहाँ तक कि जैन धर्म ऐसा भी नही कहकर केवली प्ररुपित धर्म कहा है। अतः वीतरागी और सर्वज्ञ प्ररुपित धर्म को किसी निश्चित सीमा में सीमित नहीं मान लेना चाहिए।

आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी को गुरु कहते हैं। मांगलिक में अरहंत, सिद्ध एवं साधु परमेष्ठी को मंगल कहा है, परन्तु आचार्य एवं उपाध्याय परमेष्ठी का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि साधु शब्द में आचार्य एवं उपाध्याय पद गर्भित है, तदपि महत्वपूर्ण एवं जानने योग्य कारण तो

यह है कि **आचार्य एवं उपाध्याय पद मोक्ष प्राप्ति के अनिवार्य पद नहीं है।** अतः साधु पुरुष आचार्य और उपाध्याय पद के लोलुपी नहीं होते हैं। वास्तव में साधक का साध्य तो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही है, अतः वे किसी भी पर्याय की ओर द्रष्टि नहीं करते हैं।

चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

अर्थ : लोक में चार उत्तम हैं। लोक में अरिहंत उत्तम हैं। लोक में सिद्ध उत्तम हैं। लोक में साधु उत्तम हैं। लोक में केवली प्ररुपित धर्म उत्तम है।

यहाँ अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा और साहू लोगुत्तमा कहा है, परन्तु केवलिपण्णत्तो धम्मो **लोगुत्तमो** कहा है। रहस्य यह है कि अरिहंत परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी अनेक होने से बहुवचन सूचक **लोगुत्तमा** शब्द का प्रयोग किया गया है। जबकि केवलि प्ररुपित धर्म एक ही है, अतः एकवचन सूचक **लोगुत्तमो** शब्द का प्रयोग किया गया है।

जैसे छाछ में श्रेष्ठ मक्खन है। ऐसे ही इस लोक में अरिहंतादिक उत्तम है, श्रेष्ठ है। जैसे छाछ को वलोने पर मक्खन उपर आ जाता है, ऐसे ही साधक जीव को ही पुरुषार्थ के बल पर अरिहंतादिक का सर्वोत्कृष्टपना समझ में आ सकता है।

चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहू सरणं पवज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

अर्थ : मैं चारों की शरण में पहुंचता हूँ। मैं अरिहंत की शरण में पहुंचता हूँ। मैं सिद्ध की शरण में पहुंचता हूँ। मैं साधु की शरण में पहुंचता हूँ। मैं केवली प्ररुपित धर्म की शरण में पहुंचता हूँ।

व्यवहार से अरहंतादिक शरण हैं और निश्चय से एक मात्र निज शुद्धात्मा ही शरण है। ज्ञानियों को निश्चय के साथ व्यवहार होता है, अतः यहाँ अरहंतादिक की शरण तक पहुंचने की भावना जताई गई है।

यहाँ चारों मंगल और उत्तम की शरण में जाने की नहीं, बल्कि

पहुंचने की भावना जताई है। इसके सम्बन्ध में ज्ञान से ज्ञायक कृति के पृष्ठ ७८ पर विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार किया है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि ज्ञान से ज्ञायक तक जाना, साधक का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, बल्कि ज्ञान से ज्ञायक तक पहुंचना साधक का लक्ष्य होता है। **बुद्धं शरणं गच्छामि एवं अरहंते सरणं पवज्जामि**, इन दोनों कथनों में बहुत बडा अन्तर है। पहला कथन यह भावना व्यक्त करता है कि मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ और दूसरें कथन का आशय यह है कि मैं अरिहंत की शरण तक पहुंचता हूँ। **जाने और पहुंचने में अन्तर हैं।** जो व्यक्ति लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जाता है, वह रास्ते में ही बैठा रह सकता है, रास्ते से ही वापिस लौट सकता है, रास्ते पर चलते-चलते किसी दूसरें रास्ते पर भी जा सकता है। अतः यह जरुरी नहीं है कि जाने वालें को लक्ष्य की प्राप्ति होगी ही होगी। परन्तु जो व्यक्ति लक्ष्य तक पहुंच जाता है, उसे तो निश्चितरुप से लक्ष्य की प्राप्ति हो चुकी है। **यही रहस्य है कि साधक को ज्ञान से ज्ञायक तक जाना नहीं है, बल्कि ज्ञान से ज्ञायक तक पहुंचना है।**

६. णमोकार मंत्र एवं मांगलिक पाठ कहाँ और कब?

णमोकार मंत्र का पाठ नव बार किया जाता है क्योंकि पाप और पुण्य का बन्ध नव प्रकार से होता है। १. मन से करना, २. वचन से करना, ३. काया से करना, ४. मन से कराना, ५. वचन से कराना, ६. काया से कराना, ७. मन से अनुमोदना, ८. वचन से अनुमोदना, ९. काया से अनुमोदना। णमोकार मंत्र का पाठ करके सर्वप्रथम जीव को नव प्रकार के पाप से छूटकर नव प्रकार के पुण्य कार्य में प्रवर्तना चाहिए। तत्पश्चात् चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पाप और पुण्य दोनों कर्मों से छूटकर ही आत्मा पूर्ण वीतराग पद को प्राप्त होता है।

आत्मा साधक है, मोक्ष साध्य है और प्राथमिक भूमिका में णमोकार मंत्र का पाठ करना साधन है। आत्मा एक और सर्वोत्कृष्ट है, मोक्ष एक और सर्वोत्कृष्ट है और णमोकार एक और सर्वोत्कृष्ट है। 9 संख्या भी एक अंक वाली संख्या में सर्वोत्कृष्ट संख्या है।

आत्मा, मोक्ष और णमोकार मंत्र का अस्तित्व अनादि-अनन्त होने से ये तीनों ही अखण्ड है। 9 की संख्या भी अखण्ड है क्योंकि 9 को किसी भी संख्या से गुना करने पर 9 की संख्या ही आती है। जैसे कि - 9x1=9, 9x2=18 = 1+8 = 9, 9x3=27 = 2+7 = 9, 9x4=36 = 3+6 = 9, 9x5=45 = 4+5 = 9, 9x6=54 = 5+4 = 9, 9x7=63 = 6+3 = 9, 9x8=72 = 7+2 = 9, 9x9=81 = 8+1 = 9। इसप्रकार 9 अखण्ड संख्या होने से णमोकार मंत्र का पाठ नव बार किया जाता है।

मांगलिक के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न खडे होते हैं, जैसा कि मुर्दे को मांगलिक सुनाना चाहिए या नहीं? कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मुर्दे के पास णमोकार मंत्र और मांगलिक सुनाने से अपशुकन होता है, इसलिये मुर्दे के पास मांगलिक नहीं सुनाना चाहिए। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मुर्दे

को णमोकार मंत्र और मांगलिक सुनाने से मरने वाले के आत्मा को शान्ति मिलती है। ऐसी चित्र-विचित्र कल्पना करके लोग भ्रान्ति में ही रहते हैं, वास्तव में वे णमोकार मंत्र और मांगलिक के पाठ करने का प्रयोजन नहीं जानते हैं। मरण के बाद ही नहीं, मरण के पहिले, मरण समय पर मरने वाले के पास भी णमोकार मंत्र और मांगलिक का पाठ किया जाता है, तब आत्मा के परिणामों की विशुद्धि प्रकट होने का ही प्रयोजन होता है।

कभी-कभी तो ऐसा होता है कि मरने वाले व्यक्ति का उस पाठ पर लक्ष्य भी नहीं जाता हो, परन्तु उपस्थित परिवारजनों को जाप-पाठ-प्रवचन श्रवण से लाभ होने की सम्भावना है। ऐसे उत्कृष्ट मंत्रो का पाठ करने से वहाँ उपस्थित जीवों के परिणामों में विशुद्धि होती है, यदि मांगलिक का पाठ करने से लोगों के परिणाम बिगडते हो, विवाद होता हो, तो भी पाठ करना ही है, ऐसा आग्रह न रखकर अपने परिणामों पर विशेष विचार करना चाहिए।

७. देव का स्वरूप एवं रहस्य

पाँच परमेष्ठी में से आदि के दो परमेष्ठी देव हैं, अन्तिम तीन परमेष्ठी गुरु हैं। **जो पूर्ण वीतरागी एवं सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें सच्चे देव कहते हैं, वे ही पूज्य देव हैं।** जो राग-द्वेष एवं बाह्य परिग्रह सहित हो, वे सच्चे देव नहीं हैं, अतः वे पूज्य भी नहीं हैं।

जब-जब देव एवं गुरु की चर्चा चलती है, तब-तब धरणेन्द्र आदि देवगति के देवों को और क्षेत्रपाल आदि काल्पनिक देवों को ही देव एवं बाह्य परिग्रहधारी साधु को गुरु मान लिया जाता है। पंच परमेष्ठी के प्रकरण में पूर्ण वीतरागी अरिहंत एवं सिद्ध परमेष्ठी ही सच्चे देव हैं। सच्चे देव हमारे आदर्श हैं, क्योंकि हम भी उनके समान पूर्ण वीतरागी होना चाहते हैं। कुछ रागी देव भगवान के भक्त भी होते हैं, परन्तु याद रहे, **भगवान पूज्य होते हैं, भगवान के भक्त नहीं।**

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि भगवान तो एक ही होते हैं, किसी भी भगवान को नमस्कार करो। बस, आपके भाव अच्छे होने चाहिए। वहाँ यह अवश्य जानना चाहिए कि **भगवान स्वरुप की अपेक्षा से एक है, परंतु संख्या की अपेक्षा से अनंत है। जैनधर्म में भगवान को एक नहीं कहा है, बल्कि एक समान कहा है।** एक समान कहने का आशय यह है कि अरिहंत और सिद्ध सभी देव वीतरागी होते हैं अर्थात् एक समान पूर्ण वीतरागी होते हैं।

संख्या के बल पर वीतरागी देव एवं रागी देव या सत्य एवं असत्य या धर्म एवं अधर्म का निर्णय नहीं करना चाहिए। जैसा कि विश्व में मांसाहारी अधिक हैं एवं शाकाहारी अल्प हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि मांसाहार करना धर्म हैं एवं शाकाहार करना अधर्म हैं। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि विवेकपूर्वक सत्य का निर्णय करके विनय करने पर ही सच्चे देव की भक्ति का वास्तविक फल मिलता है, आत्मा राग से मुक्त होकर वीतरागी होता है।

८. अरिहंत भगवान को सिद्ध भगवान से पहिले नमस्कार

सिद्ध भगवान अशरीरी हैं, वे लोक के अग्रभाग पर ही विराजमान होते हैं। अशरीरी सिद्ध भगवान के माध्यम से धर्मोपदेश की प्राप्ति असम्भव है। अरिहंत भगवान ने ही इस लोक में सिद्ध भगवान की सत्ता बताई है। **अरिहंत भगवान को माता और सिद्ध भगवान को पिता की उपमा दी गई है।** प्रत्येक व्यक्ति ऐसा कह सकता है कि मेरे दो पिता है, एक तो वह जिन्होंने मुझे इस भव में जन्म दिया और दुसरे वे सिद्ध भगवान, जो संसार से मुक्त होकर सिद्ध हुए और मैं निगोद में से बाहर निकला। इसलिये सिद्ध भगवान को पिता की उपमा दी जाती है। पिता की पहिचान कराने वाली माता होती है। **अरिहंत भगवानरुपी माता ने दिव्यध्वनि के माध्यम से सिद्ध भगवानरुपी पिता सहित सारे जगत के यथार्थ स्वरुप से हमें अवगत कराया**

हैं, अतः णमोकार मंत्र में अरिहंत भगवान को प्रथम नमस्कार किया है। लोक में भी माता-पिता कहकर माता को पिता से पहिले याद किया जाता है। कोई भी व्यक्ति पिता-माता ऐसा नहीं कहता है।

प्रत्येक जीव सुखी होना चाहता है, अरिहंत भगवान अनन्त काल तक टिककर रहने वाले अनन्त सुख को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं। यद्यपि प्रत्येक परमात्मा वीतरागी और सर्वज्ञ तो होते ही हैं, परन्तु अरिहंत भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ के साथ-साथ हितोपदेशी भी होते हैं, सिद्ध भगवान हितोपदेशी नहीं होते हैं। इसलिये अरिहंत भगवान का उपकार सर्वोपरि है। अरिहंत भगवान की शान्त मुद्रा देखकर वीतरागता का चिन्तन-मनन कर सकते हैं।

कोई भी जीव केवलज्ञान होने से पहिले इन्द्रियज्ञान के माध्यम से अशरीरी सिद्ध परमात्मा को देख नहीं सकता है, परन्तु शरीर सहित होने से अरिहंत भगवान इन्द्रियज्ञान के विषय हो सकते हैं। नमस्कार, वन्दन, पूजा, भक्ति आदि शुभभाव केवलज्ञान होने से पहिले ही होते हैं, अतः परोक्षज्ञानी को सिद्ध भगवान की अपेक्षा अरिहंत भगवान से विशेष निकटपना है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञानी पहिले अरिहंत होते हैं, तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, इसलिये अरिहंत परमेष्ठी को पहिले और सिद्ध परमेष्ठी को बाद में नमस्कार किया है। वास्तव में उनका मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानी अरिहंत होने से पहिले साधु होते हैं, परन्तु उन्हें प्रथम नमस्कार नहीं किया है। साधु होने से पहिले सम्यग्द्रष्टी होते हैं, परन्तु अविरत सम्यग्द्रष्टियों को तो णमोकार मंत्र में नमस्कार ही नहीं किया है। सार यह है कि पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरिहंत भगवान प्रथम क्रम पर पूजनीय हैं।

९. वीतरागता का स्वरूप

जिस आत्मा में से राग, द्वेष और मोह के भाव बीत गये हो, उन्हें वीतरागी कहते हैं। वीतरागता का वास्तविक स्वरुप समझने के लिये सर्वप्रथम सरागी, वीतरागी, अरागी इन तीनों शब्दों के रहस्य को समझ लेना चाहिए। वर्तमान में राग सहित आत्मा को सरागी कहते हैं। जिस आत्मा में भूतकाल में राग हो, परन्तु वर्तमान में राग न हो, उसे वीतरागी है। जिस आत्मा में भूतकाल में, वर्तमान में और भविष्य में राग न हो, अर्थात् राग से रहित त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मा अरागी है। अरागी आत्मा को अस्ति की अपेक्षा ज्ञायक कहते हैं। **ज्ञायक के आश्रय से सराग अवस्था का व्यय और वीतराग अवस्था प्रकट होती है।**

पूर्ण वीतरागी अरिहंत और सिद्ध भगवान को रंच मात्र भी करुणा नहीं होती है। क्योंकि करुणा का भाव राग का भाव है। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि करुणाभाव (करुणा+भाव) के बिना धर्म समझ में भी नहीं आता। फिर भी परम सत्य तो यह है कि करुणा का अभाव हुए बिना पूर्ण वीतराग धर्म प्रकट नहीं हो सकता। जहाँ भी वीतरागी भगवान को करुणाभाव वाले कहे तो उस शब्द का आशय करुणा+अभाव=करुणाभाव समझना चाहिए। प्रेम और करुणा राग के ही सूचक है, ये भाव कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होने वाले औदयिक भाव हैं, प्रेम और करुणा पर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, इसलिये परभाव हैं। वीतरागभाव ही स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होने वाला जीव का शुद्धभाव है।

यद्यपि परमात्मा वीतरागी, वीतद्वेषी और वीतमोही है, फिर भी परमात्मा को मात्र वीतरागी कहते हैं। **यह नियम है कि जो जीव वीतरागी होता है, वह वीतमोही और वीतद्वेषी तो होता ही होता है।** मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम मोह, तत्पश्चात् द्वेष और अन्त में राग का नाश होता है, इसलिये अरिहंत एवं सिद्ध भगवान को पूर्ण वीतरागी कहते हैं।

१०. सर्वज्ञता का स्वरूप

सर्व अर्थात् सारा जगत और ज्ञ अर्थात् जानने वाले। जो वीतरागी भगवान सारे जगत को जानते हैं, वे ही सर्वज्ञ होते हैं। सर्वज्ञ का ही दूसरा नाम केवलज्ञानी है। केवलज्ञान की प्रत्येक पर्याय जगत के समस्त द्रव्यों को, उनके समस्त गुणों को और उनकी समस्त पर्यायों को एक समय में एक साथ स्पष्ट जानती है।

श्री धर्मभूषण जी यति ने न्यायदीपिका में सामान्य सर्वज्ञसिद्धि और विशेष सर्वज्ञसिद्धि की है। सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि में सर्वज्ञ की सत्ता की सिद्धि और विशेष सर्वज्ञ सिद्धि में वीतरागी ही सर्वज्ञ होते हैं, यह सिद्ध किया है। आचार्य श्री समन्तभद्र जी ने देवागम स्तोत्र अपरनाम आप्तमीमांसा में भी सर्वज्ञ की सिद्धि की हैं।

श्री महावीर भगवान की केवलज्ञान की पहले समय की पर्याय में सारा जगत जानने में आता हैं। दुसरे समय की पर्याय में भी सारा जगत जानने में आता है, तीसरे समय की पर्याय में भी सारा जगत जानने में आता है। इसप्रकार श्री महावीर भगवान की केवलज्ञान की अनन्त पर्याय में जगत के अनन्तानन्त ज्ञेय जानने में आते हैं। इसीप्रकार श्री पार्श्वनाथ भगवान की केवलज्ञान की अनन्त पर्याय में अनन्तानन्त ज्ञेय जानने में आते हैं। सूक्ष्म बात तो यह है कि केवलज्ञान की एक पर्याय में अनन्त केवलज्ञानियों की केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्यायें एवं उन समस्त पर्यायों में जानने में आने वाले लोकालोक के अनन्त द्रव्य, उनके अनन्तानन्त गुण एवं उनकी पर्यायें एक साथ जानने में आती हैं।

लोक जगत में ऐसा कहा जाता है कि पाप मत करो क्योंकि उपर वाला देखता है, वहाँ तो देखने वाला एक ही देखता है, ऐसा कहा है। उपर वाला एक देख रहा है, यह जानकर वे पाप से बचने का उपाय करते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि उपर वाला एक नहीं है, अनन्त सिद्ध लोकाग्र

विराजमान हैं, वे जान रहे हैं, देख रहे हैं। किसी एक देखने वाले के कारण हम पाप से बचने के लिये इतनी सावधानी रखते हैं, तो जरा सोचिए! अनन्त देखने वाले हैं, यह जानकर कितनी सावधानी वर्तनी चाहिए।

सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करते हुए क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव में इसप्रकार लिखा है।

जिस जीव को सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं होती है, उस जीव को जीवादि सात तत्त्व की श्रद्धा भी नहीं होती, स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं होता, इनके बिना कदापि सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हो सकता। सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है, इस संबंध में अपना पक्ष देते हुए एक अज्ञानी ने कहा कि जगत में सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती। मैंने उसे पूछा कि तुमने सर्वज्ञ को कहाँ खोजा? वह बोला, मैंने मात्र हिन्दुस्तान में ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया में सर्वत्र घुमकर देखा, फिर मुझे कहीं भी सर्वज्ञ नहीं मिले, इसलिये मैं मानता हूँ कि इस जगत में सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है। फिर मैंने उसे पूछा कि क्या तुमने महाविदेहक्षेत्र में जाकर देखा? वहाँ श्री सीमंधरस्वामी वर्तमान में भी विद्यमान है, तो उसने ऐसे ही कह दिया कि मैंने वहाँ जाकर भी देखा, परन्तु वहाँ भी सर्वज्ञ नहीं है। फिर मैंने कहा, तुमने सिद्धशिला पर जाकर देखा? वहाँ अनंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं। तब वह बोला, मैंने अधोलोक में देखा, मध्यलोक में देखा और उर्ध्वलोक में देखा, यहाँ तक कि अलोकाकाश में भी देखा, सारे जगत में जाकर जाना-देखा, लेकिन मुझे कहीं पर भी सर्वज्ञ नहीं मिले, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है।

मैंने उसे कहा कि तुमने लोकालोक को जाना, सारे जगत को जाना, इसका अर्थ तो यह हुआ कि तुम स्वयं ही सर्वज्ञ हो, तुम्हारे अपने वचनों से ही सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध हो गई। इसके बावजूद भी उसने दलील करना जारी रखा और कहा कि मैंने ९९ प्रतिशत जगत ही देखा है, १०० प्रतिशत नहीं, इसलिये मैं कहता हूँ कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है। मैंने उसे कहा कि तुमने जिस ९९ प्रतिशत जगत को देखा है, उसमें कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है और जिस एक प्रतिशत जगत नहीं देखा, वहीं पर सर्वज्ञ है।

अल्पज्ञ अवस्था में सर्वज्ञ की सिद्धि स्वयं को अल्पज्ञ जाने बिना नहीं हो सकती। सर्वज्ञ की यथार्थ द्रढ श्रद्धा हुए बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारुप मोक्षमार्ग प्रकट नहीं हो सकता।

आज के आधुनिक युग में सर्वज्ञता का स्वरुप समझना आसान हो गया है। पहिले लोगों को भरोसा नहीं होता था कि कपडे उतारे बिना ही एक्स-रे में हमारे शरीर की फोटो निकाली जा सकती है, परन्तु आज के युग में ऐसी फोटो निकालना बहुत ही आसान हो गया। जब अज्ञानी भी इन्द्रियज्ञान से इतनी खोज कर सकते हैं, तो सर्वज्ञ भगवान लोकलोक को जानते हो, इसमें क्या आश्चर्य है?

आज के आधुनिक युग में कोई व्यक्ति अपने मोबाईल से हमारी फोटो निकाले तो हमें पता भी नहीं चले, ऐसा हो सकता है। इसीप्रकार केवली भगवान केवलज्ञान में हमें जानते हैं, परन्तु अज्ञानियों को इस बात का पता ही नहीं चलता कि केवलज्ञान में उनकी फोटो निकाली जा रही है, अरे! फोटो ही क्यों? केवलज्ञान में तो विडियो रेकोर्डिंग हो रही है, **वास्तव में लोकालोक का त्रिकालवर्ती विडियो तो अनादि से रेकोर्डेड ही है, समय आने पर हमें इस जगत में अपने-अपने ज्ञान अनुसार द्रश्य दिखाई देते हैं।**

११. हितोपदेश का स्वरूप

जो वीतरागी होते हैं, वे ही सर्वज्ञ होते हैं। उसीप्रकार जो वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं, वे ही हितोपदेशी होते हैं। अच्छेपने के कारण नहीं, बल्कि सच्चेपने के कारण अरिहंत भगवान के उपदेश को हित का उपदेश कहते हैं।

अहित होने का उपदेश दो कारणों से दिया जा सकता है। पहिला रागादिभाव और दूसरा ज्ञान का अभाव। परन्तु अरिहंत भगवान में ये दोनों ही कारण नहीं होते हैं, इसलिये अरिहंत भगवान ही हितोपदेशी होते हैं।

अरिहंत भगवान करुणा के कारण उपदेश नहीं देते हैं, बल्कि भव्य जीवों के पुण्योदय से भव्य जीवों को सहज ही भगवान की दिव्यध्वनि सुनने को मिलती है। उपदेश देने का भाव विकल्प है, रागादिभावों का एक समय का प्रकट स्वरुप विकल्प है। अरिहंत भगवान पूर्ण निर्विकल्प होते हैं। जब उपदेश देने का राग भी छूट जाता है, यहाँ तक कि मोक्ष का भी राग छूट जाता है, तब वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट होती है, तब ही अरिहंत भगवान हितोपदेशी होते हैं।

जो व्यक्ति जिस मार्ग पर चलकर लक्ष्य को पाकर उस मार्ग का निरुपण करता हो, सुनने वाले लोगों को उस मार्ग पर अधिक भरोसा होता है। इसलिये पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति के मार्ग पर चलकर अरिहंत पद को पाने वाले अरिहंत भगवान का उपदेश भव्य जीवों के लिये सर्वाधिक प्रामाणिक है।

१२. तीर्थंकर भगवान का स्वरूप

तीर्थ की स्थापना करने वाले जीव को तीर्थंकर कहते हैं। तत्त्वज्ञान ही वास्तविक तीर्थ है, तीर्थंकर तत्त्वज्ञान के उपदेश के माध्यम से भव्यजीवों को मोक्षमार्ग बताते हैं। तीर्थंकर और भगवान में भेद समझना चाहिए। **सभी तीर्थंकर भगवान होते हैं, परन्तु सभी भगवान तीर्थंकर नहीं होते हैं।** जैसा कि सभी खासदार (मेम्बर ऑफ पार्लामेन्ट) भारत के नागरिक होते हैं, परन्तु भारत के सभी नागरिक खासदार नहीं होते हैं। श्री ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर तक सभी तीर्थंकर भगवान थे, परन्तु श्री भरत जी, श्री बाहुबली जी, श्री राम जी आदि भगवान ही थे, तीर्थंकर नहीं।

जिसप्रकार एक दिन में चौबीस घण्टे होते हैं, उसीप्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर ही होते हैं। तीर्थंकर भगवान की संख्या करणानुयोग का विषय है, करणानुयोग के विषय को आगम प्रमाण से ही स्वीकार करना होता है।

४५ लाख योजन विस्तार वाली सिद्धशिला पर स्थित होने से पहिले श्री तीर्थंकर अरिहंत भगवान मुख्य ४६ गुण सहित होते हैं। तीर्थंकर भगवान के ४६ गुणों को जानकर, निज भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों की महिमा जानकर, स्वयं को अनन्त शक्ति संपन्न परिपूर्ण परमात्मा मानकर ४८ मिनिट से भी अल्प (अंतर्मुहूर्त) तक आत्मध्यान करने पर ४८ मिनिट से पहिले ही अंतर्मुहूर्त काल में अरिहंत पद की प्राप्ति होती है।

तीर्थंकर अरिहंत भगवान ४६ गुणों में से अंतरंग में अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य) एवं बाह्य में ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्य होते हैं। ३४ अतिशयों में से दश अतिशय जन्म से, दश अतिशय केवलज्ञान प्रकट होने पर और चौदह अतिशय देवकृत होते हैं। वे अतिशय इसप्रकार हैं।

जन्म से दस अतिशय : १. मल-मूत्र का अभाव, २. पसीने का अभाव, ३. सफेद खून, ४. समचतुरस्त्रसंस्थान, ५. वज्रऋषभ नाराच संहनन, ६. अद्भूत रुप, ७. अति सुगंधित शरीर, ८. १००८ उत्तम लक्षण, ९. अतुल बल, १०. प्रिय वचन।

केवलज्ञान प्रकट होने पर दस अतिशय : १. उपसर्ग का अभाव, २. अदया का अभाव, ३. छाया रहित शरीर, ४. चार मुख दिखाई देना ५. समस्त विद्या का स्वामीपना, ६. आँख की पलक न झुकना, ७. सौ योजन तक सुभिक्षता रहना, ८. आकाशगमन (पृथ्वी से बीस हजार हाथ उपर) ९. कवलाहार का अभाव, १०. नख-केश का न बढना।

देवकृत चौदह अतिशय : १. सकल अर्धमागधी भाषा, २. सर्वजीवों में मैत्रीभाव, ३. सर्व ऋतुओं के फल-फूल उगना, ४. दर्पण के समान भूमि, ५. कंटक रहित भूमि, ६. मंद सुगंध पवन, ७. सर्व आनन्द, ८. गंधोदकवृष्टि, ९. पैर के नीचे कमल की रचना, १०. सर्व धान्य उगना ११. दशों दिशा निर्मल, १२. आकाश में देवों के आह्वान शब्दों तथा जय-जय ध्वनि, १३. आगे-आगे धर्मचक्र चलना, १४. आठ मंगल द्रव्यों का आगे-आगे चलना।

इन चौंतीस अतिशयों के अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान के आठ प्रातिहार्य होते हैं। १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामंडल, ७. दुन्दुभि, ८. तीन छत्र।

जिसप्रकार किसी एक कक्षा में एक शिक्षक ही होते हैं, उसप्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्र में एक काल में एक ही तीर्थंकर होते हैं। **तीर्थंकर भगवान में दो शब्द हैं। उनमें पहिला तीर्थंकर शब्द पुण्य के उदय को और दूसरा भगवान शब्द आत्मा की पवित्रता को सूचित करता है।** अज्ञानी को पुण्य में रुचि होने से उसे भगवान से अधिक महिमा तीर्थंकर की होती है। जैसे अविरत सम्यग्द्रष्टी में अविरत शब्द दोष का सूचक है और सम्यग्द्रष्टी शब्द गुण का सूचक है। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले भावलिंगी साधु में छठ्ठा गुणस्थान दोष का और सातवां गुणस्थान गुण का सूचक है, इसीप्रकार तीर्थंकर पद कर्मोदयरुप संसार अवस्था का और भगवान पद वीतरागता और सर्वज्ञता का सूचक है।

तीर्थंकर के जीव जन्म से सम्यग्द्रष्टी होने के साथ-साथ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान सहित होते हैं। तीर्थंकर के जीव देवगति या नरकगति में से ही मनुष्यगति में जन्म लेते हैं, मनुष्यगति या तिर्यंचगति से नहीं।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध तीर्थंकर के तीसरे भव में या उसी भव में क्षायिक सम्यग्द्रष्टी जीव को ही होता है। षोडसकारण भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। कोई भी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं करते। **ज्ञानी कदापि बन्धन को सुखरुप नहीं मानते। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण जब शुभभाव आता है, तब सहज ही पुण्य का बन्ध हो जाता है।** तीर्थंकर के जीव को पूर्व भव में धर्म की प्रभावना करने की उत्कृष्ट भावना होने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। भूतकाल में ऐसी भावना थी कि सभी जीव वीतराग धर्म को प्रकट करे। गाय, भेंस, कुत्ता, बिल्ली आदि प्राणी भी वीतराग धर्म को प्रकट करे परन्तु सभी भाषाओं का ज्ञान नहीं होने से उपदेश देना सम्भव नहीं था। उस समय उनकी भावना अतिशय प्रबल थी, अतः तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ और जब उस प्रकृति का उदय आया तब समवसरण में मनुष्य, देव और गाय, भेंस, आदि प्राणी भी तीर्थंकर भगवान की वाणी सुनने को मिली। पूर्व भव की धर्मोपदेश की भावना तीर्थंकर के भव में फलित हुई।

तीर्थंकर प्रकृति भी बंधनरुप ही है, स्वयं की मुक्ति में बाधक ही है। जब कोई दो व्यक्ति किसी दुकान पर सौ रुपये की वस्तु खरीदने जाते हैं, तब दुकानदार एक ग्राहक को वस्तु देता है और दुसरे ग्राहक को तीस मिनट तक इंतज़ार कराता है। हमें पहिले व्यक्ति की महिमा अधिक आती है, जिसे इंतज़ार नहीं करना पडा। उसीप्रकार तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली दोनों ही केवली पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होने पर भी तीर्थंकर भगवान का तात्कालिक मोक्ष नहीं होता है, जबकि उपदेश नहीं देने वाले सामान्य केवली शीघ्र ही मुक्ति पाते हैं। सामान्य केवली को शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु उनका पुण्योदय तीर्थंकर जैसा प्रबल नहीं होने से सामान्य केवली की अधिक ख्याति नहीं होती है।

जिनका तीर्थंकर नामकर्म का उदय होता है, उनका यश:कीर्ति नामकर्म का उदय भी अतिशय होता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि समवसरणादि वैभव होने के कारण तीर्थंकरों की प्रसिद्धि होती है, परन्तु समवसरणादि वैभव और प्रसिद्धि होना भिन्न-भिन्न कर्मों के उदय है। पुण्योदय की प्रबलता के कारण तीर्थंकर को बाह्य में अनेक विशेषतायें देखी जाती है।

वास्तव में **जैनधर्म बनियों का धर्म नहीं है, चौबीसों तीर्थंकर जन्म से क्षत्रिय थे और भगवान महावीर के ग्यारह गणधर ब्राह्मण थे। इसलिये कुलपरम्परा के कारण ही धर्म और धर्मी की पहिचान न करके परिणति की निर्मलता को लक्ष्य में रखना चाहिए।** कितना दया-दानादि करने से कितने पुण्य का बन्ध होगा? ऐसे हिसाब लगाने वाले लोगों के लिये धर्म नहीं है। **यह धर्म तो शूरवीरों का धर्म है।** पहिले के जमाने में क्षत्रिय जब युद्ध के मैदान में लडाई लडने जाते थे, तब युद्ध के मैदान में जाते समय परिवारजनों की सुरक्षा का विचार नहीं करते थे। वे ऐसा नहीं सोचते थे कि मैं नहीं रहा तो मेरी पत्नी और बच्चे का ध्यान कौन रखेगा? शूरवीर पीछे मुडकर नहीं देखते। ऐसे ही जब शूरवीर क्षत्रिय मुनिदीक्षा अंगीकार करते हैं, तब ऐसा नहीं सोचते हैं कि दीक्षा के पश्चात् परिवारजनों का क्या होगा? वीतरागभाव और अपूर्व पुरुषार्थ के बल पर वे संयम के पथ पर चलने लगते हैं।

१३. श्री महावीर भगवान प्ररुपित जिनशासन

कुंडलपुर में जन्म लेने वाले भगवान महावीर नहीं थे, बल्कि बालक वर्धमान थे। **भगवान जन्मते नहीं, बल्कि आत्मा के पुरुषार्थ के बल पर भगवान बनते हैं।** वीर, अतिवीर, सन्मति ये महावीर भगवान के ही अन्य नाम हैं। **बालक वर्धमान ने बचपन से ही परिणति की शुद्धता में वृद्धि करके वर्धमान नाम को सार्थक किया।**

भगवान महावीर ने आत्मा से परमात्मा, नर से नारायण और जीव से शिव होने के साथ-साथ पशु से परमेश्वर होने का मार्ग भी बताया है। भगवान मोक्ष का मार्ग बनाते नहीं। वे तो सिर्फ मोक्ष का मार्ग बताते हैं। सूर्य कभी मार्ग बनाता नहीं, वह तो सिर्फ मार्ग पर प्रकाश डालता है। मार्ग को प्रकाशित करता है। महावीर भगवान ने आत्मा में से ही अनंत सुख प्रकट किया जिसके कारण परिग्रह को एकत्रित करने की आवश्यकता ही नहीं पडी। जब बच्चा पैदा होता है, तब नग्न और निर्दोष होता है। महावीर भगवान ने नग्नता और निर्दोषता को अपने जीवन में अंगीकार किया और उपदेश भी ऐसा ही देकर अन्य जीवों सच्चे सुख का मार्ग दिखाया।

महावीर भगवान ने कहा कि किसी दूसरों के दुर्गुणों को दूर करना हमारे वश की बात नहीं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति इतना अवश्य कर सकता है कि कोई भी दुर्गुण अपने आत्मा में प्रवेश न करे। बाजार में चलने वाली नकली नोटों को हम रोक नहीं सकते। मगर इतना अवश्य कर सकते है कि वे नकली नोट हमारी जेब में न आ जाये।

तीर्थंकर भगवान महावीर के द्वारा सुबह २ घण्टे २४ मिनट, दोपहर में २ घण्टे २४ मिनट और शाम को २ घण्टे २४ मिनट, इसप्रकार प्रतिदिन ७ धण्टे और १२ मिनट दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश प्राप्त होता था। उनके द्वारा दिया हुआ तत्त्वज्ञान ही भगवान महावीर की असली संपत्ति है। जो जीव उनकी वाणी को अपने जीवन में अपनाता है, वही महावीर भगवान का असली वारिस है।

महावीर भगवान ने समवसरण में मोक्ष का मार्ग तो एक ही बताया था। परन्तु प्रत्येक जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही उपदेश के आशय को ग्रहण करता है। पहिले तीर्थंकर के समवसरण में अन्तिम तीर्थंकर का जीव था और अन्तिम तीर्थंकर के समवसरण में पहिले तीर्थंकर का जीव था। श्री आदिनाथ भगवान के समवसरण में श्री महावीर भगवान का जीव मारिचि के रुप में थे, जबकि भविष्य के प्रथम तीर्थंकर श्री महापद्म भगवान, श्री महावीर भगवान के समवसरण में श्रेणिक राजा के रुप में थे।

संख्या शुभ या अशुभ नहीं होती। जगत में लोग १३ के अंक को अशुभ मानते हैं, परन्तु श्री भगवान महावीर ने वस्तु, व्यक्ति और घटना की तरह अंक में भी इष्ट या अनिष्ट ऐसे भेद नहीं होते, इस बात को भी प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है। श्री भगवान महावीर का चैत्र शुक्ल १३ के दिन जन्म हुआ। श्री भगवान महावीर ने अन्तिम उपदेश भी धन्य तेरस के दिन ही दिया था। जब श्री महावीर भगवान समवसरण में उपदेश दे रहे थे, तब वे १३ वें गुणस्थान में थे। श्री महावीर भगवान का M - A, B, C, D के २६ अक्षरों में १३ वें क्रम पर आता है। श्री भगवान महावीर की २६१३ वीं जन्मजयंति भी १३ तारीख के दिन ही आई थी, श्री भगवान महावीर से सम्बन्धित तेरह के अंक से यह बतान चाहते हैं कि जो स्वरुप मेरा है, वही तेरा है। श्री भगवान महावीर का अमावस्या की रात निर्वाण हुआ। बाहर घना अंधकार और आत्मा में मोक्ष का प्राकट्य।

आत्मसाधना में लीन श्री महावीर भगवान को लोग बेचारे कहते थे। वास्तव में वे बे+चारे ही थे, क्योंकि वे २-४ = २४ वें तीर्थंकर ही थे।

यद्यपि हम श्री भगवान महावीर को तीर्थंकर कहते हैं। वास्तव में वे तीर्थंकर थे, अभी तीर्थंकर नहीं है। ४२ वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्रकट होने के बाद और ७२ वर्ष की आयु में निर्वाण होने से पहिले लगभग ३० वर्षों तक उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का उदय था। आज वे तीर्थंकर भगवान नहीं, बल्कि मात्र भगवान हैं। क्योंकि आज श्री महावीर भगवान को तीर्थंकर कर्म प्रकृति का उदय नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति का ही नहीं, समस्त कर्म प्रकृति का उदय नहीं है, आज वे कर्म रहित सिद्ध भगवान है। कोई भी जीव अरिहंत अवस्था में तीर्थंकर होते हैं।

१४. विहरमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी

पंचमेरु सम्बन्धी विदेह क्षेत्र में सीमंधर भगवान आदि २० तीर्थंकर वर्तमान में केवलज्ञान सहित विहरमान है। बीस तीर्थंकरों के नाम इसप्रकार हैं। १. सीमंधर, २. युगमंधर, ३. बाहु, ४. सुबाहु, ५. संजातक, ६. स्वयंप्रभ, ७. वृषभानन, ८. अनन्तवीर्य, ९. सूरप्रभ, १०. विशालकीर्ति, ११. वज्रधर, १२. चंद्रानन, १३. चंद्रबाहु, १४. भूजंगम, १५. ईश्वर, १६. नेमप्रभ, १७. वीरसेन, १८. महाभद्र, १९. देवयश, २०. अजितवीर्य।

जैसे भरत और ऐरावत क्षेत्र में क्रमशः तीर्थंकर होते हैं, ऐसे महाविदेह क्षेत्र में क्रमशः तीर्थंकर नहीं होते हैं। विदेहक्षेत्र में सदैव एक-सा काल रहता है, भरत और ऐरावत क्षेत्र के समान कालचक्र का परिवर्तन नहीं होता है। महाविदेहक्षेत्र में भव्य जीव तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान आदि तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि सुन कर आत्म कल्याण कर रहे हैं। वहाँ सभी तीर्थंकर एक काल में विहरमान होने पर भी एक-दूसरों से मिलते नहीं हैं। वे अपने-अपने क्षेत्र में विहार करते हैं। जैसे बिना पासपोर्ट का एक भारतीय और एक अमेरिकन अपने-अपने देश में कहीं भी घूम-फिर सकते हैं, परन्तु वे दोनों एक-दूसरों से कभी मिल नहीं सकते। वहाँ सीमंधर भगवान की आयु एक करोड पूर्व वर्ष है। ७० लाख ५६ हजार करोड वर्षों का एक पूर्व होता है। श्री सीमंधर स्वामी के अतिरिक्त वहाँ अनेक श्रुतकेवली भी विराजमान है। लगभग वि.स. ४९ में आचार्य श्री कुंदकुंद जी सदेह विदेहक्षेत्र गये थे, वहाँ आठ दिन तक रहे थे और श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि सुन कर ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि परमागमों की रचना करके पंचमकाल के जीवों पर अत्यंत करुणापूर्वक उपकार किया है।

१५. जिनालय एवं चैत्यालय : रहस्य

जिनालयों पर परमात्मा के नाम होने चाहिए, परमात्मा को विराजमान करने वालें अज्ञानीजनों के नहीं। परन्तु मान कषाय से पीडित अज्ञानी अपनी मान कषाय की पूर्ति करने के लिये अनेक प्रकार के तर्क देकर अपनी पीडा दूर करना चाहता है। याद रहे, **हमें परमात्मा के धाम का दर्शन करना है, अपने नाम का प्रदर्शन नहीं।**

भगवान पूर्ण वीतरागी है। पूर्ण वीतरागी परमात्मा के जिनालयों में सदाचार का भी पालन नहीं करते ऐसे दाता के नाम लिख देना और अन्य जीवों को भी अप्रयोजनभूत विकल्पों के कारणभूत निमित्तों को उपस्थित करना उचित नहीं हो सकता। **जिसे परमात्मा की महिमा हो, वह श्रावक स्वयं ही नहीं चाहता कि कोई भी दर्शन करने वाला व्यक्ति जिन मन्दिर में परमात्मा से नज़र हटाकर मुझे देखें।**

अहंकार की चरम सीमा को छूने वाले जीवों को जिनमन्दिर में फर्श पर अपना नाम लिखाने का भाव आता है, वे चाहते हैं कि भगवान के दर्शन करने से पहले दर्शक मेरा नाम पढें। अरे भाई! तू क्यों इतना बेहोश हो गया है कि लोगों के पैर की ठोकर खाने के लिये तैयार हो गया है? धन देने वाले ही नहीं, बल्कि धन लेने वाले भी ऐसे अहंकार की पुष्टि के कारण बनते हैं, भागीदार बनते हैं। दान देने वालें भी व्यापारी और दान लेने वालें भी व्यापारी होने से दोनों को एक-दूसरों की भाषा आसानी से समझ में आती है, दोनों के बीच संवाद आसान हो जाता है।

कोई अज्ञानी मेरा घर, मेरा परिवार आदि में मोहासक्त होकर आत्म कल्याण करने से वंचित रह जाते हैं, तो कोई अज्ञानी मेरा आश्रम, मेरा तीर्थस्थान, मेरा विद्यालय, मेरी संस्था, आदि में मोहासक्त होकर छूपी तरह से मिथ्यात्व एवं कषाय का पोषण करते हैं। कभी-कभी घर-परिवार में मोहासक्त जीवों को तो उनसे छूटकर आत्महित करने का विचार भी आता है, परन्तु तीर्थ एवं आश्रमों में अपनापन करने वालें जीवों को वही दशा सुखरुप लगती है।

हे जीव! हो सकता है कि तुझे यह उपदेश भी काँटे जैसा चुभे, परन्तु इसमें तेरा ही आत्महित छुपा हुआ है, इसके बारे में तू गम्भीरता से विचार कर। **हे चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा! यदि तू आत्महित करना चाहता है तो समस्त प्रकार की उपाधि को वास्तव में उपाधि जानकर उससे छूटने का प्रयास कर और एक मात्र चैतन्य स्वभावी नित्य भगवान आत्मा का चिन्तन-मनन करके उसी में एकत्व कर, उसी में लीन हो, तो हे जीव! तेरा अवश्य कल्याण होगा।**

यदि कोई धार्मिक कार्य किसी अन्य संस्था में अन्य व्यक्ति के निमित्त से होता है, तो अज्ञानी को इतना आनन्द नहीं आता है, वह अच्छा कार्य हो, यह नहीं चाहता बल्कि अच्छा कार्य मेरे द्वारा हो ऐसा चाहता है, क्योंकि उसी में उसका कर्तृत्वभाव पुष्ट होता है। **अहंकार के आनन्द को धार्मिक कार्य करने का आनन्द मानना घोर मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सबसे बडा अधर्म है। अज्ञानी अधर्म में ही आनन्द मानता है।**

यद्यपि देह ही सब से बडा देवालय है, क्योंकि इस देह में निज परमात्मा निवास करता है। जिसप्रकार देवालय की शोभा एवं महिमा देवालय में विराजमान है, उसीप्रकार देह के साथ होने वाला आदर-सत्कार परमात्मा के कारण है।

१६. जिनप्रतिमा जिनवर-सी कहिए : रहस्य

जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में जिनेन्द्र भगवान की स्थापन करके उनकी पूजा करना व्यवहार है। जिस आत्मा में निज शुद्धात्मा के आश्रय से निश्चय प्रकट हुआ है, उसी आत्मा में जिनप्रतिमा को पूजने रुप व्यवहार होता है। यद्यपि प्रतिमा में परमात्मा नहीं है, फिर भी शास्त्रों में चार प्रकार के निक्षेपों में एक स्थापना निक्षेप का वर्णन भी आता है। **स्थापना निक्षेप से प्रतिमा में परमात्मा की स्थापना की जाती है।**

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के पाँचवें सूत्र में निक्षेप के भेद इसप्रकार लिखे हैं।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।। १-५ ।।

अर्थ : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से लोकव्यवहार होता है।

आशय यह है कि परमात्मा की साक्षात् अनुपस्थिति में परमात्मा की प्रतिमा में परमात्मा की स्थापना करके परमात्मा को पूजना अपूर्ण दशा वाले जीवों के लिये उत्तम आधार हैं। **प्रमाण, नय और निक्षेप ये तीनों सम्यग्ज्ञानी को ही होते हैं, अतः निश्चय से मूर्तिपूजा भी सम्यग्ज्ञानी को ही होती है। मूर्तिपूजा करना व्यवहार है, चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूतिरुप निश्चय प्रकट होने पर ही मूर्तिपूजा व्यवहार कही जाती है। निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता है।**

जिस प्रकार किसी स्त्री या पुरुष की नग्न मूर्ति को देखकर विकार भाव उत्पन्न होता है। वहाँ मूर्ति अचेतन होने पर भी आत्मा में उत्पन्न होने वाला भाव असली है, उससे होने वाला पापबंध असली है। उसी प्रकार वीतरागी अपरिग्रही परमात्मा की प्रतिमा देखकर उनके दर्शन करने का भाव सहज ही उत्पन्न होता है। वहाँ भगवान की मूर्ति अचेतन होने पर भी आत्मा में उत्पन्न होने वाला भाव असली है, उससे होने वाल पुण्यबंध भी असली ही है।

जैसे किसी बच्चे को गांधीजी की पहिचान करानी हो तो उसे गांधीजी की जीवनकथा की अपेक्षा गांधीजी की प्रतिमा अधिक प्रभावित करती है। ऐसे ही भगवान के वास्तविक स्वरुप से अपरिचित अज्ञानी को जिनेन्द्र भगवान का स्वरुप समझाने के लिये पुराणादि ग्रंथो की अपेक्षा जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा अधिक प्रभावित करती है। इसलिये जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा भी जिनेन्द्र भगवान के समान अपरिग्रही ही होनी चाहिए। कहा भी है - **जिनप्रतिमा जिनवर-सी कहिए।**

यद्यपि गांधीजी ने भी भूतकाल में अपने जीवन में सुट-बुट पहिने थे, परन्तु सुट-बुट पहिनने वाले गांधीजी हमारे लिये आदर्श नहीं हैं। सादगी के प्रतीक गांधीजी हमारे लिये आदर्श हैं। उसीप्रकार तीर्थंकरादि महापुरुष राजा की अवस्था में आभूषणादि से युक्त थे परंतु उनकी राजा-महाराजा

की अवस्था हमारे लिये आदर्श नहीं है। **पूर्ण वीतराग स्वरुप की प्रतिपादक अपरिग्रही जिनप्रतिमा हमारी आदर्श है।**

याद रहे, तीर्थंकर भगवान का समवसरण रत्नजडित था, परन्तु तीर्थंकर भगवान का शरीर रत्नजडित नहीं था। स्वर्ग के देवों ने समवसरण को भक्ति भाव से सजाया था, परन्तु तीर्थंकर भगवान को नहीं सजाया था। तीर्थंकर भगवान तो समवसरण में भी अपरिग्रही मुद्रा में ही विराजमान थे। कलिकाल में बहुमत लघुमत पर हावी हो जाता है। रागी देवी-देवताओं को आभूषणों से पूजने वाले लोगों की प्रवृत्तियों को देखकर जैनियों ने वीतरागी भगवान पर भी श्रंगार करना प्रारम्भ कर दिया। जिनालयों को सजाने की शक्ति नहीं रही कि अज्ञानी भगवान को ही सजाने लगे। अपरिग्रही परमात्मा को सजाने की सजा तीर्थंकरों पर उपसर्ग करने जैसी ही मिलेगी।

अफ्रिका में भगवान की मूर्ति में बडे-बडे होठ होते हैं, चीन में भगवान की मूर्ति में नाक छोटी होती है, कहने का आशय यह है कि सारी दुनिया में लोग भगवान की मूर्ति भगवान जैसी नहीं बनाते हैं, बल्कि अपने जैसी बनाते हैं। भारत में लोग आभूषण-मुकुट आदि पहिनते हैं और पहिनने में सुख मानते हैं इसलिये राग के पोषक जीवों ने वीतरागी अपरिग्रही भगवान को भी अपने जैसे परिग्रही के रुप में ही स्थापित किया। **भाई! हमें भगवान को हमारे जैसे परिग्रही नहीं बनाना है, बल्कि हमें उनके समान अपरिग्रही बनना हैं।**

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि भगवान तो चेतन है, फिर भी अचेतन प्रतिमा में चेतन परमात्मा की स्थापना करने का प्रयोजन क्या है? किसी चेतन व्यक्ति में ही चेतन परमात्मा की स्थापना करते तो क्या अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं होता?

इस बात का समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी व्यक्ति को जिनमन्दिर में भगवान के रुप में स्थापित करने के बाद यदि वह व्यक्ति जिनमन्दिर से बाहर निकलकर कोई भी पाप कार्य करेगा तो वहाँ भगवान का अविनय होगा। यदि वह पाप भी करेगा तो लोग तो यही कहेंगे कि

देखो! भगवान पाप कर रहे हैं। भगवान की प्रतिमा भगवान के स्वरुप को अधिक जीवंत सिद्ध तो नहीं करती, साथ ही वह अचेतन प्रतिमा भगवान को बदनाम भी नहीं करती। अतः अचेतन प्रतिमा में चेतन परमात्मा की स्थापना की जाती है।

ध्यान में लीन भगवान की नासाग्र द्रष्टि होती है क्योंकि आंख को पूर्णरुप से बंद करने का कार्य भी विकल्प द्वारा होता है तथा आंख को संपूर्ण खुली रखने का कार्य भी विकल्प द्वारा होता है। निर्विकल्प अनुभूति में आंख की ओर से द्रष्टि हट जाने से ज्ञानी की आंख आधी खुली और आधी बंद की दशा में रह जाती है, उसे नासाग्र द्रष्टि कहते है। नासाग्र द्रष्टि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि नाक पर द्रष्टि एकाग्र करते ज्ञानी आत्मा का ध्यान करते होंगे। वास्तव में समस्त परपदार्थो से द्रष्टि हटती है, तभी आत्मा का निर्विकल्प ध्यान होता है।

अज्ञानी की पलक खुलती है, बंद होती है, इसलिये उस पलक को अस्थिर पलक कहते हैं, वह पलक अस्थिर होती है, क्योंकि अज्ञानी की द्रष्टि अस्थिर पदार्थो पर ही जाती है, जबकि भगवान द्रष्टि नासाग्र होती है, स्थिर होती है, क्योंकि ज्ञानी की द्रष्टि त्रिकाली स्थिर आत्मतत्त्व पर ही होती है। भगवान की द्रष्टि में एक मात्र आत्मा ही है, आत्मा स्थिर अनादि-अनन्त नित्य है। क्षणिक की ओर द्रष्टि करने से द्रष्टि में क्षणिकपना रहता है और नित्य की ओर द्रष्टि करने से द्रष्टि में नित्यपना प्रगट होता है। सार यह है कि स्थिर द्रव्य के आश्रय से ही स्थिर पर्याय प्रकट हो सकती है।

अज्ञानी कहता है कि हे भगवान! इस जगत में जो कुछ भी है, सब तेरा ही है और तू मेरा है, इसलिये इस जगत में कुछ भी है, सब मेरा ही है। वह मंत्रोच्चार करके परमात्मा की प्रतिमा में परमात्मा की स्थापना करता है और उन्हीं परमात्मा से अपने सांसारिक कार्यो की सिद्धि कराना चाहता है। निज परमात्मा द्वारा किये गये मंत्रोच्चार से प्रतिमा में पर परमात्मा की स्थापना होती है, अतः पर परमात्मा से निज परमात्मा महान है। निज परमात्मा के दर्शन के लक्ष्य से पर परमात्मा के दर्शन किये जाते हैं।

१७. देवदर्शन करने की विधि

देवदर्शन की विधि जानने से पहिले सर्वप्रथम देव का स्वरुप समझना चाहिए। वीतरागी देव ही सच्चे देव है और वे ही हमारे आदर्श है, पूजनीय है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन का प्रयोजन भी यही है कि हम भी उनके समान पूर्ण वीतराग दशा प्रकट करें। देवदर्शन करने के लिये जाना, जितना आवश्यक है, उससे भी अधिक आवश्यक अपने भावों की चंचलता से भिन्न त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वभावी निज परमात्मा की जागृति रहना। यद्यपि देवदर्शन करने मात्र से ही परिणाम निर्मल नहीं हो जाते, क्योंकि पूजारी आदि लोग भी देवदर्शन पूजा आदि कार्य करते हैं परन्तु चैतन्य स्वभाव का लक्ष्य नहीं होने से जिन दर्शन से निज दर्शन नहीं कर पाते। फिर भी आत्मार्थी जीवों का प्रयास तो यही होना चाहिए कि जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, आदि का यथार्थ स्वरुप एवं महिमा जानकर, यथार्थ समझपूर्वक देवदर्शन करके शुभभावों से शुद्धभाव प्रकट हो।

वीतरागी देव के दर्शन की विधि मन्दिर प्रवेश करने से पहले ही प्रारम्भ हो जाती है। आत्मार्थी जनों को किसी भी प्रकार के चमडे की वस्तुयें पहिनकर जिन मन्दिर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। वास्तव में देखा जाये तो वीतरागी भगवान का दर्शक चमडे आदि वस्तुओं आजीवन त्यागी होता है। जो जीव अपने देहरुपी चमडे को भी अनन्तकाल के लिये छोडने हेतु देवदर्शन करने जाते हो, उन्हें प्राणियों के चमडे बनी हुए जुते, चप्पल, कमर पट्टी, घडी की पट्टी, आदि प्रत्यक्ष हिंसक वस्तुओं का त्याग ही होता है।

जूते-चप्पल, आदि पगरखा मन्दिर के बाहर ही छोड देना चाहिए। सिर्फ पगरखा ही नहीं, सभी प्रकार का अभरखा भी मन्दिर के बाहर ही छोड देना चाहिए। पैर में से जूते चप्पल और दिमाग में से जूठे ख्याल बाहर छोडकर जिनमन्दिर में प्रवेश करना चाहिए। पैर-हाथ धोकर स्वच्छ होकर मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक जिन मन्दिर में प्रवेश करना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से पहले मुँह साफ कर लेना चाहिए। सब से महत्वपूर्ण रहस्य यह है कि मुँह साफ करने पर भी मुँह तो सदैव अशुचिमय मलिन ही रहता है। यदि एक हजार बार कुल्ला करेंगे और फिर मुँह में पानी डालकर बाहर निकालेंगे तो पानी गन्दा ही निकलेगा। क्योंकि मुँह तो स्वयं ही अशुचिमय है। खास बात तो यह है कि यदि कुल्ला नहीं किया होगा तो जीव का ध्यान मुँह में रखी हुई वस्तु पर ही जायेगा। जैसे कि किसी व्यक्ति ने एक सौ ग्राम धनियाँ खाई हो, वह धनियाँ पेट में जाने के बाद विकल्प का कारण नहीं बनती परन्तु धनियाँ का एक छोटा-सा तिनखा भी दाँत में फंस जाये, तो ध्यान बार-बार वहीं पर जाता है। यही कारण है कि मुँह साफ करके ही देव-दर्शन, स्वाध्याय, आदि समस्त शुभ कार्य करने का उपदेश जैनधर्म में दिया गया है।

इसीप्रकार ऐसी वस्तुओं को जिनालय के अन्दर नहीं ले जाना चाहिए कि जिससे ध्यान बार-बार उन वस्तुओं पर जायें। कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि जिनदर्शन करते समय भी मोबाईल, पर्स आदि मूल्यवान वस्तुओं का ध्यान रखना पडता है। ज्ञानी कहते हैं कि **अमूल्य आत्मा को भूलकर भौतिक मूल्यवान वस्तुओं की इतनी चिन्ता करने वालें जीवों को भोगों की ही रुचि है, भगवान की नहीं।**

जिनमन्दिर में सादगीपूर्वक ही प्रवेश करना चाहिए। कुछ लोग भभकते-चमकते कपडे पहिनकर ही जिनमन्दिर में प्रवेश करने का आग्रह रखते हैं। वास्तव में हम परमात्मा के समान वीतरागी होना चाहते हैं, इसलिये हम वीतरागी परमात्मा के दर्शन करने के लिये जाते हैं। अतः उनके समान भोगों का त्याग करके स्वयं को वस्त्र और आभूषणादि बाह्याडंबरो से सुशोभित न करके विचारों से शुद्ध करना चाहिए। **यदि राग के पोषक महंगे वस्त्र और आभूषण पहिनकर ही भगवान दर्शन देते हो, तो निर्धन लोगों को देवदर्शन दुर्लभ हो जायेंगे।** वास्तव में रुपये, आभूषण, वस्त्र आदि परिग्रह आत्मा की शोभा नहीं है, आत्मा का धन नहीं है। **सत्य तो यह है कि जिस व्यक्ति के पास विषयभोगों से वैराग्य और संसार से उदासीनतारुपी धन नहीं है, ऐसे निर्धन लोगों को देवदर्शन होते भी नहीं।**

भगवान के दर्शन करते समय आँखे खुली रखनी चाहिए क्योंकि हम जिनेन्द्र भगवान का दर्शन करने के लिये जाते हैं, अदर्शन करने के लिये नहीं। यहाँ कोई कहे कि हमें तो आँख बन्द करने पर भी भगवान दिखाई देते हैं। उन्हें कहते हैं कि यदि आँख बन्द करने पर भी भगवान दिखाई देते है, तो फिर वीतरागी भगवान की प्रतिमा के सामने आने की क्या आवश्यकता थी? अपने घर में बैठे-बैठे ही भगवान के दर्शन कर लेने चाहिए। परन्तु भाई! अभी वर्तमान में निमित्ताधीन द्रष्टि होने से जिनेन्द्र भगवान के सामने जाकर आँख खोलकर दर्शन करना चाहिए, दर्शन करते-करते अपने स्वरुप के चिन्तन में उपयोग स्थिर हो जायें और आँखे बन्द ढल जायें और आत्मानुभूति हो, तब ही निज परमात्मा के वास्तविक दर्शन होते हैं। पर परमात्मा के दर्शन-देवदर्शन सफल होते हैं।

नि:सहि, नि:सहि, नि:सहि, इस प्रकार नि:सहि तीन बार बोलकर देवदर्शन करने के लिये जिनमन्दिर में प्रवेश करते हैं। जिन मन्दिर में प्रवेश करने के बाद रुपये का विकल्प भी उत्पन्न हो तो दोष है। **पैसे को ही नहीं, हम तो पर परमात्मा को भूलने और निज परमात्मा में लीन होने के उदेश्य से जिनमन्दिर में प्रवेश करते हैं, तो फिर वहाँ धन का विकल्प कैसे उत्पन्न हो सकता है? और उस विकल्प को उपादेय कैसे मान सकते हैं?**

भगवान के सामने हाथ जोडकर नमस्कार करके मस्तक झुकाना चाहिए। क्योंकि हमारे मस्तक के भाग पर ही पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, वहाँ ऐसा विचार करना चाहिए कि हे भगवान! मैं भावना भाता हूँ कि चैतन्य स्वभावी निज परमात्मा के आश्रय से इन्द्रियज्ञान से छूटकर अतीन्द्रियज्ञान की मुझे प्राप्ति हो। जिनदर्शन करने का मूल प्रयोजन तो जिनदर्शन से निजदर्शन करना ही है। देवदर्शक आत्मा देवदर्शन के विकल्प से भी मुक्त होकर निर्विकल्प अनुभूति को उपलब्ध होता है।

जिनमन्दिर में प्रवेश करके भी देव-दर्शनार्थी को जिनमन्दिर में भी जिनेन्द्र भगवान से भी अधिक रुपये-पैसे आदि के ही विचार आते हैं। सारे जगत में एक स्थान तो अवश्य ऐसा होना चाहिए कि जहाँ जीव रुपये-पैसे

के विचारों को भी छोडकर अपने आत्मा के स्वरुप का विचार करें। **याद रहे, रुपये-पैसे आदि धन का दान देने का निषेध नहीं है, बल्कि रुपये-पैसे का व्यवहार यदि वीतरागी परमात्मा के जिनमन्दिर के बाहर होगा, तो वह अपने आत्मा के हित के लिये श्रेष्ठ ही होगा।** चाहे जितना हो सके, अपनी शक्ति के अनुसार दान देने का उपदेश भी जैनधर्म में दिया है, फिर भी दानादि के लेन-देन और इससे सम्बन्धित सभी प्रकार का रुपयों का व्यवहार जिनमन्दिर के अन्दर शोभा नहीं देता। जैसा कि एकासन आदि शुभकार्य करने का उपदेश भी जैनधर्म में दिया है, फिर भी हम एकासन आदि शुभ व्यावहारिक कार्य जिनमन्दिर में नहीं करते, तो रुपयों का व्यवहार जिनमन्दिर के अन्दर क्यों करते हैं?

अज्ञानता एवं कषायभाव के कारण एवं धन की लोलुपता की अतिशयता के कारण यह प्रथा चल पडी है, क्योंकि आगम में कहीं भी जिनमन्दिर के अन्दर रुपयों का व्यवहार करने का उल्लेख नहीं पाया गया। इसप्रकार का समस्त व्यवहार जिनमन्दिर के बाहर ही होना चाहिए। **यदि कोई व्यक्ति धन का दान देना चाहे तो दे सकता है, परन्तु वहाँ भी जिनमन्दिर से बाहर अपने नाम का लोभ छोड कर दिया गया सुपात्र दान ही कार्यकारी है।**

लोक में भोजन करने को पेटपूजा कहते हैं। वहाँ भोजनालय के बाहर भोजन के कूपन मिलते हैं, रुपयें भी वहीं चुकाने होते हैं। यदि रोटी खाते-खाते कोई व्यवस्थापक भोजन के रुपये माँगे तो भी अच्छा नहीं लगता है। हमें भोजन की थाली पर बैठकर पेटपूजा करते-करते धन का व्यवहार करना रुचिकर और उचित नहीं लगता, तो तीन लोक के नाथ परमात्मा की पूजा करते-करते धन का व्यवहार कदापि उचित नहीं है।

जिनमन्दिर में परमात्मा की प्रतिमा का अभिषेक भी प्रतिमा की शुद्धि के लिये किया जाता है। वहाँ दूध, गन्ने, आम, आदि अन्य रसों के माध्यम से अभिषेक करने से प्रतिमा की शुद्धि तो होती नहीं बल्कि हिंसादि कार्य अधिक होते हैं। **मुनि श्री ऋषभदेव को अक्षय तृतिया के दिन गन्ने के रस का**

आहार प्राप्त हुआ था। राजा श्रेयांस ने गन्ने के रस से मुनि श्री ऋषभदेव का अभिषेक नहीं किया था। जरा सोचिये! क्या भगवान उन रसों से अभिषेक करके हिंसादि करने से ही पूजनीय होते हैं?

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि चलो, भगवान की आंगी देखने जाते हैं या भगवान के मुकुट-आभूषणादि देखने जाते हैं। परन्तु अज्ञान से अंध जीवों को इतना भी नहीं दिखाई देता कि समवसरण में भगवान के शरीर पर किसी भी प्रकार का श्रंगार नहीं किया गया था। **समवसरण रत्नजडित होता है, भगवान रत्नजडित नहीं होते हैं।** और हाँ, यदि किसी को फूल ही देखना हो, तो बाग-बगीचे में ही क्यों नहीं जाता? वहाँ तो तरह-तरह के फूल दिखाई देंगे। यदि किसी को आभूषण-गहने ही देखना है, तो फिर वह जौहरी की दुकान पर ही क्यों नहीं जाता? वहाँ भी उसे तरह-तरह के आभूषण देखने मिलेंगे।

यदि कोई व्यक्ति किसी साधु के उपर फूल रखेगा या साधु को गहने पहना देगा, तो क्या वह त्याग के मूर्तिमान साधु का सम्मान होगा या अपमान? अब जरा सोचिए, तीन लोक के नाथ चौबीसों परिग्रह रहित अपरिग्रही वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान पर आभूषण और फूल कैसे रख सकते हैं?

आगम में मनुष्यगति, देवगति एवं तिर्यंचगति इन तीन गति के जीवों के द्वारा मुनि पर उपसर्ग होता है। परन्तु इस काल में उपसर्ग करने के लिये सच्चे मुनि का योग तो दुर्लभ ही हो गया। परन्तु आत्मा की वृत्ति कैसे छूट सकती है? यही कारण है कि कुछ मनुष्यों ने जिनेन्द्र भगवान समान जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा पर ही आभूषणादि पहनाकर भगवान पर भी उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। आज तो ऐसी स्थिति आ गई है कि जिस प्रतिमा पर फूल-आभूषणादि से भगवान पर उपसर्ग नहीं होता हो, ऐसी वीतराग प्रतिमा को भगवान की प्रतिमा मानने पर भी शंका उपस्थित होने लगी है। **श्री यशोधर मुनि पर उपसर्ग करने वाले राजा श्रेणिक को सातवें नरक का आयुकर्म का बंध हुआ था। अब सोचो, भगवान पर उपसर्ग करने**

वाले जीवों का तो कहना ही क्या?

भगवान ने उपदेश दिया था कि हम भी उनकी तरह अपरिग्रही बने। परन्तु हम भगवान जैसे अपरिग्रही तो नहीं हुए, बल्कि भगवान को हमारे जैसे परिग्रही बनाना चाहा। यद्यपि हमारे बनाने से वे परिग्रही हो नहीं जाते, परन्तु हमारी विषय-कषायों की वृत्ति ही गाढ होती है।

सारी दुनिया में आज यह हालत हो गई है कि सभी लोगों ने देवताओं को भी अपनी जैसी आकृति में ही विराजमान कर दिया है, आप गहराई से सोचेंगे तो आपकी समझ में आयेगा। जैसा कि चाइना में जो देव है, उनकी नाक चाइनीझ लोगों जैसी छोटी है, तो अफ्रिका में जो देव है, उनके होठ आफ्रिकन लोगों जैसे बडे है, खास बात तो यह है कि अज्ञानी लोग भगवान को भी अपने जैसे ही बनाने का प्रयास करते हैं। कल्पित जैनियों ने भगवान को अपनी तरह वस्त्र-आभूषणादि से श्रंगारित करके खूबसूरत बनाने का प्रयत्न किया है। स्वयं का राग इतना फैला दिया है कि वे वीतरागी परमात्मा को भी रागी बनाये बिना वीतरागी भगवान की भक्ति नहीं मानते।

जब स्त्रियों के लिये आचार्य, उपाध्याय एवं साधु को भी स्पर्श नहीं करने का उपदेश है, तो फिर स्त्री तीर्थंकर अरिहंत परमात्मा का स्पर्श कैसे कर सकती है? जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब इन्द्र ही बालक को सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला पर जन्माभिषेक के लिये ले जाते हैं। बालक तीर्थंकर को भी देवियाँ स्पर्श नहीं करती तो स्त्री, तीर्थंकर भगवान का स्पर्श कैसे कर सकती है? वास्तव में देखा जायें तो स्त्रियों ने जिनमन्दिर में विराजमान परमात्मा को परमात्मा के रुप में माना ही नहीं हैं। वे सिर्फ भगवान को पत्थर की प्रतिमा ही मानते हैं। वास्तव में पत्थरदिलों को यह समझाना बहुत ही कठिन है कि **हे जीव! परमात्मा का स्पर्श करने की तुम्हें बहुत इच्छा हो रही है, तो जानने वाली तेरी ज्ञान पर्याय परमात्म स्वरुपी निजात्म द्रव्य का स्पर्श क्यों नहीं करती है? जब पर्याय एवं द्रव्य अभेद होते हैं, तब स्पर्शनादि इन्द्रियों के समूहरुप इस देह से भी मुक्त होकर सिद्धशिला पर विराजमान होगा।**

१८. द्रव्य स्वभाव से प्रत्येक आत्मा है परमात्मा

प्रत्येक आत्मा द्रव्य स्वभाव से परमात्मा है। द्रव्य स्वभाव में परमात्मपना प्रकट है और पुरुषार्थ के बल पर पर्याय में भी परमात्मपना प्रकट हो सकता है। त्रिकाल परमात्मा होने पर भी जीव स्वयं को त्रिकाल परमात्मा नहीं मानता है, इसलिये पर्याय में परमात्मा नहीं होता है।

जहाँ सर्व जीवों को सिद्ध समान कहा है, वहाँ संसारी और सिद्ध को पर्याय अपेक्षा समान नहीं कहा है, क्योंकि सभी जीवों को सिद्ध भगवान के समान पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रकट नहीं हुई है। सभी जीवों द्रव्य की अपेक्षा भी सिद्ध समान नहीं कहा है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा सभी जीव निगोद के समान भी है, परन्तु सभी जीवों को निगोद समान नहीं कहा है। वहाँ सिद्ध भगवान की पूर्ण शुद्ध पर्याय और स्वयं का शुद्ध द्रव्य समझना चाहिए। **जैसी पूर्ण शुद्ध पर्याय सिद्ध भगवान को प्रकट हुई है, ऐसी ही पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रकट हो सके ऐसा द्रव्य स्वभाव प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है।** जैसे स्वच्छ कपडे के पास अस्वच्छ कपडा रखकर ऐसा कह सकते हैं कि अस्वच्छ कपडे में भी स्वच्छ कपडे के समान स्वच्छ होने का सामर्थ्य विद्यमान है।

१९. पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक, मोक्ष कल्याणक इन पांच कल्याणकों के महोत्सव में जिनप्रतिमा में जिनेन्द्र भगवान की स्थापना की जाती है। यद्यपि गर्भ में आना और जन्म लेना सुख की निशानी नहीं है, फिर भी तीर्थंकरो का अन्तिम बार गर्भ में आना और अन्तिम जन्म लेना भी उनके आत्मा के लिये कल्याण कारण बनता है। **पंच कल्याणक महोत्सव से तो तीर्थंकरों का कल्याण हुआ था, उनके पंच**

कल्याणकों से हम भी आत्मज्ञान और वीतरागता के बल पर निज आत्मा का कल्याण करे, तब ही कल्याणक महोत्सव मनाना सफल होता है।

रंग-राग की दुनिया से छूटकर वीतराग भाव की प्राप्ति के लिये पंच कल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन किया जाता है। परिणामों की विशुद्धि होने पर ही पंच कल्याणक महोत्सव मनाना सार्थक होता है।

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा में पत्थर मूर्ति भी परमात्मा हो जाती है, तो जीवित लोग परमात्मा क्यों नहीं होते हैं? सत्य तो यह भी है कि पत्थर की प्रतिमा भारत में हो या अमरिका में, पंच कल्याणक प्रतिष्ठा के दिनों में जिस शहर और देश में प्रतिष्ठा का आयोजन हो रहा हो, वहाँ घूमने-फिरने नहीं जाती है। भारत देश के पंच कल्याणकों से विदेशों में होने वाले पंच कल्याणकों में विशेष रुचि परमात्मा के दर्शन के कारण कम और परदेश के दर्शन के कारण अधिक होती है। आत्मा की शुद्धि तो न हो, परन्तु रंग-राग का ही पोषण हो, तो महोत्सव का वास्तविक फल नहीं मिल पाता है।

२०. जिनदर्शन से निजदर्शन

जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा दर्पण ही लगनी चाहिए। कहने का आशय ऐसा है कि जिसप्रकार दर्पण सामने आते ही स्वयं का रुप दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, ऐसे ही जिनेन्द्र भगवान को दर्पण जानकर ऐसा मानना चाहिए कि यह मेरे द्रव्य का स्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है।

भगवान के दर्शन करने के बाद जब आँख बन्द भी हो जाये, भगवान का स्वरुप आत्मा के विचारों में रहता है। जिनदर्शन में इन्द्रिय और मन निमित्त हो सकते हैं, परन्तु निजदर्शन में इन्द्रिय और मन निमित्त भी नहीं होते हैं। जिनदर्शन करने से सांसारिक कार्यो के कारण स्वयं को संसार स्वरुप मानने वाले जीवों को अपने यथार्थ स्वरुप का ज्ञान होता है।

जिनदर्शन में पर परमात्मा की मुख्यता होने से पराधीनता है, निजदर्शन में निज परमात्मा की मुख्यता होने स्वाधीनता है। जिनदर्शन का

इन्द्रियसुख क्षणिक ही होता है, निजदर्शन का अतीन्द्रिय सुख नित्य होता है। जिनदर्शन व्यवहार है, निजदर्शन निश्चय है।

मात्र द्रव्य स्वभाव से ही नहीं, परमात्मा की पर्याय को भी प्राप्त पर परमात्मा में जिन्हें परमात्मा का वास्तविक स्वरुप नहीं दिखाई देता, उन्हें निज परमात्मा के दर्शन कैसे होंगे जो कि सिर्फ द्रव्य स्वभाव से ही परमात्मा है, पर्याय में नहीं। परन्तु निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जब मैं परमात्मा हूँ, ऐसा अनुभव होता है तब पर परमात्मा की यथार्थ श्रद्धा होती है। निश्चय प्रकट हुए बिना व्यवहार नहीं होता है।

२१. आत्मा से परमात्मा होने की विधि

हम जिन परमात्मा के दर्शन करते हैं, वे परमात्मा आत्मध्यान की स्थिर मुद्रा में ही विराजमान होते हैं। परमात्मा का स्वरुप देखकर समझदार व्यक्ति परमात्मा होने की यथार्थ विधि समझ लेते हैं। आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान के अतिरिक्त आत्मा से परमात्मा होने के अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

मूर्तिकार पत्थर में मूर्ति बनाता है, तब पत्थर में कुछ जोडता नहीं है, बल्कि अपने विवेक से पत्थर के उपर छैनी मारकर परमात्मा का आकार तैयार करता है। जिसप्रकार मूर्तिकार पत्थर में ही परमात्मा देख लेता है। ऐसे ही पर्याय में रागादि भाव एवं अज्ञान का आवरण होने पर भी जो निज

परमात्मा को देख लेते है, उन्हें सम्यग्द्रष्टी कहते हैं। उसका मूल कारण यह है कि मूर्तिकार ने पत्थर में से मूर्ति बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ करने से पहले ही कहीं परमात्मा की मूर्ति देखी होती है। उसी प्रकार ज्ञानी भी वीतरागी परमात्मा के दर्शन करने से रागादि भाव सहित आत्मा में भी शुद्ध परमात्मा देख लेते हैं। यही रहस्य है कि जिनमत में देवदर्शन की महत्ता बताई है, क्योंकि जिनदर्शन से निजदर्शन होते हैं।

जिस प्रकार राख के आवरण के भीतर जलते हुए कोयले को दूर से ही देखने पर उसके गरमपने का अनुभव नहीं हो सकता, परन्तु कोयले के निकट जाकर उसका स्पर्श करने पर राख के आवरण में भी कोयले की उष्णता का अनुभव किया जा सकता है। उसी प्रकार राग के आवरण में अंतरंग में विद्यमान शुद्ध चैतन्य स्वभाव का अनुभव मात्र विकल्प से ही नहीं हो सकता। **इन्द्रियों के विषयोंभोगों की सुखबुद्धि को तिलांजलि देकर आत्मा के चैतन्य स्वभाव के समीप जाकर आत्मा का अनुभव करने पर राग के आवरण में भी आत्मा के परमात्म स्वभाव का अनुभव हो सकता है। यही आत्मा से परमात्मा होने की विधि है।**

२२. चमत्कार को नमस्कार

किसी भी जीव को सहाय करने के लिये रागी देवी-देवताओं को इस बात का ज्ञान होना अनिवार्य है कि मेरी सहाय की जरुरत किसे है? रागी देवी-देवता को केवलज्ञान नहीं है, इसलिये वे सारे जगत के समस्त जरुरतमंद जीवों की जरुरत जानते नहीं है। कदाचित् वे जान भी लें, परन्तु सहाय करने का राग का भाव भी होना चाहिए और राग का भाव हो, परन्तु सहाय करने की शक्ति हो, तो ही सहाय करने आते हैं। जब वे सहाय करने आते हैं, तब जिन्हें सहाय मिलती हैं, उनका स्वयं का ही पुण्य का उदय होता है। इसप्रकार सहाय करने के लिये देवी-देवताओं को ज्ञान, राग, शक्ति, आदि का योग न हो और जीवों पुण्य का उदय न हो, तो

कोई देवी-देवता सहाय नहीं करते हैं। **वास्तव में प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्र और सहज ही होता है।**

आचार्य श्री कुंदकुंद जी ने कसाय पाहुड में कहा है -

एकस्सेव जिणस्स वंदणा कायव्वा

उक्त कथन का आशय यह है कि संयमी साधु तथा प्रतिमा पूज्य है। जो परम इष्ट है, वे पूज्य है। वास्तव में पाँच परमेष्ठी ही पूज्य है। इसलिये उनकी पूजा की जाती है। वीतरागी के अलावा अन्य रागी देवी-देवता, कुदेव या अदेव है, इसलिये उनकी (क्षेत्रपाल, धरणेन्द्र, पद्मावती, मणिभद्र, घंटाकर्ण महावीर, नाकौडा भैरव, आदि की) पूजा नहीं करनी चाहिए। **निश्चयद्रष्टि से देखने पर बाह्य में कोई कुदेव नहीं होते, बल्कि जीव की मान्यता कुदेवरुप होती है। कुदेव को छोडने का अर्थ कुदेव में सुदेवपने की मान्यता स्थापित हो चुकी है, वह मान्यता को छोडना।**

अज्ञानी सोचते हैं कि वीतरागी भगवान को अच्छा या बुरा करने का राग और द्वेष का भाव नष्ट हो गया है, इसलिये वीतरागी भगवान की पूजा करने से वे हमारा अच्छा और शत्रुओं का बुरा करने के लिये आयेंगे नहीं परन्तु धरणेन्द्र-पद्मावती आदि देव-देवी तो रागी है, अतः उनकी पूजा करने से वे हमें सहाय करने आ सकते हैं। परन्तु भाई! वीतरागी देव हो या रागी देव-देवी हों, कोई भी जीव किसी भी परद्रव्य का भला-बुरा कर ही नहीं सकता। कर्तृत्वबुद्धि के अतिशय भारवहन से अज्ञानियों को बाह्य चमत्कार को नमस्कार करने की विशेष रुचि होती हैं।

सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये और जीवन की प्रतिकूलताओं के कारण स्वयं को हारा हुआ मानने वाला व्यक्ति जब यह जानता है कि वीतरागी परमात्मा में तो भला-बुरा करने का भाव ही नहीं है, अतः वे वीतरागी भगवान को छोडकर रागी देवी-देवताओं की भक्ति में और चमत्कारी बाबा के दरवाजे खटखटाते हैं। अरे भाई! चमत्कारी बाबा के दरवाजे खटखटाने की भी कहाँ जरुरत है? उनके दरवाजे तो हमेशा ऐसे दीन-दुखियों के जेब का बोझ हलका करने के लिये सदैव खुले ही रहते हैं।

भाई! निज भगवान आत्मा त्रिकाल चैतन्य स्वभावी है, उसके चमत्कार से बडा कोई चमत्कार नहीं है। किसी भी विपरीत परिस्थिति में तू स्वयं को हीन मत मान। क्योंकि विपरीत परिस्थिति भी तेरे मन का ही विकल्प है। यह जानकर कुछ लोग विकल्पों को रोकने का उपाय खोजते हैं, पूछते हैं, परन्तु उन्हें यह बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि उन्हें विकल्प को दूर नहीं करना है और न ही विकल्प से दूर होना है।

जिसप्रकार नदी के बहते हुए प्रवाह में कोई व्यक्ति डूब रहा हो, तो वह पानी को रोकने के लिये प्रयास नहीं करता, बल्कि पानी में से बाहर निकलने के लिये प्रयत्न करता है। अनपढ व्यक्ति भी इतना तो समझता है कि पानी को रोका नहीं जा सकता, लेकिन पानी में से बाहर निकलना ही बचने का एक मात्र उपाय है। उसीप्रकार अज्ञानी को विकल्पों से बचने के लिये विकल्पों को दूर नहीं करना है। भाई! यह तो ऐसा अद्भूत रहस्य है कि तुझे विकल्पों से दूर भी नहीं जाना है। क्योंकि तू त्रिकाल विकल्पों से भिन्न शुद्ध चैतन्य मात्र भगवान आत्मा है। तूने विकल्पों को अपना स्वरुप माना है, इसीलिये अनन्त काल से दुःख भोगे है। **अब बस इतना निर्णय और अनुभव कर कि विकल्पों से भिन्न मैं चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा हूँ। तब ऐसा चमत्कार होगा कि देवी-देवता भी तेरे चरण चुमेंगे, तेरे गुणगान गायेंगे, तेरी पूजा-भक्ति करेंगे।**

हे चैतन्य स्वभावी त्रिकाली परमात्मा! तू तो जो सहाय करने के लिये नहीं आते, ऐसे देवी-देवताओं के विकल्पों में उलझता रहता है और उनकी पूजा करके अपने व्यक्तिगत संकट को दूर करना चाहता है। परन्तु **श्री पार्श्वनाथ मुनिराज का तो उपसर्ग करने वाले कमठ पर या उपसर्ग दूर करने के लिये आये हुए पद्मावती और धरणेन्द्र जैसे देवी-देवताओं की ओर उपयोग ही नहीं गया, वे तो निज शुद्धात्मा के ध्यान में ही लीन थे। राग के कारण उपसर्ग दूर करने वाले के प्रति राग नहीं करना और द्वेष के कारण उपसर्ग करने वाले के प्रति द्वेष नहीं करना ही राग-द्वेष रहित वीतरागता का लक्षण है।**

निज चैतन्य स्वभावी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में शुद्धोपयोगरुप एकाग्रता होने से धरणेन्द्र-पद्मावती और कमठ आदि किसी भी परज्ञेयों पर

द्रष्टि ही नहीं गई। यदि अंतर्मुहूर्त तक निज भगवान आत्मा ही स्वज्ञेय होकर जानने में नहीं आता, तो केवलज्ञान प्रकट होता कैसे? यदि देव-देवी रक्षा करने के लिये नहीं आते तो भी कमठ जैसा देव मुनिराज श्री पार्श्वनाथ का कुछ भी नहीं बिगाड सकता था, क्योंकि जन्म से ही अतुल बल के धनी तीर्थंकर का ऐसा अतिशय होता है कि कोई भी व्यक्ति उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता। आग की वर्षा से भी तीर्थंकर का शरीर जल नहीं जाता।

यद्यपि वीतरागी देव को किसी भी जीव का हित या अहित करने का विकल्प ही नहीं उठता फिर भी वीतरागी देव हमारे आदर्श हैं, हम उन जैसा बनना चाहते हैं, इसलिये हम वीतरागी देव के दर्शन, पूजन, भक्ति आदि करते हैं। वीतरागी भगवान के दर्शन वही जीव कर सकता है, जिसे धर्म के फल में सांसारिक सुख की आकांक्षा नहीं रही। वह जीव सम्यग्द्रष्टी ही होता है।

२३. चैतन्य चमत्कार

अक्षर का अनन्तवाँ भाग मात्र ज्ञान होने पर भी सर्वज्ञत्व स्वभाव के बल पर वही निगोदिया जीव भविष्य में लोकालोक को एक समय में एक साथ जानता है। **जगत में चैतन्य का चमत्कार ही एकमात्र चमत्कार है।** वर्तमान समय में क्षयोपशम ज्ञान और आगामी समय में क्षायिकज्ञान। ऐसी अपूर्व स्थिति चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से अपूर्ण ज्ञान पर्याय से परिपूर्ण ज्ञान पर्याय प्रकट होती है। एक समय में ही क्षयोपशम ज्ञान से केवलज्ञान हो जाता है। क्या होता है और क्या हो जाता है? फिर भी आत्मा का ज्ञान स्वभाव नित्य एकरुप ही रहता है। **ज्ञान स्वभाव को क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायिक ज्ञान की पर्याय छूती भी नहीं है। परम पारिणामिक भाव नित्य ध्रुव ही रहता है, इसी का नाम चैतन्य का चमत्कार है।**

संख्यात ज्ञेयों को जानने वाला ज्ञान संख्यात से अनन्त ज्ञेयों को जान लेता है। आत्मा का ज्ञान जगत के अनन्त ज्ञेयों को जान लेता है। निगोद अवस्था और सिद्धावस्था में एक समान रहने वाला ध्रुव चैतन्य स्वभाव

प्रतिक्षण रागादि भावरुप ज्ञेय को जानता है, फिर भी चैतन्य स्वभाव रंचमात्र रागरुप परिणमित नहीं होता है। यह चैतन्य का चमत्कार है।

चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति होते ही जगत का प्रत्येक जीव संयोग एवं संयोगीभावरुप द्रष्टि में नहीं आता, प्रत्येक आत्मा में चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा ही द्रष्टि में आता है। ज्ञानी मानते हैं कि बेटा बहुत दूर है, तो बेटे का राग भी दूर है, वे दोनों ही यहाँ चैतन्य में प्रविष्ट नहीं होते। भोजन करने या नहीं करने का भाव दोनों ही भाव कर्मोदयजन्य औदयिकभाव है, **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में अखण्ड एकत्व स्थापित होने का नाम पुरुषार्थ है। किसी भी प्रकार के औदयिक में पुरुषार्थ घटित नहीं होता है, एक मात्र चैतन्य स्वभावी आत्मा और औदयिक भावों बीच होने वाला सहज भेदविज्ञान होना पुरुषार्थ है।**

अज्ञानी को देवी-देवताओं के चमत्कार में ही विशेष रुचि है, परन्तु चैतन्य चमत्कार में रुचि नहीं है। लौकिक चमत्कार से क्षणिक, इन्द्रिय, पराधीन, आकुलतायुक्त, काल्पनिक सुख मिलता है ऐसा लगता है, जो कि वास्तव में दु:ख ही है, परन्तु **अलौकिक चैतन्य चमत्कार से नित्य, इन्द्रियातीत, स्वाधीन, निराकुल, वास्तविक सुख मिलता है, वही सत्य है, वही शान्तिदायक है।**

२४. परमात्मा का अतीन्द्रिय अनन्त सुख

अनादि मिथ्याद्रष्टी को सम्यग्दर्शन प्रकट होता है तब अतीन्द्रिय सुख प्रकट होता है, लेकिन पूर्ण सुख नहीं। बारहवें गुणस्थान में मोह का सर्वथा अभाव होने पर पूर्ण सुख प्रकट होता है। तेरहवें गुणस्थान में अनंतज्ञान प्रकट होता है। अनंतज्ञान के साथ होने वाले सुख को भी अनंतसुख कहते हैं। अरिहंत दशा प्रकट होते ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य (अनंतचतुष्टय) की प्राप्ति होती है। सिद्ध दशा प्रकट होते ही अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्वादि गुण भी प्रकट होते हैं।

संसार में सुख नहीं है और मोक्ष में ही सुख है, इस बात का प्रमाण यह है कि आज तक अनन्त जीव संसार से मोक्ष में तो गये है, लेकिन ऐसा एक भी जीव नहीं है, जो मोक्ष से संसार में वापिस आया हो। वापिस आये भी क्यों? **अनन्त सुख के अमृतरुपी रस को छोडकर पाँच इन्द्रिय के विषयों की आग में पडकर मोह-राग-द्वेष के विकारी भावरुपी जहर को पीना कौन चाहेगा?**

ऐसे अनन्त जीव है, जिनकी अनन्त इच्छाओं का नाश हुआ है, लेकिन एक भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसकी अनन्त इच्छाओं की पूर्ति हुई हो। अज्ञानी जीव को अपनी अनन्त इच्छाओं की पूर्ति करने की इच्छा होती है, जिस कार्य को अनन्त सिद्ध भी नहीं कर सके, अज्ञानी उस कार्य को पूर्ण करना चाहता है। **अज्ञानी जीव भगवान का भी भगवान बनने की इच्छा करता है। अरे भाई! सच्चा सुख भगवान का भगवान बनने में नहीं लेकिन भगवान बनने में है। भगवान बनने में भी क्यो? प्रत्येक जीव त्रिकाली भगवान है। जब जीव स्वयं को त्रिकाली नित्य भगवान जानता है, मानता है, उस रुप परिणमित होता है तब पर्याय में भी भगवान होता है।**

२५. अशरीरी सिद्ध भगवान

भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित आत्मा को मुक्त कहते हैं। यद्यपि जगत में प्रत्येक आत्मा द्रव्य स्वभाव से मुक्त है, परन्तु सिद्ध भगवान पर्याय से भी मुक्त हुए हैं। जैसे गेस भरे हुए गुब्बारे को एक कुर्सी से बांधकर रखने पर वे गुब्बारे उपर नहीं जाते। जब वे गुब्बारे वजनदार कुर्सी से छूटकर अलग होते हैं, तब वे सहज ही उपर पहुंचकर अटक जाते हैं। ऐसे ही आत्मा मोह-राग-द्वेष के विकारी भाव और आठ कर्मो के बंधन में फंसा हुआ है, जब आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रहित होता है, तब सहज ही लोकाग्र भाग पर सादि-अनंत काल तक विराजमान होता है।

सिद्ध भगवान अनन्त हैं, एक सिद्ध भगवान में अनन्त सिद्ध भगवान का वास होता है। फिर भी वे प्रत्येक सिद्ध भगवान का अस्तित्व स्वतंत्र ही

है। जैसे पानी सहज ही पात्र का आकार ग्रहण कर लेता है, परन्तु पानी को पात्र में भर कर रेफ्रिजरेटर में रखा जाय, तो वह पानी बर्फ हो जाता है, बर्फ होने के बाद उसे पात्र से अलग करने पर भी बर्फ का आकार पात्र जैसा ही रहता है, परन्तु बर्फ तब ही बाहर निकलता है, जब बर्फ का आकार पात्र से थोडा कम हो। ऐसे ही आत्मा सहज ही शरीररुपी पात्र का आकार ग्रहण कर लेता है, परन्तु साधक आत्मा निर्ग्रंथ शरीर में रह कर शीतादि बाईस परिषहों को सहता हुआ, अरिहंत परमेष्ठी हो जाता है, अरिहंत परमेष्ठी होने के बाद आत्मा देह से अलग होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है, तब आत्मा का आकार अन्तिम शरीर जैसा ही रहता है, परन्तु सिद्ध भगवान सिद्धशिला पर पुरुषाकार अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून स्थित होते हैं। अनन्त सिद्धों का आकार अलग-अलग छोटा-बडा होने पर भी सिद्धों के सुख में कोई अन्तर नहीं होता है, सभी सिद्ध परमात्मा अव्याबाध सुखी होते हैं। संसारी जीव तीन लोक में सर्वत्र धूमते हैं, फिर भी कर्मों से बन्धे हुए होने से संसारी हैं, जबकि सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग पर एक ही स्थान पर विराजमान होते हैं, फिर भी कर्मो से बन्धे न होने से मुक्त हैं।

द्वितिय : शास्त्र अधिकार

१. शास्त्र का स्वरूप एवं रहस्य

आत्मसाधना के साधक जीवों के हृदय में देव-गुरु-धर्म के समान शास्त्र के प्रति भी बहुमान होना चाहिए। क्योंकि सत्य तो यह है कि आज के इस कलिकाल में देव और गुरु से भी अधिक योगदान शास्त्र का रहता है। अतः देव एवं गुरु के साथ-साथ शास्त्र को भी द्रष्टि अगोचर नहीं करना चाहिए।

गुरु और शास्त्र दोनों ही वर्तमान काल में ज्ञानदाता हो सकते हैं। परन्तु गुरु तो गुरु के पास जब समय होता है, तब ज्ञान देते हैं, जबकि शास्त्र शिष्य के पास जब समय होता है, तब ज्ञान देते हैं। गुरु उतने समय के लिये ही ज्ञान देते हैं, जितना समय गुरु के पास हो। परन्तु रात को दो बजे भी शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्र उतने समय के लिये ज्ञान देते हैं, जितना समय शिष्य के पास हो।

शास्त्र की फोटोकोपी की जा सकती है, गुरु की नही। शास्त्र की लाखों-करोडों प्रतिलिपियों को सारे जगत में पहुँचाया जा सकता हैं। परन्तु गुरु की प्रतिलिपि नहीं निकाली जा सकती। शास्त्रों को सारी दुनिया की अनेक भाषाओं में अनुवाद करके पहुँचाया जा सकता है। परन्तु गुरु को तो सीमित भाषाओं का ही ज्ञान हो सकता है। **विशेष बात तो यह है कि गुरु के बिना शास्त्रो के मर्म को कौन समझा सकता है? अतः गुरु की महिमा अपरम्पार है।**

देव और गुरु चेतन है और शास्त्र अचेतन है, फिर भी आत्मज्ञान की प्राप्ति में शास्त्र निमित्त होने से शास्त्र को अचेतन होने पर भी पूजनीय कहा

है। **मिथ्याद्रष्टी कुगुरु भले ही चेतन हो, फिर भी अपूज्य है, परन्तु शास्त्र अचेतन होने पर भी सत्य का प्रकाशक होने से पूज्य है।**

शास्त्र में शब्द होते हैं, भाव नहीं। भाव जीव में होते हैं। यदि किसी जीव में वीतरागी भगवान के प्रति बहुमान नहीं है, ज्ञायक की रुचि नहीं है, तो उस जीव को शास्त्र पढकर भी शास्त्र पढने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

कुछ लोग सफेद रंग को शुभ और काले रंग को अशुभ मानकर काले मुखपृष्ठ वालें शास्त्र के प्रति अरुचि जताते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि शास्त्र के अक्षर तो काले ही रंग के होते हैं। शास्त्र के काले अक्षर का क्या करोगे? कदाचित् शास्त्र के समस्त पन्नों को रंगीन अक्षरों से छपाओगे परन्तु आँख के मध्य में जो काला रंग है, उसका क्या करोगे? काली आँख से ही पढोगे न? काला रंग पसंद नहीं है, तो फिर सफेद बालों को काला क्यों करते हो? भाई! समझने योग्य खास बात तो यह है कि **शास्त्रों के मुखपृष्ठ, पृष्ठ एवं उनके अक्षरों के रंग-रुप को देखकर अपनी बुद्धि और समय का व्यय न करके वीतरागी वाणी का यथार्थ स्वरुप समझों, इसी में अमूल्य मनुष्य जीवन की सार्थकता है।**

२. आगम का स्वरूप, भाषा, शैली एवं उपयोगिता

आप्त के वचन को आगम कहते हैं। आगम के रहस्य को समझने के लिये आगम की भाषा एवं शैली का ज्ञान होना अविनार्य है। जैन धर्म के अधिकांश मूल आगम प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं में लिपिबद्ध हुए है। अतः प्राकृत और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान होने पर आगम के मूल शब्दों के भाव समझ में आ सकते हैं। आज के युग में आगम का अध्ययन करने की जिज्ञासा वाले जीवों का पुण्योदय इतना प्रबल है कि, मूल प्राचीन आगम उन्हें अपनी-अपनी हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषा में अनुवाद किये हुए प्राप्त है। **आज के स्वाध्यायीजनों को आगम की भाषा सम्बन्धी**

चिन्ता से मुक्ति मिल गई है, परन्तु आगम की शैली का ज्ञान नहीं होने से वे अपनी मातृभाषा में प्राप्त आगम का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं।

जिनागम नयों की शैली में निबद्ध है। अतः प्रत्येक साधक को आगम की भाषा के साथ-साथ नयों का मूलभूत ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। याद रहे, **आगम के प्रत्येक वचन का प्रयोजन एक मात्र यही है कि आगम का अध्ययन करके प्रत्येक जीव में वीतरागता प्रकट हो।**

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने वीतरागता के पोषक शास्त्र की महिमा बताते हुए कहा है कि देव और गुरु के वियोग में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का एक मात्र साधन शास्त्र है। आत्मसिद्धि शास्त्र पर विवेचन करते हुए आत्मसिद्धि अनुशीलन में इसप्रकार लिखा है।

आत्मादि अस्तित्व ना, जेह निरुपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहीं, त्यां आधार सुपात्र।।

अर्थ : जब प्रत्यक्ष सद्गुरु का योग न हो, तब आत्मादि के अस्तित्व का निरुपण करने वाले शास्त्र ही श्रेष्ठ आधार है।

आशय यह है कि जिनवाणी को माता की उपमा दी गई है। इस पंचमकाल में मिथ्याद्रष्टी जीवों के विभिन्न प्रकार के तर्क-कुतर्क की मायाजाल में न फंसकर बचने का एकमात्र उपाय आगम का आधार ही है।

३. आगम के अर्थ समझने की पद्धति

आगम का अर्थ समझने के लिये नयों का ज्ञान होना आवश्यक है। नयों के ज्ञान के बिना आगम का अभ्यास करने से आगम के कथनों में परस्पर विरोध भासित होता है। वास्तव में एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि अनुसार आगम के शब्दों का अर्थघटन करता है। यही कारण है कि एक ही आगम को पढकर एक ही ज्ञानी के नाम से अनेक मत खडे होते हैं। परमात्मप्रकाश नामक आगम में आगम के अर्थ समझने के मुख्य पाँच प्रकार बताये हैं। वे इसप्रकार हैं। १. शब्दार्थ, २. नयार्थ, ३. मतार्थ, ४. आगमार्थ, ५. भावार्थ।

१) शब्दार्थ : शास्त्रों के शब्दों का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करना उसे शब्दार्थ कहते हैं। हे अज्ञानी! हे मूढ! हे मिथ्याद्रष्टी! तू पर पदार्थो की गुलामी करते-करते मर क्यों नहीं गया? मुझे खुशी तो इस बात की है कि तू जिन्दा है, यदि तू मर जाता मैं उपदेश किसे देता? इसलिये हे तीन लोक के नाथ परमात्मा! मेरी बात को ध्यान से सुन। मर क्यों नहीं गया? ऐसे शब्दों को ही ग्रहण करके आत्मघात मत कर लेना। शब्द के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना ही शब्दार्थ है।

२) नयार्थ : आगम का प्रत्येक वचन नयों की शैली में निबद्ध है। निश्चय नय के कथन का अर्थ निश्चय नय के रुप में और व्यवहार नय के कथन का अर्थ व्यवहार नय के रुप में घटित करके यथार्थ अर्थ ग्रहण करना नयार्थ है। इसीप्रकार द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय आदि नयों में घटित कर लेना। शास्त्रों के कथन में नय घटित करने से पहिले नयों का ज्ञान होना अनिवार्य है।

३) मतार्थ : आगम के कथनों में अन्यमत के कथनों से किस प्रकार भेद है, इसका विशेष भेद समझकर अन्यमतों के शास्त्रों से जिनमत में बताये गये उपदेश के रहस्य को समझकर यथार्थ भाव ग्रहण करना मतार्थ

है। अन्यमत में आत्मा, ध्यान, मोक्ष, आदि शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु जिनवाणी में इन शब्दों का प्रयोग करके किस प्रकार अर्थघटन किया है, उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करना मतार्थ है।

४) आगमार्थ : आगम के आधार पर वस्तुस्वरुप के अर्थ को ग्रहण करना आगमार्थ है। जब आश्रव के भेदों का स्वरुप समझाया हो तब तत्त्वार्थसूत्र का उद्धरण देते हैं, परन्तु जब आश्रव से भिन्न ज्ञायक का स्वरुप समझाया हो, तो समयसार का उद्धरण देते हैं।

५) भावार्थ : आगम के कथनों का मूल आशय ग्रहण करके शब्दों के भाव को ग्रहण करना भावार्थ है। भाषा तो भावों के वस्त्र है, वाणी तो विचारों की वाहक है, ऐसा जानकर वाणी के भाव को ग्रहण करना चाहिए। जब बच्चा रोता है, तब किस भाषा में रोता है? जब वह हँसता है, तब किस भाषा से हँसता है? खास बात यह है कि भावों की अनुभूति वचनातीत होती है, भावों की अभिव्यक्ति में भाषा माध्यम बनती है। आगम को भावों समझना ही श्रुतज्ञान को समझना है, सम्यग्द्रष्टी ही आगम के भावों को यथार्थरुप से ग्रहण करते हैं।

४. अनेकांत-स्याद्वाद

१) अनेकांत : यह तो सर्वविदित ही है कि जैनदर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। आज जैन समाज इस शब्द जितना परिचित है, उतना ही इस शब्द के यथार्थ अर्थ से अपरिचित है। अनेकांत शब्द में दो शब्द है। अनेक+अंत=अनेकांत। अनेक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जो एक नहीं है, वह अनेक है। इसलिये दो, तीन, चार से लेकर अनन्त तक अनेक संज्ञा का प्रयोग होता है। फिर भी अनेकांत के प्रकरण में अनेक शब्द के मुख्यरुप से दो अर्थ समझने चाहिए। सबसे छोटा अनेक दो है और सबसे बडा अनेक अनन्त है।

अंत शब्द के भी दो अर्थ होते हैं। पहिला धर्म और दूसरा गुण। **जब अंत शब्द का अर्थ धर्म होता है, तब अनेक शब्द का अर्थ दो होता है। जब अंत शब्द का अर्थ गुण होता है, तब अनेक शब्द का अर्थ अनन्त होता है। जिस वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्म और परस्पर अविरोधी अनन्त गुण होते हैं, उस वस्तु को अनेकांत स्वरुपी वस्तु कहते हैं।**

जीव द्रव्य में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, ध्रुव-अध्रुव आदि परस्पर विरोधी अनन्त धर्म और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि परस्पर अविरोधी अनन्त गुण होते हैं। अतः जीव अनेकांत स्वरुपी वस्तु है। धर्म और गुण में बहुत बडा अन्तर यह है कि **धर्म की पर्याय नहीं होती है, जबकि गुण की पर्याय होती है। धर्म सदैव जोडरुप होते हैं, जबकि गुण अकेले ही होते हैं।**

जगत की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्म और परस्पर अविरोधी अनन्त गुण होते हैं, अतः प्रत्येक वस्तु अनेकांत स्वरुपी है। प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने की सिद्धि करने वाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना, उसे अनेकांत कहते हैं। आत्मा स्व रुप से है और पर रुप से नहीं है, ऐसी जो द्रष्टि, वास्तविक अनेकांतद्रष्टि है।

२) स्याद्वाद : अनेकांत स्वरुप वस्तु में होता है, जबकि स्याद्वाद स्वरुप कथन में होता है। इसलिये ज्ञानियों के विचारों में अनेकांत और वाणी में स्याद्वाद होता है। स्यात्+वाद=स्याद्वाद। स्यात् का अर्थ है कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से और वाद अर्थात् कथन करना। **अनेकांत स्वरुपी वस्तु को वाणी के माध्यम से कहना, उसे स्याद्वाद कहते हैं।**

वस्तु में अनेकांत स्वरुप एक ही समय में एक साथ होता है, जबकि वाणी में स्याद्वाद स्वरुप क्रमिक व्यक्त होता है। तीर्थंकर परमात्मा ने भी जगत के अनेकांत स्वरुप को स्याद्वाद वाणी के माध्यम से व्यक्त किया है। **ज्ञान असीम है, वाणी सीमित है।**

जैसे एक ही व्यक्ति पिता और पुत्र दोनों एक साथ हो सकता है।

वह व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा पिता और पिता की अपेक्षा पुत्र है। जब कथन किया जाता है, तब कालभेद होता है, परन्तु वस्तुस्थिति में कालभेद नहीं होता है। जैसे कोई पूछे कि कौआ कैसा होता है? ज्ञानी कहते हैं कि कौआ काला होता है, कौआ लाल होता है, कौआ पीला होता है, आदि कौआ अनेक रंग का होता है। अज्ञानी को ज्ञानी की विवक्षा का ज्ञान न होने से उक्त कथन में विरोध भासित होता है। वास्तव में चमडी की अपेक्षा से कौआ काला होता है, खून की अपेक्षा से लाल होता है और पीत्त की अपेक्षा से काला होता है। **ज्ञानी के प्रत्येक वचन में अपेक्षा होने से ज्ञानी की वाणी स्याद्वादमयी होती है।**

५. चार अनुयोगों का स्वरूप एवं रहस्य

जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञान को चार प्रकार से समझाया है। तत्त्वज्ञान को समझाने की पद्धति को अनुयोग कहते हैं। प्रत्येक अनुयोग का प्रयोजन यही है कि सभी जीवों को वीतरागता की प्राप्ति हो।

आगम की मूल गाथाओं में फेरफार करने से मूल गाथाओं के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। कोई व्यक्ति मूल गाथा के अर्थ के साथ अपनी स्वतंत्र मान्यतारुप विचार को कोष्टक में लिख देते है। कोष्टक में लिखा हुआ अपना अर्थ कोष्टक में से बाहर निकल जाता है और मूल गाथा कोष्टक में चली जाती है। आगे जाकर मूल गाथा निकल ही जाती है और मिथ्याद्रष्टी अपनी स्वतंत्र मान्यता को परंपरा से आगे फैलाते हैं।

ज्ञानी आत्मानुभूति के प्रमाण से सत्य एवं असत्य के भेद को जान लेते हैं। आशय यह है कि अज्ञानीजनों को मूल गाथाओं के अर्थो में अपना मत नहीं जोडना चाहिए। याद रहे, **जिन्हें जिनआज्ञा भंग होने का भय होता है, वही तत्त्व का सच्चा वक्ता होता है।**

६. प्रथमानुयोग का रहस्य

जैनधर्म के इतिहास को प्रथमानुयोग कहते हैं। प्रथमानुयोग का दूसरा नाम कथानुयोग भी है। जिन शास्त्रों में महापुरुषों के जीवनचरित्र का वर्णन करके वीतरागता की प्राप्ति का उपदेश दिया हो, उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते हैं। आदिपुराण, पद्मपुराण, पाण्डवपुराण आदि प्रथमानुयोग के शास्त्र हैं।

याद रहे, **प्रथमानुयोग के शास्त्रों का अपूर्ण अध्ययन करने से स्वच्छंदता का पोषण होने की अधिक सम्भावना है।** सम्यग्द्रष्टी चक्रवर्ती के भोगों का अपूर्ण वर्णन पढकर अज्ञानी स्वयं भी भोगों में रत होता है। वह सोचता है कि चक्रवर्ती ने छियानवें हजार रानियों भोगा था, तो मैं अपनी एक पत्नी को क्यों नहीं भोग सकता? चक्रवर्ती ने छह खण्ड के राज्य को भोगा था, तो मैं अपना छोटा-सा घर क्यों नहीं भोग सकता? इसप्रकार आहार, सैन्य आदि के सम्बन्ध में विचार करके स्वच्छन्दता पोषण करता है। वह आगे पढकर ऐसा नहीं सोचता है कि चक्रवर्ती ने वीतराग परिणति के बल पर छियानवें हजार रानियों, छह खण्ड के राज्य, आदि परिग्रह को छोडा था, तो मैं वीतराग परिणति के बल पर एक पत्नी, छोटा-सा घर आदि परिग्रहों को क्यों नहीं छोडता? **अरे भाई! चक्रवर्ती पद के साथ मरण होता है, तो नियम से सातवें नरक में जाना पडता है, अतः प्रथमानुयोग से भोगों के त्याग की प्रेरणा लेनी चाहिए, भोगों को भोगने की नहीं।**

७. त्रेसठ शलाका महापुरुषों का संक्षिप्त स्वरूप एवं रहस्य

त्रेसठ शलाका बलवान महापुरुषों का स्वरुप समझकर वीतरागता के पथ पर चलना ही प्रथमानुयोग का मूल प्रयोजन है। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण ये कुल मिलाकर ६३ शलाका महापुरुष होते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में ये ६३ शलाका महापुरुष होते हैं। **ये महापुरुष उसी भव में अथवा एक या दो भव में नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।**

वर्तमान २४ तीर्थंकरों के नाम : १. ऋषभदेव, २. अजितनाथ, ३. सम्भवनाथ, ४. अभिनन्दन, ५.सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदंत (सुविधिनाथ), १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शांतिनाथ, १७. कुंथुनाथ १८. अरनाथ, १९. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रत स्वामी, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. महावीर।

वर्तमान १२ चक्रवर्ती के नाम : १. भरत, २. सगर, ३. मेघवन, ४. सनत्कुमार, ५. शान्तिनाथ, ६. कुंथुनाथ, ७. अरनाथ, ८. सुभौम, ९. पद्मप्रभ, १०. हरिसेन, ११. जयसेन, १२. ब्रह्मदत्त।

वर्तमान ९ बलभद्र के नाम : १. विजय, २. अचल, ३. धर्मप्रभ, ४. सुप्रभ, ५. सुदर्शन, ६. नन्दी, ७. नन्दीमित्र, ८. रामचन्द्र, ९. पद्म।

वर्तमान ९ नारायण के नाम : १. त्रिपुष्ट, २. द्विपुष्ट, ३. स्वयंभू, ४. पुरुषोत्तम, ५. नरसिंह, ६. पुण्डरिक, ७. दत्तदेव, ८. लक्ष्मण, ९. कृष्ण।

वर्तमान ९ प्रतिनारायण के नाम : १. अश्वग्रीव, २. तारका, ३. नारका, ४. निशुम्भ, ५. मधुकैतभ, ६. प्रहलाद, ७. बलि, ८. रावण, ९. जरासंघ।

तीर्थंकर के पुत्र तीर्थंकर नहीं बनते, चक्रवर्ती के पुत्र चक्रवर्ती नहीं

बनते, नारायण के पुत्र नारायण नहीं बनते। तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत तीर्थंकर नहीं हुए। भरत चक्रवर्ती के पुत्र मारीचि चक्रवर्ती नहीं हुए। उक्त कथन का आशय यह है कि **तीर्थंकरादि महापुरुष भी अपना पुण्य अपने पुत्रों को नहीं दे सकते। अतः पिताजी को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मैंने अपने बेटे को कुछ भी नहीं दिया, मेरी संपत्ति बेटे को मिली है, उसमें बेटे का पुण्योदय है।**

तीर्थंकर भगवान पुण्योदय से प्राप्त रत्नजडित समवसरण आदि भौतिक वैभव अपने पुत्र को देने समर्थ नहीं है, तो फिर उनसे भी अधिक कौन पुण्यशाली है, जो स्वयं के पुण्योदय से प्राप्त संपत्ति अपने बेटे को दे जाये? **चैतन्य स्वभावी शुद्धात्मा के आश्रय से ही लेने-देने के कर्तृत्वभाव का अभाव हो सकता है।**

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण ये त्रिपुटी कहलाती हैं। वे तीनों कमशः एक साथ ही होते हैं। नव बलभद्र और नव नारायण भाई होते हैं। जिनके पिता एक होते हैं, परन्तु मातायें अलग-अलग होती है। नारायण द्वारा प्रतिनारायण का वध होता है। जैसे कि इस अवसर्पिणी काल के आठवें बलभद्र राम, आठवें नारायण लक्ष्मण और आठवें प्रतिनारायण रावण थे।

८. करणानुयोग का रहस्य

करणानुयोग का दूसरा नाम गणितानुयोग भी है। जिन शास्त्रों में गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, तीनों लोकों का भूगोल एवं कर्मों आदि केवलज्ञानगम्य सूक्ष्म विषयों का वर्णन करके वीतरागता प्रकट करने का उपदेश दिया हो, उन शास्त्रों को करणानुयोग के शास्त्र कहते हैं। षट्खण्डागम, धवल, जयधवल, महाधवल, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार, आदि शास्त्र करणानुयोग के शास्त्र हैं।

९. जीवस्थान-मार्गणास्थान-गुणस्थान : रहस्य

१) जीवस्थान : जीवों के रहने के स्थान को जीवस्थान कहते हैं। उनके चौदह भेद हैं। आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी ने द्रव्यसंग्रह में जीवस्थान के भेद इसप्रकर बताये हैं।

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत इदरा य।। १२ ।।

अर्थ : पंचेन्द्रिय जीव मन सहित और मन रहित जानने चाहिए तथा अन्य सभी मन रहित जानना। उनमें एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार के होते हैं, वे सभी पर्याप्त और अपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं।

जिसप्रकार मकान, घडा, वस्त्रादि वस्तुयें पूर्ण और अपूर्ण होती है, उसीप्रकार संसारी जीव पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो प्रकार के होते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन ये छह पर्याप्ति है। एक अंतर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण होती हैं। अपर्याप्तक जीव एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं। निरोगी पुरुष की एकबार नाडी चलने में जितना

समय लगता है, उसे श्वास कहते हैं। ४८ मिनिट में ३७७३ श्वास होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को चार, द्वि इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को छह पर्याप्ति होती है।

१. एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त, २. एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, ३. एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त, ४. एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, ५. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ६. द्वीन्द्रिय पर्याप्त, ७. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ८. त्रीन्द्रिय पर्याप्त, ९. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, १०. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, ११. असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, १२. असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, १३. संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और १४. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ये चौदह प्रकार के संसारी जीवों के भेद हैं।

समस्त प्रकार के जीवस्थानों का स्वरुप जानकर भेद से द्रष्टि हटाकर एक मात्र चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा को प्रयोजनभूत जानकर निज शुद्धात्मा में स्थिर होना उपरोक्त भेदों को समझने का फल है। व्यवहार द्रष्टि से देखने पर इन समस्त भेदों में से एक भी भेद में इस भगवान का जन्म नहीं हुआ हो ऐसा नहीं है। तीन लोक में एक प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ मेरा जन्म-मरण नहीं हुआ हो।

निश्चय द्रष्टि से देखने पर चैतन्यपना तो चैतन्यपने में ही कायम है। किसी भी इन्द्रियरुप नहीं हुआ है। क्षयोपशमज्ञान ऐसी भावेन्द्रियरुप नहीं होने वाला ज्ञायक भाव द्रव्येन्द्रिय और द्रव्येन्द्रियों के समूह देहरुप कदापि नहीं हो सकता। **ज्ञेयों के भेदों में भी अभेद रहना वाला भगवान आत्मा का चैतन्यपना सदैव अभेद एकरुप ही रहता है।** तीन लोक में एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जहाँ मेरा जन्म हुआ हो, जन्म ही नहीं हुआ तो मरण होना बहुत दूर है। इसप्रकार भगवान आत्मा जीवस्थानों के भेदों में भी जीवरुप ही है, चैतन्यरुप ही है।

मार्गणास्थान : जिन-जिन धर्मविशेषों से जीव का अन्वेषण (खोज) किया जाये, उन-उन धर्मविशेषों को मार्गणास्थान कहते हैं। उनके चौदह भेद इसप्रकार लिखे हैं।

गइ इन्दियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।।

अर्थ : गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार।

निश्चय द्रष्टि से देखने पर गति, इन्द्रियादि चौदह मार्गणास्थानों में भगवान आत्मा की खोज बाह्य में करने पर भी भगवान आत्मा न तो गति में है और न ही इन्द्रियादि मार्गणास्थानों में स्थित है। **भगवान आत्मा तो जहाँ चैतन्यपना है, वहीं है। ज्ञान स्वभाव के माध्यम से ही ज्ञायकभाव की खोज होती है।**

किसी भी वस्तु खोज करने के लिये आँख ही नहीं, द्रष्टि भी चाहिए। ऐसे ही भगवान आत्मा की खोज करने के लिये इन्द्रिय आदि मार्गणस्थानों का ज्ञान ही नहीं, बल्कि चैतन्य स्वभाव की द्रष्टि भी चाहिए। **साधना की भूमिका में आँख से अधिक महत्त्वपूर्ण द्रष्टि है।**

गुणस्थान : मोह और योग के निमित्त से होने वाली जीव की श्रद्धा और चारित्र गुण की तारतम्यरुप अवस्था को गुणस्थान कहते हैं। याद रहे, क्षयोपशमज्ञान की तारतम्यता के कारण गुणस्थान के भेद नहीं होते हैं। गुणस्थान चौदह होते हैं।

मिच्छे सासण मिस्सो अविरदम्मो देसविरदो य।
विरदा पमत इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य।।
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णादव्वा।।

१. मिथ्यात्व, २. सासादन सम्यक्त्व, ३. सम्यक्मिथ्यात्व, ४. अविरत सम्यक्त्व, ५. देशविरत सम्यक्त्व, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगीकेवली, १४. अयोगीकेवली चौदह गुणस्थान है। सिद्ध भगवान गुणस्थान और कर्मों से रहित होते हैं।

गुणस्थान द्रव्य या गुण नहीं है, बल्कि पर्याय है, अतः क्षणिक ही है। श्री कुंदकुंद आचार्य जी ने समयसार की ६ गाथा में लिखा है कि ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है। इस कथन का आशय यह है कि ज्ञायकभाव को पहले गुणस्थान से लेकर छठ्ठा गुणस्थान भी नहीं है और सातवें गुणस्थान से चौदहवां गुणस्थान भी नहीं है। **परद्रव्य और गुणभेद के विकल्पों से भिन्न ज्ञायकभाव गुणस्थानातीत है।**

१०. तीन लोक का संक्षिप्त स्वरूप

अलोकाकाश के मध्य में कमर पर हाथ रखा हो ऐसा पुरुषाकार लोकाकाश है, लोकाकाश को लोक के नाम से जानते हैं। लोकाकाश से अलोकाकाश का विस्तार अनन्तगुना हैं। अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है, लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है। अलोकाकाश को अलोक और लोकाकाश को लोक भी कहते हैं। यह लोक तीन भागों में विभाजित हैं। अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक। तीन लोक को तीन भुवन भी कहते हैं। इस लोक के बिलकुल मध्य में मध्यलोक के नीचे के लोक को अधोलोक और उपर के लोक को उर्ध्वलोक है।

यद्यपि उन तीनों लोकों को विभाजित करने वाली कोई दीवारें नहीं हैं और न ही लोक और अलोक के बीच दोनों को विभाजन करने वाली कोई दीवारें हैं। तीन लोक में मध्य में सीधे आकार में त्रस नाडी है, जहाँ द्विइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय त्रस जीव रहते हैं। **व्यवहार से आत्मा को लोकप्रमाण या देहप्रमाण कहते हैं, निश्चय से आत्मा से आत्मा लोकप्रमाण नहीं, बल्कि ज्ञानप्रमाण है।**

तत्त्वार्थ सूत्र, त्रिलोकसार, आदि ग्रन्थों एवं उन ग्रन्थों की टीकाओं के आधार पर तीन लोक का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया है।

११. अधोलोक

अधोलोक में उपर से नीचे ऐसे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, प्रंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा नाम के सात नरक हैं। पहले से सातवें ऐसे सात नरकों में क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ९९९५ और ५ नरक बिल हैं। ये ८४ लाख नरकबिल नारकी जीवों के रहने के स्थान हैं।

नीचे-नीचे पहले से सातवें ऐसे सात नरकों में उत्कृष्ट आयुष्य क्रमशः एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैतीस सागर हैं। **नरक की जघन्य आयु दस हजार वर्ष है।**

सात नरक से नीचे नीचे क्रम से घनोदधिवातवलय (भाप का घट वातावरण), घनवातवलय (घट हवा का वातावरण), तनुवातवलय (पतली हवा का वातावरण) है। उसके नीचे अलोकाकाश है।

नरक गति में शीत, उष्ण, भूख, प्यास, वैतरणी नदी, सेमर वृक्ष, आदि दुःखो का वर्णन शास्त्र में आता है। वास्तव में संयोग नहीं, बल्कि संयोगीभाव दुःख के मूल कारण हैं। सम्यग्दर्शन प्रकट होने से पहिले आयुकर्म का बन्ध होने पर सम्यग्द्रष्टी नरकगति में जन्म तो लेते हैं, तो भी पहिले नरक में ही जन्म लेते हैं। **सम्यग्द्रष्टी को चैतन्य स्वभाव का आश्रय होने से नरक गति में भेदविज्ञान होता है।**

१२. मध्यलोक (तिर्यक्लोक-तिरछालोक)

मध्यलोक में जम्बुद्वीप आदि अनेक द्वीप और समुद्र है। द्वीप अर्थात् जमीन और समुद्र अर्थात् पानी। प्रत्येक द्वीप समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वालें चूडी के समान आकार वालें होते हैं। सभी द्वीप एवं समुद्र के मध्य में जम्बुद्वीप है। जम्बुद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र है। उसके चारों ओर घातकीखंड द्वीप है। उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है, उसके चारों ओर पुष्करवरद्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है। इसप्रकार आगे-आगे असंख्यात द्वीप और समुद्र है।

जम्बुद्वीप के मध्य में सुदर्शनमेरु पर्वत है। जम्बुद्वीप थाली के समान गोल है और उसका विस्तार एक लाख योजन है। जम्बुद्वीप में एक के बाद एक हिमवत्, महाहिमवत्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन ये छह कुलाचल-पर्वत हैं।

जिसप्रकार एक कमरे के बीच में एक दीवार करने पर कमरा दो भागों में विभाजित हो जाता है, ऐसे ही जम्बुद्वीप में पूर्व से पश्चिम तक इन छह पर्वतो की हारमाला से **जम्बुद्वीप भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत् इन सात क्षेत्रों में विभक्त हैं।**

उन सात क्षेत्रों में उपर उत्तर दिशा से भी चौथा और नीचे दक्षिण दिशा से भी चौथा बीच वाला हिस्सा विदेहक्षेत्र है, वहाँ सीमंधर भगवान वर्तमान में विहरमान है। कोई व्यक्ति विमान द्वारा वहाँ जाना चाहे तो भी नहीं जा सकता है। क्योंकि रास्ते में बडे-बडे विशाल पर्वत आते हैं।

उन भरतादि सात क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र एक-एक विशाल सरोवर है, उनमें से क्रमशः **गंगा-सिंधु, रोहित-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रुप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ बीच में बहती हैं।** उनमें से पहली नदी पूर्व समुद्र की और दूसरी नदी पश्चिम समुद्र की ओर बहती है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्पसर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालचक्र का परिवर्तन होता रहता है। उत्सर्पिणी काल में जीव के ज्ञान, शरीर के आयुष्य और लम्बाई में वृद्धि होती है और अवसर्पिणी काल में जीव के ज्ञान, शरीर के आयुष्य और लम्बाई में हानि होती है अर्थात् घटते जाते हैं। **भरत और ऐरावत क्षेत्र के अलावा अन्य पाँचों क्षेत्रों में कालचक्र का परिवर्तन नहीं होता है, वहाँ सदैव एक-सी स्थिति बनी रहती है।**

अवसर्पिणीकाल के छह भेद है। १. सुषमसुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमदुषमा, ४. दुषमसुषमा, ५. दुषमा, ६. दुषमदुषमा।

काल को आरा भी कहते हैं। अवसर्पिणीकाल का पहला आरा चार क्रोडाक्रोडी सागर, दूसरा आरा तीन क्रोडाक्रोडी सागर, तीसरा आरा दो क्रोडाक्रोडी सागर, चौथा आरा ४२ हजार साल कम एक क्रोडाक्रोडी सागर, पाँचवां आरा २१ हजार वर्ष, छठवां आरा २१ हजार वर्ष का होता है। चौथा, पाँचवा और छठ्ठा ये तीन काल का समय कुल मिलाकर एक क्रोडाक्रोडी सागर होता है। एक करोड को एक करोड से गुना पर जो संख्या आती है, उसे एक क्रोडाक्रोडी कहते हैं। एक करोड में १ के आगे ७ शून्य होते हैं, एक क्रोडाक्रोडी में १ के आगे १४ शून्य होते हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में पहले से तीसरे काल तक भोगभूमि होती है, चौथे, पांचवे और छठ्ठे काल में कर्मभूमि होती है।

जम्बुद्वीप, लवणसमुद्र, घातकीखंड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध - इन क्षेत्रों को ढाई द्वीप कहते हैं, उसका विस्तार ४५ लाख योजन है। उसके आगे मानुषोत्तर पर्वत है, कोई भी मनुष्य उसके आगे नहीं जा सकते।

जम्बुद्वीप के आगे आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है, वहाँ चार दिशाओं में चार अंजनगिरि, सोलह दधिमुख और बत्तीस रतिकर पर्वत है। उन पर्वतों में मध्यभाग में अकृत्रिम जिनमंदिर है, जो कि बावन जिनालय के नाम से सुप्रसिद्ध है। उसके आगे बारहवाँ कुंडलवर द्वीप, तेरहवाँ रुचकवर पर्वत है। रुचकवर पर्वत पर अनेक देवियों के निवास हैं। वे देवियाँ तीर्थंकरों के गर्भ

एवं जन्मकल्याणक में तीर्थंकरों की माताओं की सेवा करती हैं।

असंख्यात अवसर्पिणी काल के बाद एक हुंडावसर्पिणी काल आता है, अभी हुंडावसर्पिणी काल चल रहा है। **वैसे तो चौबीसों तीर्थंकर अयोध्या में ही जन्मते हैं और सम्मेदशिखर से ही मोक्ष जाते हैं, परन्तु इस हुंडावसर्पिणी काल का अपवाद हैं कि चौवीस तीर्थंकरों में से बीस तीर्थंकर ही सम्मेदशिखर से मोक्ष पधारे। पहिले ऋषभदेव भगवान कैलाश पर्वत से, बारहवें वासुपूज्यस्वामी चंपापुरी से, बाईसवें नेमिनाथ भगवान गिरनार से और चौबीसवें महावीर भगवान पावापुरी से मोक्ष गये।**

वर्तमान में यहाँ हुंडावर्पिणी का पंचमकाल चल रहा है। पंचमकाल के २१ हजार वर्ष में से लगभग ढाई हजार वर्ष पूरे हुए हैं। अभी पंचमकाल लगभग १८५०० वर्ष तक रहेगा। पंचमकाल के अंत तक यहाँ धर्म रहेगा अर्थात् एक साधु, एक आर्जिका, एक श्रावक और एक श्राविका रहेंगे। अतः वर्तमान में ज्ञानियों का योग असम्भव है ऐसा मानकर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानियों की पहिचान आँखों से नहीं होती, द्रष्टि से होती है, सम्यग्द्रष्टि से होती है।

छठ्ठे काल में यहाँ मनुष्य अविवेकी, नग्न और मांसाहारी हो जायेगा, मुनि और श्रावक नहीं रहेंगे, धर्म का लोप हो जायेगा। ऐसे दुषमदुषमा काल में हम ने भूतकाल में अनन्त दुःख भोगे हैं, अतः वर्तमान में प्राप्त सुअवसर नहीं गंवाना चाहिए। **ये सब काल के भेद तो बाहर द्रष्टि करते हैं, तब दुःख के कारण बनते हैं, वास्तव में भगवान आत्मा तो उपरोक्त काल के भेदों से भिन्न त्रिकाल एकरुप ही है, कालचक्र को समझने का मूल हेतु यही है।**

१३. उर्ध्वलोक

उर्ध्वलोक में नीचे से उपर ऐसे सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक विमान, नव अनुदिश विमान और पाँच अनुत्तर विमान हैं। उसके उपर ४५ लाख योजन विस्तार वाली सिद्धशिला है, जहाँ अनन्त सिद्ध परमात्मा सादि-अनन्त काल तक विराजमान हैं।

यद्यपि सिद्धशिला पर निगोद के अनन्त जीव भी रहते हैं, फिर भी उसे निगोदशिला नहीं, बल्कि सिद्धशिला ही कहते हैं। क्योंकि निगोद के जीव तो तीनों लोकों में होते हैं, जबकि सिद्ध भगवान सिद्धशिला पर ही विराजमान होते हैं। निगोद के जीव के लिये सिद्धशिला पर क्षणिक ही वास है, सिद्ध भगवान के लिये सादि-अनन्त काल तक वास होता है। मेहमानों के नाम पर घर नहीं जाने जाते, हमेशा रहने वालें व्यक्ति के नाम से मकान प्रचलित होता है।

सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्त्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत ये सोलह स्वर्ग है। सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, विशाल, सुमन, सौमन और प्रीतिकर ये नव ग्रैवेयक हैं। आदित्य, अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभास, अर्चिप्रभ, अर्चिमध्य, अर्चिरावर्त, और अर्चिविशिष्ठ ये नव अनुदिश हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर हैं।

स्वर्ग के भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और दो भेद होते हैं। जिसका विशेष वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में किया है, विस्तारपूर्वक वहाँ से जानना।

सर्वार्थसिद्धि के देव नियम से एकावतारी ही होते हैं। साथ ही दक्षिण इन्द्र, सौधर्म के लोकपाल, सौधर्म की शचि नामक इन्द्राणी और ब्रह्म नामक

पांचवे स्वर्ग के अंत में रहने वालें लौकांतिक देव भी एकावतारी ही होते हैं। सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र एक या दो भव में नियम से मोक्ष जाते हैं।

तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव देवांगनाओं के स्पर्श से, पांचवे से आठवें स्वर्ग के देव देवियों के रुप देखकर, नवमें से बारहवें स्वर्ग के देव देवियों के शब्द सुनकर और तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग के देव देवियों के सम्बन्ध में विचार करके ही तृप्त हो जाते है, उनके कामवासना के विकल्प शांत हो जाते हैं। सोलहवें स्वर्ग के आगे के देव कामसेवन रहित होते हैं, वहाँ देव ही होते हैं, देवांगना नहीं होती। **सोलहवें स्वर्ग के देवों के उपर के देवों में भेद नहीं होते हैं, अतः वे सब एक समान होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं।**

भले ही सोलहवें स्वर्ग के उपर के अहमिन्द्र को कामसेवन की इच्छा नहीं होती, फिर भी उन देवों को ब्रह्मचर्य अणुव्रत या महाव्रती नहीं कहा जाता। वहीं दूसरी ओर मनुष्य गति के पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को स्वस्त्री का भोग होने पर भी ब्रह्मचर्याणु व्रत कहलाता है। क्योंकि मनुष्य को भोगों की अनुकूलता प्राप्त होने पर भी संयमित जीवन जीने की प्रतिज्ञा का पालन होता है। इसलिये मनुष्यगति में ही व्रत होते हैं, स्वर्ग के देवों को नहीं। कुशील नामक पाप की तरह अन्य समस्त पापों में इसप्रकार घटित कर लेना क्योंकि उसका विस्तार बहुत है।

स्वर्ग और नरक के अस्तित्व पर शंका करने वाले आधुनिक युग के मनुष्यों को इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि भले ही आज स्वर्ग और नरक लौकिक भूगोल के नक्शे में नहीं है, परन्तु आज से करीब ५०० साल पहिले अमरिका भी दुनिया के नक्शे में नहीं था, इसका अर्थ यह नहीं है कि अमरिका की सत्ता ही नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि इस जगत में जो दिखता है, उसी की सत्ता का स्वीकार करो, इस जगत में जो नहीं है, उसकी सत्ता भी इस जगत में नहीं है, स्वर्ग, नरक, कर्म, पूर्वभव, भाविभव, आदि हमें दिखाई नहीं देते हैं, इसलिये उनकी सत्ता भी इस जगत में नहीं है। ऐसा कहने वाले लोगों

को विचार करना चाहिए दिमाग भी आँखों से दिखाई नहीं देता है, तो दिमाग की सत्ता नहीं है? भले ही दिमाग नहीं दिखाई देता, परन्तु दिमाग का कार्य निरंतर होता रहता है।

यदि किसी पदार्थ में राग करेंगे और वह पदार्थ दूर जायेगा तो दुःख होगा, यदि किसी पदार्थ में द्वेष करेंगे और वह पदार्थ निकट आयेगा तो दुःख होगा, परन्तु यदि किसी पदार्थ में राग और द्वेष नहीं करेंगे और वह पदार्थ दूर जायेगा या निकट आयेगा, दुःख ही नहीं होगा। इसप्रकार के परम सत्य प्रयोजनभूत अनुभवगम्य उपदेश का निरुपण वीतरागी भगवान ने यथार्थ ही किया हैं। अब जरा सोचिए! **जिन्होंने प्रयोजनभूत तत्त्वों का निरुपण असत्य नहीं किया, वे अप्रयोजनभूत तत्त्वों का अयथार्थ निरुपण क्यों करेंगे?** कहने का आशय यह है कि स्वर्ग और नरकादि का निरुपण कदापि झूठा नहीं हो सकता।

उपरोक्त समस्त विवेचन का सार है कि तीन लोक का स्वरुप जान लेने मात्र से क्षयोपशमज्ञान में वृद्धि होगी परन्तु क्षयोपशमज्ञान बढने मात्र से आत्महित नहीं हो जाता। किसी भी लोक का स्वरुप जाने, अंतरंग में यह चैतन्य लोक की विस्मृति नहीं होनी चाहिए। चैतन्य लोक से बडा कोई लोक नहीं है, जिस चैतन्यलोक में लोक सहित अलोक भी सहज जानने में आता है। ज्ञान फैलाना बहुत आसान है, परन्तु फैले हुए ज्ञान में सुख न मानकर उपयोग को स्वभाव में समेटना आत्मा का पुरुषार्थ है।

जरा सोचिये! क्या तीन लोक सम्बन्धी भूगोल का ज्ञान भूतकाल में जीव ने कभी प्राप्त नहीं किया होगा? अरे भाई! ग्यारह अंग और नव पूर्व के ज्ञान में भूगोल का ज्ञान नहीं आता है क्या? इस जीव ने मुनिपद धारण करके ग्यारह अंग और नव पूर्व का क्षयोपशमज्ञान भी इकठ्ठा किया परन्तु ये क्षयोपशमज्ञान तरंगरुप है और मैं चैतन्यस्वभावी आत्मा तरंग से भिन्न हूँ। समुद्र की तरंगे दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है, परन्तु दर्पण चलायमान नहीं होता है। मैं भगवान आत्मा त्रिकाल निश्चल हूँ। अधिक याद नहीं रहेगा तो निराश मत होना, आत्म कल्याण के लिये अपनी निश्चलता की जागृति ही पर्याप्त है।

याद रहे, चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेने के बाद लोकाकाश के किसी भी प्रदेश पर रहने के लिये जीव तैयार होता है, क्योंकि द्रष्टि अंतर्मुख होने पर किसी भी प्रकार के आकाश के प्रदेश आत्मा को प्रभावित नहीं करते हैं।

१४. कर्मो का स्वरुप एवं रहस्य

घाती कर्म की समस्त ४७ प्रकृतियाँ पापरुप ही होती है, जबकि अघाति कर्म की १०१ प्रकृतिओं में कुछ प्रकृतियाँ पापरुप, कुछ प्रकृतियाँ पुण्यरुप और कुछ प्रकृतियाँ मिश्ररुप होती है। घातीकर्म और अघातिकर्म की १४८ प्रकृतिओं में से १०० प्रकृतियाँ पापरुप और ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरुप है। १४८ प्रकृतिओं में से नामकर्म की २० प्रकृतियाँ मिश्ररुप होती है। शीत हवा का स्पर्श किसी जीव को अनुकूल और किसी जीव को प्रतिकूल लगती है, इसप्रकार स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की क्रमशः ८, ५, २ और ५ प्रकृतिओं में घटित कर लेना चाहिए।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अनतिचार, निरंतर ज्ञानोपयोग, संवेग अर्थात् संसार से भयभीत नहीं होना, शक्ति अनुसार त्याग, तपश्चर्या, साधु-समाधि, वैयावृत्य करना, अर्हंतभक्ति, आचार्यभक्ति, उपाध्याय भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यक में हानि न करना, मार्ग-प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य इन सोलह प्रकार के शुभभावों के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, इन्हें षोडश कारण भावना के नाम से भी जानते हैं।

रहस्य की खास बात तो यह है कि जिस शुभराग से तीर्थंकर प्रकृतिरुप पुण्य का बन्ध होता है, वह शुभराग भी पाप के उदय से उत्पन्न होता है, पुण्य के उदय से नहीं। क्योंकि घातीकर्म की समस्त प्रकृतियाँ पापरुप ही है। अतः पुण्य भी पाप ही है। एक मात्र वीतरागभाव ही धर्म है।

जब शुभराग उत्पन्न होता है, तब चारित्र मोहनीय कर्मरुप पाप का मंद उदय निमित्त होता है, परन्तु पुण्य का उदय नहीं है। ऐसा प्रश्न हो सकता है कि पाप के उदय से होने वाले भाव से पुण्य का बन्ध कैसे हो सकता है? ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी द्रष्टि में पाप हेय और पुण्य उपादेय है, अतः तुम्हें ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। वास्तव में पाप और पुण्य को समान मानने पर कर्म के उदय के निमित्त जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों में उपयोग के प्रयोग अनुसार नवीन कर्मो का बन्ध होता है।

यदि किसी व्यक्ति की यादशक्ति अधिक होती है, तो लोग कहते हैं कि देखो! उस व्यक्ति का पुण्य इतना प्रबल है कि उसे बहुत याद रहता है। वास्तव में उस व्यक्ति का पुण्य प्रबल नहीं है, बल्कि पाप का मंद उदय है। आपको ऐसा लग सकता हैं कि पुण्य प्रबल है ऐसा कहो या पाप का मंद उदय है ऐसा कहो, एक ही तो है। नहीं भाई! दोनों कथन का अर्थ एक नहीं है। **यादशक्ति अधिक होने में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है, ज्ञानावरण कर्म घातीकर्म है। घातीकर्म में पुण्य कर्म घटित नहीं हो सकता। याद रहे, अघाति कर्मो में ही पुण्य कर्म घटित होता है।**

कुछ लोग अनुकूल संयोग के वियोग को पाप का उदय मानते हैं। वास्तव में अनुकूल संयोग की प्राप्ति पुण्य के उदय के निमित्त से होती है। उस पुण्य का उदय समाप्त होने पर अनुकूल संयोग का वियोग हो जाता है, परन्तु उसमें पाप का उदय घटित करना ठीक नहीं है। जैसे कि तीर्थंकर भगवान को पुण्य के उदय से समवसरण आदि संयोगो की प्राप्ति होती है, जब पुण्य का उदय समाप्त हो जाता है, तब उन संयोगो का वियोग हो जाता है। तीर्थंकर भगवान सिद्ध पद को प्राप्त हो जाते हैं। समवसरण आदि के वियोग को पाप का उदय नहीं मानना, बल्कि पुण्य का उदय समाप्त होना ही मानना।

यदि कर्मो के नाम, भेद-प्रभेद, बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि स्थितियाँ याद नहीं रहे, तो भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

इस लोक में यहाँ ऐसे भी विद्वान हैं, जिनके जीवन में क्षयोपशमज्ञान ही एक मात्र ज्ञान है। स्वयं को क्षयोपशमज्ञान के कारण ज्ञानी मानना और मनाना यह सबसे बडा अपराध है। **अध्यात्ममार्ग में कितने शास्त्रों को याद रखा है? यह महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की जागृति कितनी है? यह महत्वपूर्ण है।**

कर्मो भेद-प्रभेद पर प्रवचन देते समय यदि माईक ठीक नहीं चल रहा हो, तो मन ही मन क्रोध आता है, परन्तु क्या करे? विडिओ रेकोर्डिंग होती हो, कोई बीच में आ जाये, तो क्रोध आता है। क्षयोपशमज्ञान होना अलग बात है और तत्त्व की यथार्थ समझ अलग बात है। कोई श्रोता प्रश्न पूछे तो क्रोध आता है कि तुम ऐसे उलटे-सीधे प्रश्न मत पूछो। अरे भाई! श्रोता को विशेष ज्ञान नहीं है, इसलिये तो प्रश्न पूछते हैं। वे सुनने के लिये बैठे हैं, क्योंकि वे स्वयं जानते नहीं हैं। परन्तु आप तो इतना जानते हो, फिर भी आपको वस्तु स्वरुप का स्वीकार नहीं हो रहा हैं, क्या आपको ऐसी जागृति रहती हैं?

सत्य तो यह है कि पढ लेना, रट लेना, जान लेना, पढा देना, लिख लेना, सारे जगत में घूमकर सीखा देना, ये सब अलग बात है और निरंतर चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से प्रत्येक स्थिति में समभाव रखना अलग बात है। **पढने योग्य किताबें आदि की लिखावट करने से अच्छा तो यह है कि जीवन ही ऐसा जीया जाये कि तुम्हारे बारे में दुसरे लोगों को लिखने का मन हो जाये।**

याद रहे, विद्वानों का क्षयोपशमज्ञान भी क्षणिक पर्याय है और उनमें जो रागादि भाव हैं, वे भी क्षणिक पर्याय है। उन पर्यायों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है, अतः उन्हें ज्ञेय मात्र जानना और स्वयं कषायी नहीं होना ही धर्म का मर्म है। **प्रत्येक आत्मा को चैतन्य स्वभावी देखना चाहिए। भूले हुए भगवान की भूलों को न देखकर भूलों से भिन्न परमात्मा को देखने पर अपनी पर्याय में जो भूलें पाई जाती हैं, वे भी क्षय को प्राप्त हो जायेगी।**

१५. प्रथमोपशम सम्यक्त्वपूर्व पंचलब्धि का रहस्य

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन प्रकार के सम्यक्त्व में से सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व ही प्रकट होता है। उपशम हुए कर्मो का क्षय आसानी से हो सकता है। सोये हुए शत्रु को मारना आसान होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त ही होता है। **अनादिकालीन मिथ्याद्रष्टी जिन पांच सीढियो को पार करके सम्यग्दर्शन की उपबब्धि प्राप्त करता है, उसे लब्धि कहते हैं।** क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये लब्धि है, यहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के जिज्ञासु जीवों के लिये पाँच लब्धि का प्रयोजनभूत विवेचन किया है।

१. क्षयोपशमलब्धि : तत्त्वविचार करने योग्य ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षयोपशम पांच इन्द्रिय और मन के निमित्त से प्रकट होना और उसका सदुपयोग करना। चारों गतियों के समस्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही मन होता है, मन के निमित्त से तत्त्वविचार करने की शक्ति होती है। अतः **चारों गतियों में सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है।**

२. विशुद्धिलब्धि : देव-शास्त्र-गुरु के उपदेश को सुनने के हेतु जीव को मोह का मंद होना। कषाय की मंदता सहित विनयवान शिष्य ही सद्गुरु के उपदेश को प्राप्त करने का अधिकारी है। धन के बल पर गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। **गुरु के ज्ञान की तिजौरी को खोलने के लिये विनय ही एक मात्र चाबी है। विनय से ही विवेक प्राप्त किया जा सकता है। विवेक से ही विनय की शोभा बढती है।**

३. देशनालब्धि : देव-शास्त्र-गुरु का उपदेश ग्रहण करना। देशना सुनने मात्र से देशनालब्धि प्रकट नहीं होती। वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धापूर्वक देशना सुननी चाहिए। **निश्चय द्रष्टि से सम्यग्द्रष्टी को ही देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा होती है, क्योंकि सम्यग्द्रष्टी को देव-**

शास्त्र-गुरु द्वारा उपदिष्ट भगवान आत्मा की अनुभूतिपूर्वक श्रद्धा होती है।

४. प्रायोग्यलब्धि : पूर्व में बंधे हुए कर्मों की सत्ता अंत:कोडाकोडी सागर प्रमाण रह जाये और नये कर्मो का बंध अंत:कोडाकोडी सागर प्रमाण उसके संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से क्रमश: घटता जाये और किसी-किसी पाप प्रकृतियों का बंध मिटता जाये उसे प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। **अध्यात्मद्रष्टि से देव-शास्त्र-गुरु के द्वारा ग्रहण किये हुए उपदेश का प्रयोग करना। प्रयोग करने का तात्पर्य भेदज्ञान का अभ्यास करना।**

यहाँ पाप प्रकृतियों का बंध मिटता जाता है, उस कथन को संवर धर्म नहीं समझना। क्योंकि **सम्यग्दर्शन के पूर्व संवरधर्म होता ही नहीं है।** जैसे कि मिथ्याद्रष्टी को तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि मिथ्याद्रष्टी को उस प्रकृति के बंध के अभाव में संवर धर्म प्रकट हुआ है।

५. करणलब्धि : करण अर्थात् परिणाम। अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन प्रकार के परिणामों में जीव का मिथ्यात्व इतना मंद हो जाता है कि उसे अंतर्मुहूर्त काल में ही मिथ्यात्व के उदय के अभाव के निमित्त से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती ही होती है। इन पांच लब्धियों का विस्तृत वर्णन श्री नेमिचन्द्राचार्य रचित लब्धिसार से जानना। पण्डित श्री टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी इन लब्धियों का वर्णन किया है, विस्तार से वहीं से जानना।

उपरोक्त पांच में से चार लब्धियाँ भव्य या अभव्य जीवों के हो सकती है। परन्तु पांचवी करणलब्धि के अंतर्मुहूर्त काल में सम्यग्दर्शन प्रकट होता ही है या ऐसा भी कह सकते हैं कि जिस जीव को अंतर्मुहूर्त काल में सम्यग्दर्शन प्रकट होना होता है, वही जीव करणलब्धि में प्रवेश करता है। याद रहे, करणानुयोग के शास्त्रों में पांच लब्धियों का स्वरुप विस्तार के स्पष्ट किया है, परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साधक जीव परिणामों की गिनती करने नहीं बैठते। वे तो त्रिकाली चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में ही रुचिवान होते हैं। **निज शुद्धात्मा की जागृति रहना ही पांच लब्धियों**

को प्रकट करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय है। यदि आपको कर्मो के भेद-प्रभेद याद नहीं रहते, तो निराश होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिन्होंने मात्र पांडित्य के प्रदर्शन के लिये इन भेदों को पढ लिया, याद कर लिया, पढा दिया, उन्हें भी प्रतिक्षण चैतन्य स्वभाव की जागृति रहती हो, ऐसा नियम नहीं है।

१६. द्रव्यानुयोग का रहस्य

जिन शास्त्रों में छह द्रव्य, सात तत्त्व, स्व-पर भेदविज्ञान, चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का वर्णन करके आत्मानुभूति के माध्यम से वीतरागता प्रकट करने का उपदेश किया हो, उन्हें द्रव्यानुयोग के शास्त्र कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का केन्द्रबिन्दु भगवान आत्मा है। द्रव्यानुयोग में भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरुप का प्रतिपादन किया गया है। निर्विकल्प आत्मानुभूति हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्विकल्प आत्मानुभूति का स्वरुप द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में सूक्ष्मरुप से प्रकट किया है। श्री कुंदकुंद आचार्य जी रचित समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय संग्रह, श्री नेमिचन्द्र आचार्य जी रचित द्रव्यसंग्रह, आदि द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं।

द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में अधिकांश अनुभवगम्य कथन होते हैं। आत्मानुभूति की प्राप्ति हेतु भेदविज्ञान करने की कला द्रव्यानुयोग के शास्त्रों से सीखने को मिलती है। **द्रव्यानुयोग को जैनधर्म का विज्ञान भी कहते हैं।** जैसे विज्ञान की कक्षा में पढाये गये विषयों पर प्रयोगशाला में प्रयोग होते हैं, ऐसे ही **द्रव्यानुयोग के सिद्धांतो का ज्ञान की प्रयोगशाला में भेदविज्ञान करके प्रयोग करना चाहिए।**

१७. द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरूप एवं रहस्य

१) द्रव्य : गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। गुण और पर्याय के समुदाय को द्रव्य कहते हैं। इस जगत में जो कुछ भी है, वह सब द्रव्य है, जो नहीं है, वह द्रव्य भी नहीं है। इस जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो नहीं है। अतः प्रत्येक वस्तु को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य बदलता है। प्रत्येक द्रव्य बदलता होने पर भी सत्तारुप रहता है, इस कथन में **बदलता** शब्द पर्याय को और **है** शब्द गुण को बताता है। विश्व में जाति की अपेक्षा से छह द्रव्य और संख्या की अपेक्षा से अनन्त द्रव्य रहते हैं।

१. जीव : जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञानदर्शनरुप शक्ति है, उसे जीव कहते हैं। छह द्रव्यों में एक मात्र जीव द्रव्य ही जानता-देखता है, जीव के अतिरिक्त अन्य पांचो द्रव्यों का निर्णय करने वाला भी जीव ही है, अतः जीव द्रव्य को सर्वप्रथम क्रम पर रखा है। हमें जीव द्रव्य का स्वरुप जीव को समझने के लिये और पुदगल आदि पांच द्रव्यों का स्वरुप भी जीव को समझने के लिये ही जानना है।

जीव द्रव्य के संसारी और मुक्त, संसारी जीव के स्थावर और त्रस आदि अनेक भेद हैं। जीव असंख्यात प्रदेशी है और इस जगत में अनन्त जीव रहते हैं। जीवत्व शक्ति के कारण ही चेतन द्रव्य को जीव नाम प्राप्त हुआ है।

२. पुदगल : जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण- ये गुण हो, उसे पुदगल कहते हैं। परमाणु और स्कंध ऐसे दो भेद होते हैं। **जिस पुदगल का दूसरा भाग न हो सके, उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु के बंध को स्कंध कहते हैं।** परमाणु के बंध के अर्थ दो परमाणु मिलकर एक हो जाते हो ऐसा नहीं समझना। बंध की परिभाषा में स्पष्ट लिखा है कि **अनेक चीजों में एकपने का ज्ञान कराने वाले सम्बन्ध विशेष को बंध कहते हैं।** अनेक परमाणु अनेक ही होते हैं, परन्तु उसमें एकपने का ज्ञान होता है, उसे स्कंध कहते हैं। पुदगल द्रव्य अनन्तान्त हैं। पुदगल संख्यात, असंख्यात और

अनन्त प्रदेशी भी होते हैं। वास्तव में प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र, स्वाधीन और अनन्त शक्तिशाली है। कुछ लोग अंधकार और छाया को काल्पनिक मानते हैं। परन्तु वे काल्पनिक नहीं है। उनकी सत्ता भी जगत में हैं। अंधकार, छाया आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी रचित द्रव्यसंगह की १६ गाथा में इसप्रकार स्पष्ट किया है।

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संथाण भेद तम छाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।। १६ ।।

अर्थ : शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, आकार, खंड, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप सहित पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

३. धर्म : स्वयं गति करते हुए जीव और पुदगल को गमन करते समय गति करने में जो निमित्त होता है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे - मछली को गमन करने में पानी निमित्त है।

यहाँ जैनधर्म को धर्म और अन्य धर्मो को अधर्म द्रव्य नहीं समझना चाहिए। **धर्म द्रव्य स्वयं गमन नहीं करता है, क्योंकि धर्म द्रव्य में क्रियावती गुण न होने से गमन करने की शक्ति नहीं है।** धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है और संख्या की अपेक्षा से एक है।

४. अधर्म : स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरुप परिणमित होते हुए जीव और पुदगल को स्थिर होने में जो निमित्त होता है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे - गति करते मुसाफिर को स्थिर होने में वृक्ष की छाया निमित्त होती है। यहाँ वृक्ष की छाया को अधर्म द्रव्य नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यह तो मात्र द्रष्टांत है। वृक्ष की छाया पुदगल की पर्याय है और अधर्म द्रव्य अरुपी है।

सिद्ध भगवान लोकाग्र विराजमान है, उसमें अधर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्त मात्र है। **वास्तव में आत्मा की उपादानगत योग्यता के कारण सिद्ध भगवान लोकाग्र स्थित है।** अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है और संख्या की अपेक्षा से एक है।

५. आकाश : जीवादि पाँचों द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। आकाश द्रव्य अरुपी है। इसलिये आंखो से दिखाई नहीं देता है। आंखो से दिखाई देने वाली दीवारों से हम कमरे के आकाश का अनुमान करते हैं। यहाँ बादल को आकाश द्रव्य नहीं समझना चाहिए। क्योंकि बादल पुदगल द्रव्य की पर्याय है।

अन्य पांच द्रव्यों की अपेक्षा से आकाश के दो भेद हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश। जिस आकाश में जीवादि पांच द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और जिस आकाश में जीवादि पांच द्रव्य नहीं रहते हैं, उसे अलोकाकाश कहते हैं। **आकाश में पुदगलादि द्रव्य रहने से आकाश के अस्तित्व का नाश नहीं हो जाता।** जैसा कि एक बैग में दस पुस्तके रह सके ऐसी शक्ति है, जब उस बैग में पुस्तके रख देते हैं, तब भी दस पुस्तके रहें ऐसी खाली जगह मौजुद है, वरन दस पुस्तके रहतें कैसे? खास बात यह है कि आकाश में पुदगलादि द्रव्य रहने से आकाश की सत्ता का नाश नहीं हो जाता

६. काल : अपनी-अपनी अवस्थारुप परिणमित जीवादि द्रव्यों के परिणमन में जो निमित्त होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। जैसे - कुम्हार के चाक को घूमने के लिये लोहे की कील निमित्त होती है। काल द्रव्य को निश्चय काल कहते हैं। मिनिट, घण्टा, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष को व्यवहार काल कहते हैं। अलोकाकाश में काल द्रव्य नहीं है, फिर भी लोकाकाश में स्थित काल द्रव्य अलोकाकाश के परिणमन में निमित्त होते हैं। **कार्य होने में निमित्त को कार्य के स्थान पर होना अनिवार्य नहीं है।** जैसे राग भारत में उत्पन्न होता है, परन्तु राग का निमित्त अमरिका में हो भी सकता है, सिद्धशिला पर विराजमान भगवान भी हो सकते हैं।

छह द्रव्यों में जीव और पुदगल ये दो द्रव्य ही मुख्य हैं। अन्य चार द्रव्य निमित्त की मुख्यता से समझने चाहिए, फिर भी वे चारों द्रव्य अपनी-अपनी स्वसत्ता की अपेक्षा से वे उपादानरुप ही है।

साधक जीव को छह द्रव्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण बातें जानने पर विश्व का स्वरुप समझने सरलता रहेगी।

छह द्रव्यों में एक मात्र जीव द्रव्य चेतन है, जबकि अन्य पाँचों द्रव्य अचेतन हैं। छह द्रव्यों में एक मात्र पुद्गल द्रव्य रुपी है, जबकि अन्य पाँचों द्रव्य अरुपी हैं। छह द्रव्यों में जीव और पुदगल द्रव्य में ही क्रियावती और वैभाविक गुण है, अन्य चार द्रव्यों में नहीं। क्रियावती गुण के कारण जीव और पुदगल आकाश के एक प्रदेश से दुसरे प्रदेश पर गमन करते हैं और स्थितिरुप परिणमित होते हैं। गति और स्थिति ये दोनों क्रियावती गुण की ही पर्यायें है। वैभाविक गुण के कारण जीव और पुदगल परद्रव्य निमित्त से विभावरुप परिणमित होते हैं। वैभाविक सभी जीवों और पुदगलों में होता है, अत: **सिद्ध भगवान में भी वैभाविक गुण होता है, सिद्ध भगवान को वैभाविक गुण का शुद्ध परिणमन होता है।**

जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य बहुप्रदेशी होने अस्तिकाय है, काल द्रव्य एकप्रदेशी होने अस्तिकाय नहीं है। यद्यपि पुदगल परमाणु भी एकप्रदेशी है, फिर भी उसमें परमाणु का बन्ध होकर स्कन्ध बहुप्रदेशी होने की शक्ति होने से परमाणु को भी व्यवहार से अस्तिकाय कहा है।

जीव द्रव्य ज्ञानानन्द स्वभावी होने से पुदगलादि पाँच अजीव द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है। छह द्रव्यों को जानने से समस्त विश्व का ज्ञान होता है। जगत का स्वतंत्र स्वरुप समझे बिना आत्मा का यथार्थ स्वरुप समझ में नहीं आता है। **द्रव्य की स्वतंत्रता समझने से परपदार्थों में से कर्तृत्वबुद्धि दूर होती है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होता है, इस सत्य को समझने से परद्रव्य के परिणमन में फेरफार करने की वृत्ति छूट जाती है।**

२) गुण : जो द्रव्य के समस्त भागों में और उनकी सर्व अवस्थाओं में पाया जाये, उसे गुण कहते है। द्रव्य कहकर द्रव्य को, समस्त भागो में कहकर क्षेत्र को, सर्व अवस्थाओं में कहकर काल को और गुण कहकर भाव को समझाना चाहते हैं।

छहों द्रव्यों में दो प्रकार के गुण होते हैं। **सामान्य गुण और विशेष गुण।** जो गुण सब द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं और जो

गुण सब द्रव्यों में न रहकर किसी विशिष्ट द्रव्य में रहते हो, उन्हें विशेष गुण कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में मुख्यरुप से छह सामान्य गुण होते हैं।

१. अस्तित्व गुण : जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश न हो उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। अस्तित्व गुण के कारण यह सिद्ध होता है कि जब आदिनाथ भगवान थे, तब भी मैं था। **आत्मा को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। आत्मा की रक्षा कोई अन्य द्रव्य नहीं कर सकता। मैं आत्मा स्वतंत्र अनादि-अनन्त, स्वतःसिद्ध, स्वाधीन, अनुत्पन्न अविनाशी हूँ। किसी परद्रव्य से या किसी संयोगों से मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है और मेरा कदापि नाश भी नहीं होगा, ऐसा समझने से मरण का भय मिट जाता है।**

अस्तित्व गुण को जानने से प्रत्येक द्रव्य की त्रिकाल सत्ता का ज्ञान होता है, जगत में कोई भी वस्तु, वस्तु में नहीं खो जाती बल्कि ज्ञान में से खो जाती है और जब वह वस्तु ज्ञान में जानने में आ जाती है, तब हम कहते हैं कि खोई हुई वस्तु वापिस मिल गई।

२. वस्तुत्व गुण : जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत) हो उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। वस्तुत्व गुण के कारण यह सिद्ध होता है कि जब आदिनाथ भगवान थे, तब भी मैं जान रहा था और निरंतर नित्य जान रहा हूँ।

आत्मा में वस्तुत्व गुण होने से आत्मा के प्रत्येक गुण का प्रयोजनभूत कार्य अर्थात् निर्मल स्वभावरुप परिणमन प्रतिसमय हो रहा है। आत्मा को वस्तुत्व गुण की मुख्यता से वस्तु कहते हैं। आत्मा स्वयं वस्तुपने को कदापि छोडता नहीं है। **आत्मा के गुण आत्मा में ही बसते हैं, शरीर या परद्रव्य में नहीं बसते हैं इसलिये आत्मा को किसी भी परद्रव्य का आलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं है।** आत्मा के गुणों का सहज कार्यान्वित रहना आत्मा के वस्तुत्व गुण का कार्य है।

३. द्रव्यत्व गुण : जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहे उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। द्रव्यत्व गुण के कारण यह सिद्ध होता है कि जब आदिनाथ भगवान थे, तब जिस ज्ञेय को मैं जान रहा था,

वह ज्ञेय अलग था और अभी जिस ज्ञेय को जान रहा हूँ, वह ज्ञेय अलग है।

आत्मा की पर्याय निरंतर अपने में से उत्पन्न होती रहती है। आत्मा की कोई भी पर्याय शरीर या परद्रव्य से परिणमित नहीं होती है। द्रव्यत्व गुण के कारण अज्ञान अवस्था में भी आत्मा की पर्याय निरंतर बदलती रहती है। **ज्ञान का विकास ज्ञान से ही होता है, शरीर या शरीर की इन्द्रिय, शास्त्र या गुरु से ज्ञान में विकास नहीं होता है। सिद्धावस्था में भी आत्मा की पर्यायें निरंतर पलटती रहती हैं। केवलज्ञान आदि पर्यायें भी काल की अपेक्षा बदलती रहती हैं।**

४. प्रमेयत्व गुण : जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। जब आत्मा किसी ज्ञेय को जानता है, तब आत्मा के ज्ञान गुण की मुख्यता समझना और कोई ज्ञेय का ज्ञान में जानने में आये, वहाँ उस ज्ञेय की प्रमेयत्व गुण की मुख्यता समझना। प्रमेय=ज्ञेय, प्रमाण=ज्ञान और प्रमाता=ज्ञाता।

अज्ञानी को स्वयं का जानना स्वभाव रुचिकर नहीं लगता है, वह चाहता है कि मैं जगत के जीवों के ज्ञान का ज्ञेय बनूं। वह प्रधानमंत्री को जानता है, इस बात में उसे आनन्द नहीं आता है, परन्तु वह प्रधानमंत्री के ज्ञान का ज्ञेय (प्रमेय) बनता है, तब उसे अधिक आनन्द आता है कि प्रधानमंत्री भी मुझे जानते हैं। वह हमेशा यही प्रयास करता है कि दुनिया उसे जाने। लाखों जीव उसे जाने, करोडों जीव उसे जाने। **भाई! तुझे अनन्त सिद्ध भगवान जानते हैं, यह सत्य तुझे याद क्यों नहीं आता?** क्योंकि तुझे अज्ञानी मूर्ख लोग जानते हैं, उस बात का ही आनन्द आता है परन्तु केवलज्ञानी जानते हैं, उसका आनन्द नहीं आता। सत्य तो यह है कि अज्ञानी तो ऐसा जानते हैं, जैसा वह व्यक्ति नहीं है और केवली तो जैसा है, वैसा स्पष्ट जानते हैं।

प्रमेयत्व गुण के कारण आत्मा ज्ञान में जानने में आ सकता है। केवलज्ञान की सिद्धि होती है। निज आत्मा में प्रमेयत्व गुण होने से आत्मज्ञान की सिद्धि होती है। केवलज्ञान का आधार आत्मज्ञान होने से

आत्मा का प्रमेयत्व गुण आत्मा के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है। **आत्मा अरुपी है और वर्तमान में अज्ञानी का ज्ञान अल्प है, फिर भी आत्मा में प्रमेयत्व गुण होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से आत्मा का ज्ञान हो सकता है। जड इन्द्रियों से, विकल्प या राग से आत्मा जानने में नहीं आ सकता है इसलिये आत्मा को अलखअगोचर कहते हैं। आत्मा में ज्ञान गुण और प्रमेयत्व गुण होने से स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा अवश्य जानने में अनुभव में आये ऐसा है।**

५. अगुरुलघुत्व गुण : जिस शक्ति के कारण एक द्रव्य दुसरे द्रव्यरुप नहीं हो जाता, एक गुण दुसरे गुणरुप नहीं हो जाता और द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। सामान्य रुप से अगुरुलघु अर्थात् छोटा या बडा नहीं होना। एक गुण भी एक द्रव्य में से निकलकर किसी दुसरे द्रव्य में चला नहीं जाता, यदि ऐसा हो तो एक द्रव्य छोटा और दूसरा द्रव्य बडा हो जायेगा, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। अतः अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य की एकरुपता निरंतर बनी रहती है, द्रव्य छोटा-बडा होकर अनेकरुप नहीं हो जाता।

१. अगुरुलघुत्व के कारण अनन्त गुणों का घनपिण्ड आत्मा शरीरादि रुप परिणमित नहीं होता है। २. दो जीव द्रव्य का स्वक्षेत्र भी कदापि एक नहीं हो जाता। ३. इस गुण के कारण जीव के एक गुण की पर्याय अन्य गुण की पर्यायरुप नहीं होती है। ४. इस गुण के कारण द्रव्य के समस्त गुण सत्‌रुप ही रहते हैं, असत्‌रुप नहीं हो जाते हैं। ये चारों ही वाक्य जीव के क्रमशः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की स्वतंत्रता के सूचक हैं।

मैं स्वतंत्र ज्ञानानन्द स्वभावी पदार्थ हूँ। जगत के समस्त द्रव्य मुझसे त्रिकाल भिन्न है, ऐसी भेदज्ञानरुप ज्योति का उदय इस गुण को समझने से होता है। आत्मा परद्रव्य के आधीन नहीं है। आत्मा परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा का एक गुण दुसरे गुण का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा की कोई भी पर्याय परद्रव्य की पर्याय का कुछ भी नहीं कर सकती। यदि पर से आत्मा का और आत्मा से पर का कार्य होता हो

तो आत्मा अन्य परद्रव्यरुप परिणमित होकर नष्ट हो जायेगा, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता है और न ही हो सकता है।

आत्मा में अगुरुलघुत्व गुण होने से आत्मा के प्रदेशों और गुणों की संख्या कदापि अधिक या अल्प नहीं हो जाती है। आत्मा और आत्मा के गुण सदैव पूर्ण शक्तिशाली ही रहते हैं। आत्मा में अपने कारण ही पर्याय में परिणमन होता है।

६. प्रदेशत्व गुण : जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। जगत में कोई भी द्रव्य निराकार नहीं होता, क्योंकि प्रदेशत्वगुण सामान्य गुण है, अतः समस्त द्रव्य आकार सहित ही होते हैं।

इस गुण को जानने से यह ज्ञान होता है कि **प्रत्येक आत्मा का कोई न कोई आकार होता है, आत्मा निराकार नहीं होता है। आत्मा का आकार होने पर भी आत्मा को किसी अपेक्षा से निराकार कहा है।** आत्मा को रुप नहीं होने से आत्मा को निराकार कहा है। आत्मा का अरुपी आकार इन्द्रियगम्य नहीं है, इस अपेक्षा से निराकार कहा है और आत्मा का अरुपी आकार ज्ञानगम्य है, इस अपेक्षा से साकार कहा है। **आत्मा लोक या शरीर में रहता नहीं है, बल्कि आत्मा अपने असंख्यात प्रदेशों में ही रहता है।** आत्मा जितने प्रदेशों में फैलता है, उतने प्रदेशों से आत्मा के आकार का निर्णय होता है। यद्यपि सिद्ध भगवान का आकार सादि-अनन्त काल तक एकरुप ही रहता है, फिर भी उसमें भी पर्याय अपेक्षा से प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। **आत्मद्रव्य, आत्मा के गुण और आत्मा के पर्याय, इन तीनों का आकार एक ही होता है।**

क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव में आत्मा निराकार नहीं है, इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया है।

प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्व नाम का सामान्य गुण होता है। आत्मा जीव द्रव्य है इसलिये आत्मा का भी कोई न कोई आकार अवश्य होता है, परन्तु आत्मा का आकार इन्द्रिय के द्वारा अनुभव में नहीं आता तथा निर्विकल्प

अनुभूति के समय आत्मा का आकार द्रष्टि का विषय नहीं बनता इसलिये आत्मा को निराकार कहा जाता है।

सिद्ध भगवान को भी आकार होता है। अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकार के रुप में सिद्ध भगवान होते हैं। जैसे पानी जिस पात्र में रहता है, उस पात्र के अनुरुप पानी का आकार होता है। ऐसे ही संसारी जीव देहप्रमाण होते हैं। याद रहे, सिद्ध भगवान अशरीरी होते हुए भी साकार है। जैसे - पानी को किसी बर्तन में भर कर फ्रिज में रखने से थोडे समय बाद वही पानी बरफ हो जाता है, उस बरफ को बर्तन से दूर करने के बाद भी उसका आकार अन्तिम बर्तन जैसा ही रहेगा, ऐसे ही सिद्ध भगवान का आकार भी अंतिम देहप्रमाण समझना चाहिए। जैसे बरफ का आकार अंतिम पात्र से थोडा कम होता है, तब ही बरफ उस बर्तन से अलग होता है, ऐसे ही सिद्ध भगवान का आकार भी अंतिम देह से किंचित् न्यून (थोडा छोटा) होता है, जिससे अंतिम देह से मुक्त होकर सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग में विराजमान होते हैं।

जैसे बरफी का टुकडा आकार सहित है, ऐसे ही आत्मा भी आकार सहित है। जिस समय बरफी का अनुभव होता है, उस समय भी बरफी को चबाते समय कोई न कोई आकार तो अवश्य होता है, उसी तरह आत्मा के अनुभव के समय भी आत्मा का कोई न कोई आकार तो अवश्य होता है। जैसे बरफी को चबाते समय भी बरफी का आकार अनुभव में नहीं आता, बल्कि उसकी मीठास का ही अनुभव होता है, ऐसे ही आत्मानुभव में आत्मा के आकार का अनुभव नहीं होता, आत्मा के ज्ञान-सुख आदि अनन्त गुणों के अभेद, अखण्ड, एक स्वरुप का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्प अनुभव ही होता है। जैसे बरफी के आकार की ओर द्रष्टि जाने से उसकी मीठास का अनुभव छूट जाता है। ऐसे ही आत्मा के आकार की ओर द्रष्टि जाने से आत्मा का अतीन्द्रिय आनंद भी छूट जाता है।

जैसे अनुभूति के समय लोकालोक जैसा है वैसा ही रहता है, ऐसे ही निर्विकल्प आत्मानुभूति के समय आत्मा का आकार भी यथावत् रहता

है। आत्मानुभूति के समय लोकालोक संबंधी विकल्पों के अभाव की तरह आत्मा का आकाररुप विकल्प का भी अभाव समझना चाहिए, यही कारण है कि आत्मानुभूति को निर्विकल्प आत्मानुभूति कहते हैं।

छह सामान्य गुणों को समझने से यह द्रढ निर्णय होता है कि मैं आत्मा अनादि-अनन्त स्वतंत्र हूँ, साथ ही विश्व की स्वतंत्र व्यवस्था स्वयं संचालित है। विश्व की व्यवस्था में हस्तक्षेप करना महाअपराध है। उसका फल संसार में बन्धन है। मैं मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, ऐसी द्रढ प्रतीति का फल संसार परिभ्रमण के अभावरुप मुक्ति है।

सामान्य गुणों की तरह प्रत्येक द्रव्य में अनन्त विशेष गुण होते हैं। जीव द्रव्य में ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-श्रद्धा-चारित्र आदि, पुदगल द्रव्य में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि, धर्म द्रव्य में गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य में स्थितिहेतुत्व, आकाश द्रव्य में अहगाहनहेतुत्व और काल द्रव्य में परिणमन हेतुत्व गुण ये मुख्यरुप से प्रत्येक द्रव्य में विशेष गुण होते हैं। विशेष गुण के कारण ही विश्व में रहने वाले अनन्त द्रव्यों को छह जातियों में विभाजित किया है। जैसे छह मुनि एक गुफा में आत्मा के ध्यान में लीन हैं, वे एक-दूसरों को हस्तक्षेप नहीं करते हैं, ऐसे ही **विश्व में छह द्रव्य अपने-अपने में लीन रहकर अपना-अपना कार्य करते हैं, एक-दूसरों के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करते हैं।**

३) पर्याय : गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। पर्याय को अवस्था, स्थिति, हालत, दशा, परिणमन, क्रिया, आदि नामों से भी जानते हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं और प्रत्येक गुण की भूतकाल की अनन्त, वर्तमानकाल की एक और भविष्यकाल की अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं अत: एक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्तान्त पर्यायें होती हैं। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण और उन गुणों की अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। **अनन्त द्रव्य, उनके अनन्तानन्त गुण और उनकी अनन्तानन्त पर्याय के समुह को विश्व कहते हैं। केवली भगवान विश्व के ज्ञाता-द्रष्टा हैं।**

पर्याय के परिणमन से गुण का त्रिकाल एकरुप छूट नहीं जाता। ज्ञान

जाननेरुप परिणमित होकर भी ज्ञानरुप ही रहता है। जैसे आमरस को चाँदी के पात्र में से सोने के पात्र में डालने पर भी वह आमरस एक पात्र से दुसरे पात्र में जाता तो है, परन्तु आमरस से मौसम्बी के रसरुप परिणमित नहीं हो जाता, वह आमरस, आमरस ही रहता है। ऐसे ही **ज्ञान पहिले समय में किसी एक ज्ञेय को जानकर दुसरे समय में किसी दूसरें ज्ञेय को जाननेरुप परिणमित होता है, फिर भी ज्ञान का मधुर रस, ज्ञान के मधुर रसरुप ही रहता है, राग के खट्टे रसरुप परिणमित नहीं हो जाता।**

पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है। पर्याय को द्रव्य की विरोधी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि पर्याय की अनित्यता के बोध होने पर ही तो द्रव्य की नित्यता का अनुभव होता है। माना जाता है कि रंगीन कपडे की अपेक्षा सफेद कपडा अधिक मैला होता है, परन्तु रहस्य यह है कि सफेद कपडा अधिक मैला नहीं होता परन्तु सफेद कपडे पर मैल दिखाई देता है। काला और सफेद विरोधी लगते हैं, परन्तु वे विरोधी है नहीं, काले पट्ट पर सफेद रंग से लिखने पर सफेद रंग दिखाई देता है, काला रंग तो सफेद रंग को उभारता है, काला, सफेद का विरोध नहीं करता। अत: **रागादि विकल्पों की अनित्यता में द्वेष न करके यह अभ्यास करना चाहिए कि रागादि अनित्य विकल्पों से भिन्न भगवान आत्मा नित्य है।**

विमान में सफर करते समय जब विमान आकाश में उपर होता है, तब स्थिर लगता है, जमीन पर उतरते वक्त उसकी गति तीव्र समझ में आती है। वास्तव में जमीन पर उतरने से पहले विमान की गति आकाश में अधिक तेज थी, फिर भी विमान की गति का बोध नहीं हो सका क्योंकि आकाश में स्थिर मकान नहीं थे, जिन्हें देखकर विमान की अस्थिर का बोध हो। जब जमीन पर उतरते समय बडे-बडे स्थिर मकान देखते हैं, तब विमान की गति का बोध होता है।

आशय यह है कि अस्थिरता और स्थिरता को विरोधी नहीं मानना चाहिए। वे दोनों एक-दूसरों के परिपूरक है। आत्मद्रव्य और आत्मा की पर्याय को परस्पर विरोधी नहीं जानना चाहिए। **जब अनित्य पर्याय में नित्य द्रव्य का अभेद एकत्वरुप अनुभव होता है, तब ही निर्विकल्प आत्मानुभूति होती है।**

१८. विश्व की स्वतंत्रता

आज के कम्प्युटर युग में स्वतंत्र जगत की व्यवस्था पर अधिक विश्वास रखा जाता है, अतः आज के युग में विश्व की स्वतंत्रता का सिद्धांत आसानी से समझ में आ सकता हैं। लोहे की कील समुद्र में डूब जाती है और हजारों टन का जहाज तैरता है। **द्रव्य की स्वतंत्रता का सिद्धांत जिस जीव की समझ में आ जाता है, उसे जगत में फेरफार करने की कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है, अनन्त दुःख से मुक्ति मिल जाती है।**

किसी व्यक्ति ने पूछा कि समुद्र के मध्य से कांटे को किनारे पर कौन लाया? उसने कहा हवा के बहने के कारण पानी के सहारे किनारे पर आया। फिर उसे पूछा कि हवा किसके कारण बही? उसने कहा, हवा तो अपने आप ही बहती हुई आई। फिर मैंने उसे कहा कि यदि हवा अपने आप बहती हुई आ सकती है, तो फिर पानी अपने आप बहता हुआ क्यों नहीं आ सकता? जब हवा और पानी अपने आप बहते हुए आ सकते हैं तो फिर कांटे अपने आप क्यों नहीं आ सकते? इससे यह सिद्ध होता है कि **प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्ररुप से ही परिणमित होता है। चूंकि द्रव्य के समूह विश्व है, अतः विश्व भी स्वतंत्ररुप से परिणमित होता है।**

गुण और पर्याय के समुदाय को द्रव्य कहते हैं। हम गुण को एक समय के लिये भी बदल नहीं सकते। हम पर्याय को एक समय के लिये भी बदलने से रोक नहीं सकते। आशय यह है कि हम गुण और पर्याय दोनों के कर्ता नहीं हो सकते अर्थात् हम द्रव्य के कर्ता नहीं हो सकते। **सार यह है कि हम द्रव्य के समूहरुप जगत के कर्ता नहीं हो सकते। सारा जगत नित्य स्वतंत्र एवं स्वाधीन है।**

पानी का स्वभाव उपर से नीचे की ओर बहना होता है, आग का स्वभाव नीचे से उपर को जाना होता है, हवा का स्वभाव तिरछा बहने का होता है। हिमालय से बहती हुई गंगा नदी का पानी बंगाल की खाडी तक पहुंचता है, उसे पहुंचाने वाला कोई ईश्वर नहीं है। क्योंकि हिमालय

उँच्चाई पर है और बंगाल की खाडी नीचाई पर है। पानी अपने स्वभावरुप परिणमित होता है। विचार करने पर छोटे बच्चे को भी समझ में आ सके, ऐसी बातों में बडे से बडे विद्वान लोग भी भ्रमित हो जाते हैं। फिर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। **जगत में रहकर भी जगत समस्त परपदार्थो से भिन्न रहने वाला निज शुद्धात्मा जब स्वतंत्ररुप से अनुभव में आता है, तब ही जगत के प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण के परिणमन की स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता समझ में आती है।**

भगवान जो करेगा, वह अच्छा करेगा। यह वाक्य बहुत छोटा है, परन्तु भगवान जो करेगा, वह अच्छा करेगा ऐसी मान्यता में भगवान को कर्ता माननेरुप मिथ्यात्वभाव पुष्ट होता है और भगवान मात्र ज्ञाता-द्रष्टा है, इस सत्य का स्वीकार नहीं हो सकता है। जगत में कुछ अच्छा होता है, ऐसे विकल्प में जगत में कुछ बुरा भी होता है, ऐसा विकल्प भी छुपा हुआ है। घटना में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना के कारण स्वयं भी ज्ञाता-द्रष्टा मात्र नहीं रहता है। भविष्य के विकल्पों में उलझकर, वर्तमान में प्रकट त्रिकाली निज भगवान आत्मा की ओर द्रष्टि ही नहीं जाती है। घटना की रुचि विशेष के कारण ही परमात्मा को घटना के भगवान का सम्बन्ध जोडता है। इसप्रकार भगवान जो करेगा, वह अच्छा करेगा। ऐसे मिथ्यात्व भाव को गाढ करके जीव ने अनन्त संसार परिभ्रमण किया। कुछ लोग कहते हैं कि हम मानते नहीं हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा सिर्फ बोलते हैं। **ज्ञानी कहते है कि भगवान जो करेगा, वह अच्छा करेगा, ऐसा बोलना निश्चय तो नहीं है, बल्कि व्यवहार भी नहीं है। ऐसे बोलने में भी अज्ञानी जीवों को वस्तु स्वरुप की स्वतंत्रता सम्बन्धी बेहोशी है।**

ईश्वर कर्तावादी कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि तुम दूसरों का अच्छा करो, भगवान तुम्हारा अच्छा करेगा। ज्ञानी उन्हें समझाते हैं कि हे जीव! तुम दूसरों का अच्छा करो और ईश्वर तुम्हारा अच्छा करे, इसकी जगह ईश्वर सीधा ही उसका अच्छा क्यों नहीं कर देता? और हाँ, यदि मैं दूसरों का अच्छा कर सकता हूँ तो फिर मैं अपना स्वयं का ही अच्छा क्यों नहीं करुं? वास्तव में जगत में कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं होता। **जगत के स्वरुप को स्वभाव की द्रष्टि से समझने पर ही रागादिभावों से मुक्ति मिल सकती है।**

भगवान ने इस जगत को बनाया है, तो फिर भगवान को किसने बनाया है? यदि भगवान ने इस जगत को बनाया है, तो जगत को बनाने से पहिले भगवान कहाँ रहते थे? वास्तव में यह जगत अनादि-अनन्त स्वतंत्र और स्वाधीन है।

महावीर का वारिस कौन? नामक कृति में पृष्ठ क्रमांक ५९ पर जगत के सत्य स्वरुप को समझने के लिये छह महत्त्वपूर्ण सिद्धांतो का वर्णन इसप्रकार किया है।

१. जगत में कुछ अच्छा नहीं है, २. जगत में कुछ बुरा नहीं है।
1. Nothing is Good, 2. Nothing is Bad.

३. जगत में कुछ नया नहीं है, ४. जगत में कुछ पुराना नहीं है।
3. Nothing is New, 4. Nothing is Old.

५. जगत में कुछ जल्दी नहीं है, ६. जगत में कुछ देरी से नहीं है।
5. Nothing is Early, 6. Nothing is Late.

जो जीव इन छह सिद्धांतो को समझकर उन्हें अपने जीवन में अपनाता है, वह जीव अनन्त सुखी होता है। उन सिद्धांतो का स्वरुप इसप्रकार है।

जगत में कोई वस्तु, व्यक्ति और घटना अच्छे या बुरे नहीं हैं। जो वस्तु किसी के लिये अच्छी होती है, वही वस्तु किसी दुसरे के लिये बूरी होती है। **वास्तव में अच्छापना या बुरापना वस्तु में नहीं होता, अच्छापना या बुरापना मान्यता में होता है।** आपने जो कपडे पहिने हैं, वे कपडे आपकी मान्यता में अच्छे हैं, परन्तु किसी फिल्मस्टार की मान्यता में वे ही कपडे बूरे हो सकते हैं और वे ही कपडे किसी निर्धन की मान्यता में बहुत अच्छे हो सकते हैं। अत: ऐसा समझना कि आपके पहिने हुए कपडे अच्छे या बूरे नहीं हैं। क्योंकि वस्त्र में अच्छापना या बुरापना नहीं हैं। इसीप्रकार वस्त्र किसी को अच्छा या बुरा मानने के लिये प्रेरणा भी नहीं देते हैं। **जीव अपनी कमजोरी से पदार्थो को अच्छा मानकर राग और बुरा मानकर द्वेष करता है।**

समुद्र अच्छा भी नहीं है और बुरा भी नहीं है। जो व्यक्ति दूर से ही समुद्र की लहरों को देखता है, उसे समुद्र अच्छा लगता है और जो व्यक्ति समुद्र में डूब रहा हो, उसे समुद्र बुरा लगता है। वस्तु की तरह व्यक्ति में

भी ऐसा ही समझना चाहिए। कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा नहीं होता। जिस व्यक्ति को हम मित्र समझकर अच्छा मानते हैं, उसी व्यक्ति को कोई दुसरे लोग शत्रु समझकर बुरा मानते हैं। **व्यक्ति और वस्तु की तरह कोई घटना भी अच्छी या बूरी नहीं होती।** जैसा कि अपने घर में से कोई चोर एक लाख रुपये चुराकर चला जाये, तो वह अच्छा हुआ या बुरा हुआ? वहाँ भी अच्छा या बुरा नहीं हुआ। जिसके घर में से रुपये चोरी हुए, उसके लिये बुरा हुआ और चोर के लिये अच्छा हुआ। परन्तु वास्तव में यह क्या हुआ? अच्छा या बुरा? भाई! **यह तो मात्र हुआ। उस समय जो होने योग्य था वह हुआ। इसप्रकार जगत की कोई वस्तु, व्यक्ति और घटना, ये अच्छे या बूरे नहीं होते।**

अज्ञानी जिस पदार्थ में द्वेष करता है, उसे दूर करने का और जिस पदार्थ में राग करता है, उसे टिकाकर रखने का प्रयत्न करता है।

जिस पदार्थ में अज्ञानी राग करता है, उस पदार्थ का अहितकारी अन्य पदार्थ मानकर उस अन्य पदार्थ पर द्वेष करता है और जिस अन्य पदार्थ पर द्वेष करता है, उस पदार्थ का अहितकारी अन्य पदार्थ मानकर उस अन्य पदार्थ पर राग करता है। **मिथ्यात्व के वश होकर एक के कारण दुसरें पर और दुसरें के कारण तीसरें पर, इसप्रकार अनन्त पदार्थो के प्रति राग-द्वेष करता है। इसलिये मिथ्याद्रष्टी के कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।**

जैसा कि कोई व्यक्ति अपनी गाडी को प्रेम करता है। यदि रास्ते में पीछे से उसकी गाडी को टक्कर लगाता है, तो टक्कर लगाने वाले के प्रति द्वेष करता है और ट्राफिक पुलिस टक्कर लगाने वाले को दण्ड दे, तो ट्राफिक पुलिस के प्रति राग करता है। इसप्रकार मिथ्याद्रष्टी अनन्त कषाय करता है। राग और द्वेष ही उसके दु:ख के मूल कारण हैं। अज्ञानी जिस पदार्थ में राग करता है, उस पदार्थ के वियोग में दु:खी होता है और जिस पदार्थ में द्वेष करता है, उस पदार्थ के संयोग में दु:खी होता है। वह जिस पदार्थ में राग और द्वेष नहीं करता है, उस पदार्थ के संयोग और वियोग में दु:खी नहीं होता है। इसप्रकार वीतरागता की प्राप्ति होना ही सुखी होने का उपाय है। जो स्वयं को सुखी कहते हैं और भौतिक वस्तुओं को सुख का कारण मानते हैं, वे भौतिक वस्तुओं के आधीन होने से दु:खी ही है,

सुखी नहीं। **सुखी वे ही है, जिन्हें सुखी होने के लिये परवस्तु के आधीन नहीं होना पडे। स्वाधीनता का दुसरा नाम सुख है।**

अज्ञानी को अपने पास परिग्रह है, उस बात का आनन्द नहीं आता, बल्कि ऐसा परिग्रह दुसरे व्यक्ति के पास नहीं है और मेरे पास है, इस कारण अधिक आनन्द आता है। जैसे कि अज्ञानी को एक लाख रुपये के हीरे की अंगुठी पहिनने का आनन्द आता है, वह दुसरे लोगों को अपनी हीरे की अंगुठी दिखाना चाहता है। यद्यपि एक लाख की अंगुठी से भी महान आँख है, परन्तु अपनी आँखों को दुसरे लोगों के सामने दिखाना नहीं चाहता है। क्योंकि आँखे तो सभी लोगों के पास है। उसे हीरे की अंगुठी अपने पास है, दुसरों के पास ऐसी अंगुठी नहीं है, इस बात का आनन्द उसे अधिक आता है। **परपदार्थों में चित्र-विचित्र कल्पना करके स्वयं को भूलना सबसे बडा अपराध है, अज्ञानी ऐसे अपराध में भी सुख मानता है, अज्ञानी का सब से बडा दुःख यही है।**

प्रथम दो सिद्धांतो की तरह तीसरा और चौथा सिद्धांत भी समझना चाहिए। इस जगत में कुछ नया या पुराना नहीं है। किसी व्यक्ति के लिये जो वस्तु नई होती है, वही वस्तु किसी अन्य व्यक्ति के लिये पुरानी भी हो सकती है। परन्तु मान्यता के कारण वस्तु नई या पुरानी नहीं हो जाती है। कोई महिला दुकान में से साडी खरीदकर लाती है, तब मानती है कि आज मैं नई साडी खरीदकर आई। परन्तु वह साडी दुकान में छह महिने से रखी हुई थी। दुकानदार के लिये वह साडी सबसे पुरानी थी, इसीप्रकार जिस दिन दुकानदार के पास वह साडी आई, तब दुकानदार ने माना कि आज ही आया हुआ नया माल है। जब यह साडी होलसेलर के पास आती है, तब वह मानता है कि आज ही आया हुआ नया माल है, परन्तु साडी फैक्टरी में एक साल से रखी हुई थी। जब यह महिला इस साडी को एक साल तक पहिनने के बाद पुरानी हो गई ऐसा मानकर किसी भिखारी को दे देगी तब भिखारी ऐसा मानेगा कि आज ही मिली है, नई है। इसप्रकार एक वस्तु किसी के लिये नई है, तो वही वस्तु किसी के लिये पुरानी होती है, यही सापेक्षता है।

भौतिक वस्तु के सम्बन्ध में समझ सकते हैं कि कुछ नया या पुराना नहीं है। परन्तु जब कोई ऐसा पूछे कि आत्मा कैसा है? नया या पुराना? तब क्या उत्तर देंगे? बस, यही कि आत्मा भी नया या पुराना नहीं है। जैसा है, वैसा है। यदि आत्मा को अपेक्षा सहित समझे तो आत्मा पुराना भी है और नया भी है। आत्मा इतना पुराना है कि उससे पुराना कुछ भी नहीं है और आत्मा इतना नया है कि उससे नया कुछ भी नहीं है। **द्रव्यद्रष्टि से आत्मा सबसे पुराना अनादिकालीन है और पर्यायद्रष्टि से आत्मा सबसे नया वर्तमान में ही उत्पन्न हुआ है। इसप्रकार आत्मा का अपेक्षा सहित विचार करने पर आत्मा का अनेकांतपना समझ में आता है।**

इसप्रकार अन्तिम दो सिद्धांतो का भी सत्य स्वरुप समझना चाहिए। जगत की कोई घटना जल्दी नहीं होती या कोई घटना देरी से नहीं होती। किसी भी कार्य में अपनी कल्पना जोडने पर उस कार्य में जल्दी या देरी से ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं। आप किसी व्यक्ति को पांच बजे मिलना चाहते थे और वह व्यक्ति आपको सात बजे मिलना चाहता था, परन्तु आप उसे छह बजे मिले। तब आप कहेंगे कि मैं एक घण्टा देरी से मिला और वह व्यक्ति कहेगा कि मैं एक घण्टा जल्दी मिला। परन्तु छह बजे मिलना तो निश्चित ही था। वस्तु व्यवस्था के अनुसार वह घटना जल्दी या देरी से नहीं हुई। वह घटना तो समय पर ही हुई है।

जो लोग रास्ते पर लाल बत्ती के कारण गाडी में बैठे-बैठे हरी बत्ती होने का इंतज़ार करते हैं, वे जल्दी जाना चाहते हैं, परन्तु जा नहीं सकते हैं। क्योंकि जिस समय बत्ती हरी होनी होगी, उसी समय हरी होगी। समय से पहिले लाल से हरी होगी नहीं और समय होने पर लाल से हरी हुए बिना रहेगी नहीं। अब तो सरकार भी लोगों की आकुलता को समझ चुकी है, इसलिये चार रास्ते पर लाल बत्ती के साथ समय भी बताया जाता है कि जिससे लोगों को आकुलता उत्पन्न न हो कि कितनी सेकण्ड के बाद हरी बती होगी? वहाँ अब यह आकुलता तो उत्पन्न नहीं होती कि हरी बती कब होगी? परन्तु दूसरी आकुलता ऐसी शुरु होती है कि इतनी सेकण्ड कब खत्म होगी? समय को जानते हुए भी समय कब खत्म होगा, ऐसी

आकुलता क्या अज्ञानी की मूर्खता नहीं है? बडी मुश्किल से एक बत्ती पार करके दूसरी आकुलता उत्पन्न होती है कि आगे की बत्ती पर रुकना पडेगा तो। **अज्ञानी को सर्वज्ञ भगवान पर श्रद्धा नहीं होने से क्रमबद्धपर्याय को नहीं मानता और जल्दी होना और देरी से होना, ऐसे काल सम्बन्धी विकल्प और आकुलता करता है।**

वह जब सिनेमाग्रह में फिल्म देखने के लिये जाता है, तब वहाँ अपनी इच्छानुसार द्रश्य देखने मिले ऐसी अपेक्षा रखता है। वहाँ फिल्म के द्रश्यों का स्वयं प्रत्यक्ष अकर्ता होने पर भी फिल्म के द्रश्य को रोकने या दूर करने के विकल्प करके वह व्यर्थ में ही दु:खी होता है। यद्यपि फिल्म की रील में स्थित निश्चित द्रश्यों को निश्चित समय से आगे और निश्चित समय के पीछे नहीं किया जा सकता। उन्हें आगे या पीछे करना हमारे हाथ में नहीं है, हम तो उस फिल्म के जो निश्चित द्रश्य हैं, उन द्रश्यों के जानने-देखने वाले द्रष्टा ही है। तीन घण्टे की फिल्म में जो द्रश्य एक घण्टा और चालीस मिनिट पर निश्चित है, उसे जल्दी या देरी से नहीं किया जा सकता है। एक घण्टा और चालीस मिनिट से पहले अनेक प्रकार की आकुलता करने पर भी वह द्रश्य आयेगा नहीं और एक घण्टा और चालीस मिनिट पर वह द्रश्य आये बिना रहेगा नहीं। इसप्रकार एक घण्टा और चालीस मिनिट के बाद भी वह द्रश्य आयेगा नहीं।

जो घटना जिस समय घटित होना निश्चित है, वह घटना उसके घटित होने के समय से पहले या बाद में घटित नहीं होती अर्थात् प्रत्येक कार्य उसके समय पर ही होता है। **अत: जो भूतकाल में हो चुका, वर्तमान में हो रहा है और भविष्य में होगा, उसे योग्य समझकर स्वीकार करना चाहिए।**

किसी माँ के बीस साल के बेटे का मरण हो जाये, तो भी वह योग्य है अर्थात् उसकी तत्समय की योग्यता से ही मरण हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। **योग्य होने का अर्थ अच्छा हुआ ऐसा नहीं समझना चाहिए। योग्य होना अर्थात् होने योग्य होना।** इसप्रकार विचार करने पर इस जगत को देखने की अनेकांतद्रष्टि प्रकट होगी और कोई भी घटना आत्मा को विचलित नहीं कर सकेगी।

इन छह सिद्धांतो के माध्यम से जगत का स्वरुप समझने के बाद जगत में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने का भाव उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञानी को जगत का परिणमन सहज ही जानने में आता हैं। **जो भूल भूतकाल में हो चूकी हो, उसे भूल जानी चाहिए। अब तो वर्तमान में जीना चाहिए।** क्योंकि भूतकाल के विचारों में वर्तमान बिगाडने से वह वर्तमान भी एक समय के बाद भूतकाल हो जायेगा। इसप्रकार सुधरने से अधिक बिगडने का प्रमाण बढ जायेगा। **सार यह है कि भूतकाल को भूलो, वर्तमान को सम्हालो तो भविष्य सुधर जायेगा। हाँ, अच्छा पाठ सीखाने वाला भूतकाल हमेशा याद रखना चाहिए कि जिससे भूतकाल में हुई भूलों का पुनरावर्तन नहीं हो।**

१९. स्वरुप ही ऐसा है

संसार का स्वार्थी स्वरुप आपके जीवन में अनुभव में आये, तो दु:खी होने की आवश्यकता नहीं है। **क्षणिक का बोध होने पर ही नित्य का अनुभव होता है। याद रखो, तीन लोक और तीन काल में स्वरुप ही ऐसा है।** आग में हाथ डालने पर हाथ जलता है, क्योंकि आग का स्वरुप ही ऐसा है। ऐसे ही सांसारिक अनित्यता को सुखमय मानकर संसार के विषयों में प्रवर्तन करने का फल दु:ख ही है, क्योंकि संसार दु:खमय ही है। कोई व्यक्ति समुद्र के खारे पानी को मीठा बनाना चाहे, तो बन नहीं सकता क्योंकि समुद्र का स्वरुप ही ऐसा है, ऐसे ही **दु:खमय संसार को कदापि सुखमय नहीं बनाया जा सकता।**

परद्रव्य की ओर द्रष्टि करने पर दु:ख ही होता है, निज आत्मद्रव्य की ओर द्रष्टि करने पर सुख ही प्रकट होता है। क्योंकि वस्तु का स्वरुप ही ऐसा है। द्रव्य स्वभाव त्रिकाल टिककर रहता है, जबकि पर्याय निरंतर परिणमित होती है क्योंकि वस्तु का स्वरुप ही ऐसा है। किसी भी परद्रव्य

के साथ सम्बन्ध रखने का भाव ही दुःख का मूल कारण है। **पराधीनता ही दुःख का मूल कारण है। जब किसी व्यक्ति के अत्यंत निकट जाते हैं, तब द्वेष भी होने की सम्भावना बढ जाती है। सम्बन्ध में दरार भी पडे, तो भी आश्चर्य नहीं लगना चाहिए। याद रखो, संसार का स्वरुप ही ऐसा है।**

जीवन में अनेक दुःखद अनुभव होने के बाद भी अज्ञानी अनुभव से सीख नहीं लेता है। **अनुभव और आशा की जंग में आशा की जीत हो जाती है, अनुभव हार जाता है।** व्यक्ति पिघल जाता है, भावनाओं में बह जाता है। परन्तु याद रहे, जीवन के प्रत्येक क्षणिक के बोध को एक फूल समझना चाहिए। अज्ञानी क्षणिक के बोध के फूल को फेंक देता है, अर्थात् बोध लिये बिना ही भूल जाता है। वहीं दूसरी ओर **ज्ञानी उन क्षणिक के बोध के फूलों को याद रखकर फूलों की माला गले में पहिनकर चलते हैं। अतः भविष्य में कदापि क्षणिक पर्याय से सुख की अपेक्षा नहीं रखते हैं।**

अज्ञानी धन को सुखरुप मानता है, क्योंकि वह मानता है कि धन के कारण उन सभी भौतिक साधनों को प्राप्त किया जा सकता है, जिन भौतिक साधनों में वह सुख मानता है। सभी जीव अपने प्रयोजन की सिद्धि करना ही चाहते हैं। संसार की अनित्यता का स्वरुप समझने के बाद किसी भी घटना का इस श्रद्धा के बल पर सहज स्वीकार होता है कि स्वरुप ही ऐसा है। आज का मित्र, कल शत्रु, आज का शत्रु, कल मित्र बनता है, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है, **क्योंकि संसार का स्वरुप ही ऐसा है।** जो तुम्हें कहे तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता, वही व्यक्ति कल कह सकता है कि मैं तुम्हारे साथ जी नही सकता। सारा संसार अनित्यता से भरा हुआ है, वस्तु के यथार्थ स्वरुप को समझ लेने में ही समझदारी है क्योंकि आयुष्य अत्यंत अल्प है और प्रत्येक जीव को अनन्त की यात्रा के लिये अनन्त पुरुषार्थ करना है। **काल की काली घटा का विचार करके शीघ्रातिशीघ्र आत्महित कर लेना चाहिए, काल किसी का इंतज़ार नहीं करता। क्योंकि काल का स्वरुप ही ऐसा है।**

२०. उससे मुझे क्या?

स्वरुप ही ऐसा है, इस विषय अच्छी तरह समझकर संसार की अनित्यता से मुझे क्या? परपदार्थों से मुझे क्या? ऐसा विचार करके अनित्य से द्रष्टि हटाकर नित्य आत्मा में केन्द्रित करनी चाहिए। यदि किसी करोडपति को आलीशान गाडी से नीचे उतरता हुआ देखने पर भी आपको उससे प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं है। याद रखो, उससे मुझे क्या? किसी रुपवान के रुप को देखकर खुश होने की आवश्यकता नहीं है। याद रखो, उससे मुझे क्या?

माता-पिता का मरण हुआ, भाई-बहन की शादी हुई, बेटे-बेटी ने अपमान किया, फिर भी उन्हें अपने से पर जानने और मानने वाले ज्ञानी स्वयं को दु:खी नहीं मानते। उन्हें प्रतिक्षण जागृति रहती हैं कि उनसे मुझे क्या?

मात्र संसारीजनों से ही नहीं, भगवान महावीर को आज से करीब २५४० वर्ष पहले मुक्ति की प्राप्ति हुई थी। याद रखो, उससे मुझे क्या? सत्य तो यही है कि भगवान महावीर की मुक्ति की ओर द्रष्टि करने पर भी मेरी मुक्ति होने वाली नहीं है। अत: **किसी भी परद्रव्य एवं परद्रव्य की पर्याय से प्रभावित नहीं होकर निज परमात्मा का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।**

२१. मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ

स्वरुप ही ऐसा है और उससे मुझे क्या? इन विषयों को समझकर ऐसी अनुभूति हो कि मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ। बाह्य में प्राप्त अनुकूलता या प्रतिकूलता ज्ञायक में प्रविष्ट नहीं होती है। अत: आत्मसाधना के साधक जीवों को निरंतर यही चिन्तन-मनन करना चाहिए कि मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ। **जैसे ही विकार उत्पन्न हो कि याद रखना चाहिए कि**

मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ, क्योंकि निज चैतन्य स्वभावी ज्ञायक की ओर द्रष्टि करने पर विकारी भाव सहज ही विलय को प्राप्त हो जाते हैं।

अपनी पर्याय में मिथ्यात्व का व्यय होकर सम्यक्त्व प्रकट होने पर भी मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ। सम्यक्त्व की पर्याय ही नहीं केवलज्ञान और मोक्ष की पर्याय प्रकट होने पर भी मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ।

साधक जीव विश्व को विद्यालय मानकर प्रतिक्षण विश्व से कुछ न कुछ सीख प्राप्त करता है। युनिवर्सीटी को विश्वविद्यालय तो सभी कहते हैं, परन्तु न जाने कौन इस शब्द के अर्थ के मर्म को समझता होगा? **ज्ञानी आत्मा संसार की अनित्यता का स्वरुप समझ चुका है। वह जानता है कि संसार का स्वरुप ऐसा ही है, परन्तु उससे मुझे क्या? मैं तो चैतन्य स्वभावी ज्ञायक ही हूँ।**

२२. निमित्त और उपादान का रहस्य

विश्व की स्वतंत्रता को विशेषरुप से समझने के लिये निमित्त और उपादान का रहस्य समझना अत्यंत आवश्यक है। **प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की प्रतिसमय होने वाले परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति के काल में निश्चितरुप से कारण उपस्थित होते ही हैं। कार्य की उत्पादक सामग्री को ही कारण कहते हैं।** किसी भी वस्तु पर कारणपना तब ही घटित होता है, जब कार्य होता है। मुख्यरुप से कारण दो प्रकार के होते हैं। १. उपादान कारण २. निमित्त कारण।

जो स्वयं कार्यरुप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जो स्वयं कार्यरुप परिणमित न हो परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे - सोने की अंगुठी बनने में सोना उपादान कारण है और सोनी, अग्नि, ग्राहक आदि निमित्त कारण हैं।

उपादान कारण का कार्य के साथ उपादान-उपादेय सम्बन्ध होता है और निमित्त कारण का कार्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। सोने का अंगुठी के साथ उपादान-उपादेय सम्बन्ध है और सोनी का अंगुठी के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अज्ञानी की द्रष्टि निमित्ताधीन होने से वह मानता है कि कुम्हार देरी से आता है, इसलिये घडा देरी से बनता है, ऐसा नहीं है। ज्ञानी मानते हैं कि कुम्हार देरी से आता नहीं है, घडा देरी से बनता नहीं है और कुम्हार से घडा बनता नहीं है।

इस लोक में बेटे के नाम के आगे पिता का नाम लगता है, परन्तु माता का नहीं। क्योंकि माँ के पेट से निकलने वाले उस बेटे की माँ वही है, ऐसा तो जगत ने देखा है, परन्तु बेटे के पिता को प्रत्यक्ष रुप से नहीं देखा है। इसलिये बेटे के नाम आगे माँ का नहीं, बाप का नाम लगता है। उसीप्रकार उपादान से कार्य होता है, यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, परन्तु निमित्त प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता अतः निमित्त की मुख्यता से कार्य का कथन किया जाता है। जैसे कि यह घडा मिट्टी ने बनाया है, यह उपादान की मुख्यता से किया गया कथन है। वहाँ वह घडा मिट्टी का बना हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अतः मिट्टी ने घडा बनाया है, ऐसा लोक व्यवहार नहीं होता बल्कि ऐसा कहा जाता है कि कुम्हार ने घडा बनाया है।

निमित्त की मुख्यता से किया गया कथन बलवान नहीं होता, जबकि उपादान की मुख्यता से किया गया कथन बलवान होता है। जैसे कि यह गिलास रमेश का है, यह कथन निमित्त की अपेक्षा से उपचार करके किया गया है और यह कांच का गिलास है, यह कथन उपादान की अपेक्षा से किया गया है। यदि सुरेश दस रुपये देकर रमेश से गिलास खरीद ले, तो निमित्त का कथन दस रुपये खर्च करने पर ही बदल जाता है। तब से ऐसा कहा जायेगा कि यह गिलास सुरेश का है। परन्तु करोडों रुपये खर्च करने पर भी वह कांच का गिलास पलटकर स्टील का गिलास नहीं हो जायेगा। इसप्रकार उपादान की मुख्यता से होने वाला कथन बलवान होता है क्योंकि **उपादान कारण ही वास्तविक कारण है। वास्तव में निमित्त से कार्य**

नहीं होता, बल्कि कार्य का कथन निमित्त की मुख्यता से होता है।

याद रहे, निमित्त की पूजा होती है, निमित्त के निमित्त की नहीं। जिस ताडपत्र या कागज पर जिनवाणी लिपिबद्ध होती है, वही ताडपत्र या कागज जिनवाणी लिपिबद्ध होने के बाद पूज्य हो जाते हैं। परन्तु जिस कांटे से ताडपत्र पर या कलम से कागज पर लिखा गया हो वह कांटे या कलम पूज्य नहीं होते हैं। **निमित्त की पूजा होती है, निमित्त के निमित्त की नहीं।** वीतरागी भगवान की पूजा की जाती है, परन्तु भगवान के गृहस्थ अवस्था के माता-पिता की पूजा नहीं की जाती है।

शास्त्र लिखने वाले मुनि की पूजा इसलिये नहीं की जाती कि उन्होंने शास्त्र लिखे। खास बात तो यह है कि वे स्वयं वीतरागी होने से साक्षात् पूज्य हैं। लोक में भी देश-विदेशों की चर्चा में प्रधानमंत्री के बीच विचारणा होती है, वहाँ उनके माता-पिता को अन्दर जाने की भी इजाजत नहीं होती।

आत्मा में परद्रव्य के निमित्त से रागादिभाव उत्पन्न होते हैं, इसका आशय ऐसा नहीं है कि परद्रव्य के कारण आत्मा में रागादिभाव उत्पन्न होते हैं। रागादि भाव को आत्मा का स्वभाव नहीं मान लिया जाय, इसलिये पर के निमित्त से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। अतः ऐसा समझना चाहिए कि **जब अशुद्धभाव की उत्पत्ति का कर्ता कोई परपदार्थ नहीं है, तो शुद्धभाव की प्राप्ति का कर्ता कोई परद्रव्य (सच्चे देव-शास्त्र-गुरु) कैसे हो सकते हैं? अर्थात् कदापि नहीं हो सकते।**

परद्रव्य के निमित्त से अपने आत्मा में रागादिभाव उत्पन्न होना, चारित्र की कमजोरी है परन्तु रागादिभाव की उत्पत्ति का कर्ता निमित्त को मानना वह श्रद्धा की कमजोरी है। **परद्रव्य ज्ञेय मात्र है, जबकि ज्ञेय से ज्ञान भी नहीं होता, तो ज्ञेय से रागादिभाव कैसे हो सकते है? शुद्ध तथा अशुद्ध पर्याय का कारण कोई परद्रव्य नहीं है। एक द्रव्य की दो परिणति नहीं होती और एक परिणति के कर्ता दो द्रव्य नहीं होते।**

जो जीव ऐसा चिन्तन करता है कि एक परमाणु के भी परिणमन का कर्ता मैं आत्मा नहीं हूँ, तो परमाणु के समूहरुप स्कन्ध का कर्ता मैं

कैसे हो सकता हूँ? ऐसा चिन्तन करने से कर्तृत्वबुद्धि छूटती है। संयोग और संयोगीभाव मैं नहीं हूँ, मेरे नहीं हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, मैं उनका भोक्ता नहीं हूँ, ऐसा चिन्तन करने से निमित्त अकिंचित्कर है, इस सिद्धांत की श्रद्धा द्रढ होती है।

प्रत्येक पर्याय में नये-नये निमित्त हाजिर होते हैं, निमित्त परिवर्तनशील है, त्रिकाली ध्रुव आत्मा अपरिवर्तनशील है। परिवर्तनशील निमित्तों पर द्रष्टि करने से पंच परावर्तनरुप संसार परिभ्रमण होता है। अपरिवर्तनशील स्थिर त्रिकाली आत्मा पर द्रष्टि करने से मोक्ष से संसाररुप परिवर्तित नहीं होने वाला अपरिवर्तनशील नित्य मोक्ष प्रकट होता है। निमित्त अकिंचित्कर होने पर भी ज्ञानी सद्निमित्तों का यथायोग्य आदर करते हैं। वह भाव भी सहज उपादान की योग्यातानुसार आते हैं, परन्तु निमित्त के कारण नहीं। **निमित्त अकिंचित्कर है ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने पर ही सम्यग्दर्शनरुपी अपूर्व धर्म प्रकट होता है।**

२३. निश्चय और व्यवहार का रहस्य

आत्मार्थी जीवों को निश्चय नय और व्यवहार नय का स्वरुप समझना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि प्रत्येक नय का प्रयोजन समझकर नयातिक्रांत समयसार उपलब्धि ही प्रत्येक आध्यात्मिक साधक का साध्य होता है।

श्रुतज्ञान के अंश को नय कहते हैं। मुख्यरुप से नय दो प्रकार के होते हैं। आगम नय और अध्यात्म नय। आगमनय के मुख्य दो भेद हैं - १. द्रव्यार्थिक नय, २. पर्यायार्थिक नय। अध्यात्मनय के मुख्य दो भेद हैं - १. निश्चय नय, २. व्यवहार नय। इसप्रकार नय दो भी होते हैं, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ तथा एवंभूत ये सात नय भी होते हैं, ४७ नय भी होते हैं, नय संख्यात भी होते हैं, असंख्यात भी होते हैं और अनन्त भी होते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान की प्रत्येक पर्याय श्रुतज्ञान का अंश होने से नय है। चूंकि श्रुतज्ञान की अनन्त पर्याय होने से नय भी अनन्त

प्रकार के होते हैं। फिर भी अनन्त नयों में से आत्मार्थीजनों को आत्मानुभूति की उपलब्धि हेतु इन नयों का स्वरुप समझना अत्यंत आवश्यक है।

याद रहे, समस्त जिनागम नयों की शैली में निबद्ध हैं। **जिनागम में नयविवक्षा के बिना एक भी वाक्य नहीं लिखा गया है। जहाँ नयविवक्षा सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया हो वहाँ तो नय विवक्षा है ही, साथ-साथ जहाँ नय विवक्षा का उल्लेख नहीं किया हो, ऐसे जिनवचनों में भी नयविवक्षा होती है, उसे ज्ञानी ही समझते हैं।**

जिनवाणी में नयविवक्षा तीन प्रकार से बताई है।

१. **नय के नाम का उल्लेख किये हुए कथन में** नयविवक्षा होना। जैसे कि द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य है। पर्यायार्थिक नय से आत्मा अनित्य है। यह नयविवक्षा आसानी से समझ में आ सकती है। अधिकांशतः लोग उक्त नयविवक्षा को ही जिनागम में मानते हैं और स्वीकार करते हैं।

२. नय का नाम लिये बिना ही **किसी नय या अपेक्षा से** ऐसा कथन किया हो, उसमें नयविवक्षा होना। किसी नय से आत्मा नित्य है। किसी नय से आत्मा अनित्य है। यद्यपि आत्मा को किसी नय से नित्य कहा है, उस कथन में द्रव्यार्थिक नय से नित्य कहा है और आत्मा को किसी नय से अनित्य कहा है, उस कथन में पर्यायार्थिक नय से अनित्य कहा है। फिर भी ज्ञानी संक्षिप्त में कह सकते हैं कि किसी नय से आत्मा नित्य या अनित्य है। याद रहे कि वक्ता को नयविवक्षा स्पष्ट ज्ञान हो, तब ही वक्ता नयविवक्षा का उल्लेख किये बिना ही किसी नय से यह कथन है, ऐसा कथन कर सकते हैं। परन्तु नयविवक्षा का ज्ञान ही न हो, उन्हें किसी नय से ऐसा कहा है, ऐसा कहने का अधिकार नहीं है।

३. **नय का नाम या किसी नय से ऐसा कुछ भी कहे बिना ही नयविवक्षा होना।** आत्मा नित्य है। आत्मा अनित्य है। यद्यपि यहाँ द्रव्यार्थिक नय या पर्यायार्थिक नय के नामों का उल्लेख नहीं किया और न ही किसी नय से आत्मा को नित्य और किसी नय से आत्मा को अनित्य कहा। फिर भी उक्त आत्मा नित्य है, आत्मा अनित्य है, उन कथनों में नय विवक्षा छूपी हुई है।

आत्मसिद्धि अनुशीलन में आत्मसिद्धि शास्त्र की गाथा ८ को स्पष्ट करते हुए पृष्ठ क्रमांक ३६ पर इसप्रकार लिखा है।

अज्ञानी कहता है कि व्यवहार नय तो छोडने योग्य है, क्योंकि वह आत्मप्राप्ति कराने वाला नय नहीं है। एक मात्र निश्चय नय ही अपनाने योग्य है अतः वही श्रेष्ठ है। **सद्गुरु उसे कहते हैं कि यदि व्यवहार नय सर्वथा अप्रयोजनभूत होता तो ज्ञानी उस व्यवहार का पालन क्यों करते हैं? और व्यवहार का कथन भी क्यों करते हैं? भाषा समिति के धारक भावलिंगी मुनि एक वाक्य भी अप्रयोजनभूत नहीं कहते या लिखते। अतः व्यवहार को निश्चय प्रकट होने से पहले ही मत छोडो।** अरे भाई! नय तो सापेक्ष होते हैं, अपेक्षा के बिना जिनागम में कुछ भी नहीं कहा गया। आत्मा की पहिचान करने के लिये जो नय साधन होता है, उसे अध्यात्म नय कहते हैं। वे मुख्य रुप से दो प्रकार के होते हैं। १. निश्चय नय २. व्यवहार नय।

यथार्थ सो निश्चय तथा अयथार्थ सो व्यवहार। भूतार्थ सो निश्चय तथा अभूतार्थ सो व्यवहार। **जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की परिणति कहना वह निश्चय है और किसी प्रयोजनवश निमित्तादिरुप उपचार जानकर एक द्रव्य की परिणति को किसी अन्य द्रव्य की परिणति कहना वह व्यवहार है।**

व्यवहार के बिना निश्चय समझ में नहीं आता, इसलिये व्यवहार नय की मुख्यता से सर्वप्रथम व्यवहार नय का स्वरुप समझाते हैं। **व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक होने से निश्चय को प्रतिपाद्य कहते हैं और निश्चय, व्यवहार का निषेधक होने से व्यवहार को निषेध्य कहते हैं।**

व्यवहार नय के चार भेद और निश्चय नय के चार भेद, इसप्रकार कुल आठ प्रकार के नय एवं उन नयों का प्रयोजन समझना अत्यंत आवश्यक है। उनमें से व्यवहार नय के मूलभेद, भेद का स्वरुप, प्रयोजन और प्रत्येक नय का हेयपना इसप्रकार स्पष्ट किया है।

परद्रव्य के साथ आत्मा को अभेद जानना अथवा अभेद कथन करना असद्भूत व्यवहार नय है तथा आत्मद्रव्य में भेद जानना अथवा भेदरुप कथन करना सद्भूत व्यवहार नय है। वे उपचरित और अनुपचरित के भेद

से दो-दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार व्यवहार नय के चार भेद होते हैं। १. उपचरित असद्भूत व्यवहार नय २. अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय ३. उपचरित सद्भूत व्यवहार नय ४. अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय।

१. उपचरित असद्भूत व्यवहार नय : आत्मा के अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से पर ऐसे भिन्नक्षेत्रावगाही परपदार्थो को आत्मा का जानना अथवा कहना उसे उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। इस नय से घर, गाडी, पत्नी, पुत्र, परिवार आदि भिन्न क्षेत्रावगाही संयोगो को आत्मा का जानने में अथवा कहने में आता है।

जानना और कहना दोनों ही व्यवहार नय है। क्योंकि श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत। भावश्रुत जाननेरुप होता है और द्रव्यश्रुत कहनेरुप होता है। चूंकि श्रुतज्ञान के अंश को नय कहते हैं अतः जानना और कहना दोनों ही नय में गर्भित है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये, तो अपने और पराये घर-परिवार आदि का भेद नहीं रहने पर विवाद का प्रसंग आयेगा। स्वस्त्री और परस्त्री का भेद ही नहीं रहेगा। **यह नय पशुजीवन जीने वालें मनुष्यों को मानव बनाता है। सदाचार की सिद्धि करता होने से यह बहुत ही उपयोगी है।**

घर-परिवार को साथ लेकर वन में जाने से मुनिदीक्षा का पालन नहीं होता, अतः यह नय हेय है, छोडने योग्य है।

मुनिदीक्षा अंगीकार करने के लिये धन, सम्पत्ति एवं परिवारजन छोडने योग्य है, इसलिये उन्हें अपना जानने अथवा कहने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार नय छोडने योग्य है।

२. अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय : आत्मा की सत्ता से पर अर्थात् अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से पर ऐसे एकक्षेत्रावगाही पदार्थो को आत्मा का जानना अथवा कहना उसे अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। इस नय से शरीर और द्रव्यकर्म को आत्मा का जानने में अथवा कहने में आता है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो जीव अपने शरीर को पराया कहकर नहीं खाने योग्य अभक्ष्य पदार्थो का भी भक्षण करेगा।

परजीवों की दया का पालन करेगा नहीं। अज्ञानी ऐसा कहेगा कि आत्मा और शरीर तो जुदे हैं। आत्मा तो मरता नहीं है और शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। **जीव दया की सिद्धि करने वाला होने से यह नय भी आत्म साधना के साधक जीव को उपयोगी होता है।**

शरीर को साथ ले जाकर आत्मा का मोक्ष नहीं होता है। शरीर का योग संसार अवस्था पर्यंत ही है, अतः यह नय भी हेय है।

मुक्ति की प्राप्ति के लिये शरीर एवं द्रव्यकर्म छोडने योग्य है, इसलिये उन्हें अपना जानने अथवा कहने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय छोडने योग्य है।

३. उपचरित सद्भूत व्यवहार नय : आत्मा की सत्ता में रहने वाली आत्मा की अशुद्ध पर्याय और आंशिक शुद्ध पर्याय को आत्मा की जानना अथवा कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। आत्मा में राग है, ऐसा जानना अथवा कहना इस नय का कार्य है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो जीव की अशुद्ध पर्याय का स्वीकार ही नहीं होगा अर्थात् जीव को अपने वर्तमान दोषों का ज्ञान ही नहीं होगा। **दोषों को जाने बिना दोष दूर नहीं होते।**

दोषों की ओर द्रष्टि करने से दोष दूर नहीं हो जाते, अतः दोषों का ज्ञान कराने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय भी हेय है। रागादि भाव हेय है, अतः रागादि भावों को अपना जानने अथवा कहने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय हेय है।

४. अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय : आत्मा की सत्ता में रहने वाली आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध पर्याय और गुणों के भेदों को आत्मा का जानना अथवा कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। आत्मा में ज्ञान है, ऐसा कहना इस नय का कार्य है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो अरिहंतदशा और सिद्धदशा का निर्णय नहीं होगा तथा अपने गुणों का ज्ञान नहीं होने पर द्रव्य का निर्णय एवं द्रव्य की महिमा भी नहीं आयेगी।

गुणभेद एवं परिपूर्ण शुद्ध पर्याय का लक्ष्य भी विकल्प का ही कारण बनता है, अतः आत्मानुभूति में वे विकल्प बाधक होने से यह नय भी हेय है। आत्मा के गुणों के भेद के विकल्प भी छोडने योग्य है, इसलिये गुणभेदों को आत्मा का कहने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय हेय है।

इसप्रकार इन चारों प्रकार के व्यवहार नय असत्य होने पर भी अपनी-अपनी अपेक्षा से तो सत्य ही है।

निश्चय नय की द्रष्टि से विचार करने पर अपनी द्रष्टि से सत्य ऐसा व्यवहार नय छोडने योग्य है, परन्तु व्यवहार नय का फल छोडने योग्य नहीं है। जैसे कि साबुन से कपडे को धोने के बाद साबुन भी छोडने योग्य है, परन्तु साबुन लगाने के फल में कपडे में जो स्वच्छता प्रकट हुई है, वह छोडने योग्य नहीं है। निश्चय की प्राप्ति होना ही व्यवहार का फल है।

व्यवहार नय छोडने योग्य है, परन्तु व्यवहार नय तोडने योग्य नहीं है। जिसप्रकार कोई व्यक्ति जब नीचे की सीढी से उपर की सीढी पर ठीक तरह से पैर रख लेता है, तब वह नीचे की सीढी को छोड देता है, परन्तु तोड नहीं देता। क्योंकि उस व्यक्ति प्रयोजन सिद्ध हो गया है, लेकिन दुसरे लोग उसी सीढी से उपर चढने वालें हैं, उसी प्रकार ज्ञानी जब व्यवहार को छोडकर निश्चय को प्राप्त करते हैं, तब वे व्यवहार को छोड देते है, परन्तु तोड नहीं देते। क्योंकि उस ज्ञानी प्रयोजन सिद्ध हो गया है, लेकिन दुसरे अज्ञानी जीव उसी व्यवहार से निश्चय को प्राप्त करने वालें हैं

निश्चय नय निज आत्मा में अभेद कथन करता है। उसके मुख्यरुप से दो भेद हैं। १. अशुद्ध निश्चय नय २. शुद्ध निश्चय नय। अशुद्ध निश्चय नय सहित तीन प्रकार के शुद्ध निश्चय नय होते हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर निश्चय नय भी चार प्रकार के होते हैं। १. अशुद्ध निश्चय नय २. एकदेश शुद्ध निश्चय नय ३. पूर्ण (साक्षात्) शुद्ध निश्चय नय ४. परम शुद्ध निश्चय नय।

१. अशुद्ध निश्चय नय : आत्मा को आत्मा की शुद्ध पर्याय के साथ अभेद जानना अथवा कहना अशुद्ध निश्चय नय है। इस नय से आत्मा मिथ्याद्रष्टी है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो आत्मा मिथ्याद्रष्टी है, इस बात का निर्णय ही नहीं हो सकेगा।

बहिरात्मपद हेय है, अतः बहिरात्मा का निर्णय कराने वाला अशुद्ध निश्चय नय हेय है।

२. एकदेश शुद्ध निश्चय नय : आत्मा को आत्मा की एकदेश शुद्ध पर्याय के साथ अभेद जानना अथवा कहना एकदेश शुद्ध निश्चय नय है। इस नय से आत्मा आंशिक वीतरागी है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो श्रीमद् राजचन्द्र जी और श्री कानजीस्वामी सम्यग्ज्ञानी है, इस बात का निर्णय ही नहीं हो सकेगा।

अंतरात्मा का निर्णय कराने वाला होने पर भी आत्मा का साध्य मोक्ष होने से यह नय अपूर्ण शुद्धता का प्रतिपादक होने से हेय है।

३. पूर्ण (साक्षात्) शुद्ध निश्चय नय : आत्मा को आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध पर्याय के साथ अभेद जानना अथवा कहना पूर्ण (साक्षात्) शुद्ध निश्चय नय है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो महावीरस्वामी केवलज्ञानी है, सिद्ध है, इस बात का निर्णय ही नहीं हो सकेगा।

परमात्मा का निर्णय कराने वाला होने पर भी पर्याय के साथ आत्मा को अभेद प्रतिपादक करता होने से हेय है। मैं नवीन उत्पन्न होने वाला परमात्मा नहीं हूँ। मैं तो त्रिकाल परमात्मा हूँ। अतः यह नय भी हेय है।

४. परम शुद्ध निश्चय नय : शरीरादि परद्रव्य एवं उनके भावों से भिन्न, रागादि भावों से अन्य, मति-श्रुतज्ञानरुप सम्यग्ज्ञान की आंशिक शुद्ध पर्याय से भिन्न अन्य, केवलज्ञान एवं मोक्ष की पर्याय से भी अन्य तथा अनन्त गुणों का अभेद, अखण्ड, आत्मा ही परम शुद्ध निश्चय नय का विषय है।

यदि इस नय का स्वीकार नहीं किया जाये तो द्रष्टि के विषयभूत आत्मा का निर्णय ही नहीं हो सकेगा। द्रष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का प्रतिपादन करना ही परम शुद्ध निश्चय नय का कार्य है।

परम शुद्ध निश्चय नय पहले कहे हुए सातों नयों का निषेध करने वाला होने से वास्तव में परम शुद्ध निश्चय नय ही निश्चय नय है, अन्य सातों नय व्यवहार नय हैं।

२४. क्रमबद्ध पर्याय

क्रमबद्ध पुरुषार्थ नामक कृति में क्रमबद्ध पर्याय का स्वरुप इसप्रकार लिखा है। **प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्र और स्वाधीन होने के साथ-साथ क्रमबद्ध और क्रमनियमित ही होता है। होनी को अनहोनी और अनहोनी को होनी करने में हम तो क्या, इन्द्र या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है। क्रम अर्थात् एक के बाद एक, बद्ध अर्थात् बंधा हुआ और पर्याय अर्थात् परिणमन। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन क्रमानुसार होता है और सुनिश्चित ही होता है, इसी सिद्धांत का नाम क्रमबद्धपर्याय है।**

आत्मा की जाननेरुप ज्ञानशक्ति जब आत्मा को जाननेरुप परिणमित होती है, आत्मा की माननेरुप श्रद्धाशक्ति जब आत्मा में एकत्व स्थापित करती है, आत्मा की लीन होनेरुप चारित्रशक्ति जब आत्मा में स्थिर होती है, तब आत्मानुभूतिरुप अपूर्व पुरुषार्थ होता है। चूंकि प्रत्येक द्रव्य की शक्ति का परिणमन क्रमबद्ध है, अतः पुरुषार्थ भी क्रमबद्धपर्याय में गर्भित ही है, आत्मानुभूतिरुप पुरुषार्थ की पर्याय भी क्रमबद्ध ही है।

क्षणिक परद्रव्य एवं पर्याय से भिन्न भगवान आत्मा के तत्त्वविचार की गहराई में जाने पर जब जीव की पर्याय सहजरुप से अंतर्मुख होती है, तब चैतन्य चमत्कार मात्र भगवान आत्मा प्रगट ज्ञानज्योति स्वरुप अनुभव में आता है।

एक भी संयोग एवं वियोग का कर्ता आत्मा नहीं है। कर्मोदय के निमित्त से अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतानुसार संयोग एवं वियोग सहज ही होते रहते हैं। राग एवं द्वेष की पर्याय तो निश्चित ही है, साथ ही रागादि भावों की उत्पत्ति के निमित्त भी क्रमबद्ध में सुनिश्चित ही है।

संयोग एवं वियोग क्रमबद्ध में निश्चित है, रागादि संयोगीभाव क्रमबद्ध में निश्चित है, संयोग एवं संयोगीभाव से भिन्न मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा भेद जानने वाली पुरुषार्थ की पर्याय भी क्रमबद्ध में निश्चित है, फिर भी उपदेश की भाषा ऐसी होती है कि स्व-पर का भेदज्ञान करो और पुरुषार्थ करो।

वस्तु स्वरुप द्रष्टि से देखने पर जैसे राग की पर्याय क्रमबद्ध में निश्चित है, ऐसे ही भेदज्ञान एवं वीतरागता की पर्याय भी क्रमबद्ध में निश्चित है। परन्तु खास बात तो यह है कि कर्तृत्वबुद्धि के भारवहन पीडित अज्ञानी किसी न किसी पर्याय का कर्ता स्वयं को मानता है और सुखी होने का उपचार करता है।

क्रमबद्धपर्याय का स्वरुप क्रमबद्धपर्याय पर ही द्रष्टि टिकाने के लिये नहीं समझाया गया है। याद रहे कि क्रमबद्धपर्याय को मात्र जानना है और त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव जानना भी है, एकत्वपूर्वक मानना भी है और लीन भी होना है। जब जीव एक मात्र ज्ञायक का आश्रय लेता है और पर्याय द्रष्टि छोडता है, तब एक पर्याय का नहीं, बल्कि अनन्तानन्त पर्याय का स्वीकार सहज ही होता है। जिसप्रकार निश्चितरुप से समस्त पर्याय क्रमबद्ध है, उसीप्रकार निश्चितरुप से क्रमबद्धपर्याय से भिन्न ज्ञायक है।

२५. चरणानुयोग का रहस्य

जिन शास्त्रों में गृहस्थ एवं मुनियों के आचरण का निरुपण करके वीतरागता प्रकट करने का उपदेश दिया हो, उन्हें चरणानुयोग के शास्त्र कहते हैं। पुरुषार्थसिद्धिउपाय, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ज्ञानानन्द श्रावकाचार, अष्टपाहुड, आदि चरणानुयोग के शास्त्र हैं।

गृहस्थ धर्म एवं मुनि धर्म में भेद एवं रहस्य :

जिनागम में दो प्रकार धर्म का पालन करने का उपदेश दिया गया है। खास यह कहा है कि आप जिस धर्म का पालन करे, सच्चेरुप में करे। किसी भी प्रकार के दोष से रहित धर्म को धारण करना चाहिए। यद्यपि

गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म के व्रतादि के नियम किसी अपेक्षा समान है, फिर भी किसी अपेक्षा से असमान है।

जैसा कि मुनि को धागे मात्र से भी शरीर को ढंकना नहीं चाहिए। गृहस्थों को अपना शरीर पूरी तरह ढंककर ही रखना चाहिए। मुनि को कर पात्र में आहार लेना चाहिए। गृहस्थों को पात्र में आहार लेना चाहिए। मुनि को खडे-खडे आहार लेना चाहिए। गृहस्थों को एक स्थान पर नीचे बैठकर आहार लेना चाहिए।

आज के इस युग में गृहस्थ मुनियों की तरह आचरण करने लगे और स्वयं को मुनि मानने वालें गृहस्थ की तरह आचरण करने लगे। गृहस्थों ने वस्त्र छोडकर निर्वस्त्र होना शुरु कर दिया, वहीं दूसरी ओर स्वयं को मुनि मानने वालें वस्त्र पहिनते हो गये। गृहस्थ ने दन्तधोवन बन्द करके बेड टी पीना शुरु कर दिया, वहीं दूसरी ओर स्वयं को मुनि मानने वालों ने दन्तधोवन करना शुरु कर दिया। गृहस्थों ने आसन बिछाये बिना ही स्वाध्याय करना शुरु कर दिया, वहीं स्वयं को मुनि मानने वालों ने आसन बिछाकर बैठना प्रारम्भ कर दिया। गृहस्थ ने खडे-खडे (बुफे) भोजन करना शुरु कर दिया, वहीं दूसरी ओर स्वयं को मुनि मानने वालें नीचे बैठकर भोजन करने लग गये। गृहस्थों ने वन में मकान (फार्म हाउस) बनाकर रहना शुरु कर दिया, वहीं दूसरी ओर स्वयं को मुनि मानने वालों ने शहर में अपना निवास बना दिया। गृहस्थों ने मन्दिर निर्माण, पुस्तक प्रकाशन आदि कार्य छोड दिये, वहीं मुनि मानने वालों ने मन्दिर निर्माण, पुस्तक प्रकाशन, धन एकत्रित करके आश्रमादि की स्थापना करना प्रारम्भ कर दिया। इसलिये चरणानुयोग के शास्त्रों का अध्ययन करके गृहस्थ और साधु के मूलगुण और उत्तरगुण का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपनी-अपनी भूमिकानुसार आचरण में पालन करना चाहिए।

उपरोक्त समस्त प्रकार के चारित्र के दोषों को देखते हुए भी वर्तमान कलिकाल में इस भूमि पर ऐसी स्थिति होगी, ऐसा अनन्तकाल से सुनिश्चित था, ऐसा समझकर चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से वस्तुस्थिति

का सहज स्वीकार करना चाहिए। वस्तु स्वरुप का यथायोग्य स्वीकार करना धर्म है। चैतन्य स्वभावी निज शुद्धात्मा भी विश्व की व्यवस्था में त्रिकाल टिककर रहनेवाला आत्मद्रव्य है, अतः सर्वप्रथम निज आत्मद्रव्य का स्वीकार होने पर ही समस्त अनित्य पर्यायों का स्वीकार होता है।

प्रथमानुयोग में ऐसा था, करणानुयोग में ऐसा है, द्रव्यानुयोग में ऐसा होता है और चरणानुयोग ऐसा होना चाहिए, इसप्रकार की कथन पद्धति होती है। कथन पद्धति चार प्रकार की भले ही हो, चारों अनुयोगों का प्रयोजन तो जीव में वीतरागता प्रकट हो, यही है। स्वयं जानना और पहिचानना ही समस्त शास्त्रों का मूल सन्देश है।

तृतिय : गुरु अधिकार

१. गुरु का स्वरूप : रहस्य

णमोकार महामंत्र में पांच परमेष्ठी को नमस्कार किया है। वहाँ जिन गुरु को नमस्कार किया है, वे छठवें-सातवें गुणस्थान में झुलनेवाले भावलिंगी आत्मसाधक हैं। पहले गुणस्थानवर्ती मिथ्याद्रष्टी द्रव्यलिंगी साधु की बात तो बहुत दूर, चौथे एवं पांचवे गुणस्थानवर्ती सम्यग्द्रष्टी द्रव्यलिंगी साधु को भी णमोकार मंत्र में नमस्कार नहीं किया है, क्योंकि वे भी हर अंतर्मुहूर्त में आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं करते।

पांचवें गुणस्थान में अनुमति प्रतिमा धारण करने पर श्रावक अतिशय हिंसा की कारणभूत प्रवृत्ति स्वयं तो नहीं करता बल्कि अन्य जीवों को वैसी प्रवृत्ति करने की अनुमति भी नहीं देता। जब श्रावक की इस भूमिका में ही ऐसी परिणति निर्मल होती है, तब साधु हिंसा की कारणभूत प्रवृत्ति जैसे कि जिनालयों का निर्माण, शास्त्रों का प्रकाशन आदि कार्य करने की अनुमति कैसे दे सकते है? **आत्मा के आश्रय से तीन कषाय चोकडी कषाय का अभाव होने पर साधु की परिणति ऐसी निर्मल होती है कि उन्हें इसप्रकार के हिंसादि कार्य करने या कराने के विकल्प सहज ही नहीं उठते।**

शास्त्र लिखने के विकल्प को भी साधुजन हिंसा मानते हैं, हेय मानते हैं, उपादेय कदापि नहीं मानते। वे मानते हैं कि शास्त्र लिखने का भाव भी राग है, आग है। आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। रागभाव में धर्म मानने को मिथ्यात्व नामक अत्यंत नित्कृष्ट पाप कहा है। आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। **वीतराग भावरुप अहिंसा ही परम धर्म है।**

बाह्य लोक में ऐसा कहा जाता है कि रावण ने सीता का हरण किया था, अत: उसे नरक में जाना पडा। यदि परस्त्री के हरण नामक पाप के फल में एक बार नरक में जन्म लेना पडा हो, तो जरा सोचिए! जिस मिथ्यात्व नामक पाप के कारण इस जीव ने नरक-निगोद में अनन्त बार जन्म मरण किये, वह मिथ्यात्व नामक पाप कितना बडा होगा? कहने का तात्पर्य यह है कि **परस्त्री हरण करने से भी अनन्त गुना बडा पाप मिथ्यात्व है।**

२. सम्यग्दर्शन सहित ही ज्ञान और चारित्र यथार्थ होता है।

जो जीव ऐसा मानते हैं कि अरिहंत अवस्था के बिना सिद्ध पद की प्राप्ति सम्भव नहीं है, **साधु पद अंगीकार किये बिना अरहंत होना सम्भव नहीं है,** उन्हें यह बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि **सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना साधु पद सम्भव नहीं है।** त्रिकाली, ध्रुव, शुद्ध, अखंड, अभेद निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सम्भव है। अत: सर्वप्रथम निज भगवान आत्मा का सत्य स्वरुप जानना चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि वस्त्रों से आभूषणों का मूल्य अधिक होता है। फिर भी जिस प्रकार स्त्रियों को वस्त्र पहिनने के बाद, वस्त्र के उपर आभूषण शोभायमान होते हैं, बिना वस्त्र का आभूषण पहनना स्त्रियों के लिये हास्य का पात्र बनता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्रकट होने के बाद ही चारित्र यथार्थ होता है। वही चारित्र आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का कारण बनता है। **सम्यग्दर्शन के बिना ग्रहण किया हुआ मात्र बाह्य चारित्र से अज्ञानी जीव अपने विकल्प की पूर्ति एवं कर्तृत्त्वबुद्धि का आकुलतामय सुख को चारित्र पालन करने का यथार्थ फल मान सकता है, इसीलिये तो उसकी मान्यता को मिथ्यात्व कहा है।**

चौबीस तीर्थंकरादि महापुरुषों ने अपने जीवनकाल में साधना की थी,

सभी तीर्थंकरो ने मुनिदीक्षा ली थी, अतः हमें भी मुनिदीक्षा लेनी चाहिए। यहाँ ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि **सभी तीर्थंकर जन्म से ही सम्यग्द्रष्टी आत्मज्ञानी एवं आंशिक वीतरागी थे। पूर्वभव से ही तीन ज्ञान लेकर उनका यहाँ जन्म हुआ था।** उनकी पूर्वभव की साधना का साध्य सम्यग्दर्शन था। अतः मुक्ति की प्राप्ति के पिपासु जीवों को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हेतु निज आत्मा का अध्ययन, मनन, चिन्तन अवश्य करना चाहिए।

पद्मनंदि पंचविंशति में धर्मोपदेशामृत के ७१ वें श्लोक में रत्नत्रयधारक मुनि की महिमा बताते हुए इसप्रकार लिखा है।

जो मुनि पुण्य के प्रभाव से मनुष्य भव को पाकर शान्ति को प्राप्त होते हुए इन्द्रियजनित भोगसमूह को रोग के समान कष्टदायक समझ लेते हैं और इसीलिये जो गृह से वन के मध्य में जाकर समस्त परिग्रह से रहित होते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र में स्थित हो जाते हैं; वचन के अगोचर ऐसे उत्तमोत्तम गुणों के आश्रयभूत उन मुनियों की स्तुति करने में कौन-सा श्रोता समर्थ है? कोई भी नहीं। जो जन उक्त मुनियों के दोनों चरणों में अनुराग करते हैं, वे यहाँ पृथ्वी पर महापुरुषों के द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के पहिले अध्याय के पहले सूत्र में ही मोक्षमार्ग की व्याख्या करते हुए आचार्य श्री उमास्वामी जी ने इसप्रकार लिखा है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।। १-१ ।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है।

आशय यह है कि **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।** वहाँ ज्ञान और चारित्र से पहले सम्यग्दर्शन लिखकर सम्यग्दर्शन की महिमा बताई है। आचार्य कहते हैं कि **सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक् नाम नहीं पाता है।**

मोक्षमार्ग : ऐसे एकवचन शब्द का प्रयोग करके बताना चाहते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों के कारण तीन प्रकार के मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिए। **मोक्षमार्ग तो त्रिकाल एक ही रहता है। द्रव्य,**

क्षेत्र, काल और भाव के भेद के कारण मोक्षमार्ग में कोई भेद नहीं होता। इसके सम्बन्ध में आत्मसिद्धि अनुशीलन की ३६ वें पद में विस्तृत विवेचन किया गया है, वहाँ से जानना।

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होता, इस बात की पुष्टि करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्ययन के २९ एवं ३० वें सूत्र में भी लिखा है।

नत्थि चरित्तं सम्मतविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त-चरिताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं।। २९ ।।

अर्थ : चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्व चारित्र के बिना भी हो सकता है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् - एक साथ भी होते हैं, किन्तु चारित्र से पहले सम्यक्त्व का होना आवश्यक है।

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।। ३० ।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होता। चारित्र-गुण के बिना मोक्ष नहीं हो सकता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता।

समवायांग सूत्र के एकादश समवाय के ७१ सूत्र में श्रावक की ११ प्रतिमाओं के अंतर्गत दर्शन प्रतिमा का वर्णन एवं महिमा करते हुए पृष्ठ क्रमांक २९ पर इसप्रकार कहा है।

दर्शन प्रतिमा में उपासक को शंकादि दोषों से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करना आवश्यक है, क्योंकि यह सर्व धर्मो का मूल है, इसके होने पर ही व्रतादि का परिपालन हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मुनिवर श्री रामसिंह जी ने पाहुड दोहा में भी कहा है -

सप्पें मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ।। १६ ।।

अर्थ : जिस प्रकार साप केंचुली को छोड देता है, लेकिन विष को

नहीं छोडता। उसी प्रकार अज्ञानी जीव द्रव्यलिंग धारण बाह्य में त्याग करता है, किन्तु भीतर में से विषय-भोगों की भावना को नहीं छोडता।

अज्ञानी जीव वस्त्र को छोड देता है, परन्तु मिथ्यात्व को नहीं छोडता। उक्त कथन का आशय यह है कि **इस जीव ने अन्तिम वस्त्र नामक परिग्रह तो अनेक बार छोडा परन्तु मिथ्यात्व नामक परिग्रह एक बार भी नहीं छोडा।**

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित श्री दोलतराम जी ने छहढाला की चौथी ढाल में भी कहा है।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे,
ज्ञानीके छिनमांही, त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनंत वार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान विना सुख लेश न पायो।। ५ ।।

अर्थ : सम्यग्ज्ञान के बिना करोडों जन्मों तक तप तपने से जितने कर्म नष्ट होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी को तीन गुप्ति से क्षणभर में सहज नष्ट हो जाते हैं। यह जीव मुनिव्रत धारण करके अनन्त बार नववें ग्रेवेयक तक उत्पन्न हुआ, परन्तु निज आत्मा के ज्ञान के बिना लेशमात्र सुख नहीं पाया।

मुनिधर्म को धारण करने हेतु आत्मज्ञान की अनिवार्यता बताते हुए श्रीमद् राजचन्द्र जी ने आत्मसिद्धि शास्त्र के ३४ वें पद में भी इसप्रकार लिखा है।

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय।
बाकी कुल गुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय।।

अर्थ : आत्मज्ञान सहित मुनिपना होता है, वे ही सच्चे गुरु है। अन्य सब काल्पनिक कुल गुरु है, आत्मार्थी जीव उनकी ओर द्रष्टि नहीं करता है।

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित ही सम्यक्चारित्र होता है। अतः मुनिधर्म के लिये आत्मज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है। भेदज्ञान ही आत्मज्ञान का आधार है।

श्रद्धा गुण की मुख्यता से मोक्षमार्गी को सम्यग्द्रष्टी कहते हैं। ज्ञान गुण की मुख्यता से मोक्षमार्गी को आत्मज्ञानी कहते हैं और चारित्र गुण की मुख्यता

से मोक्षमार्गी को वीतरागी कहते हैं। यह रत्नत्रय ही मुनिधर्म का प्रथम चरण है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग और नव पूर्व का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है एवं २८ मूलगुणों का पालन भी मिथ्याचारित्र है, तो फिर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिए और सम्यग्दर्शन प्रकट होने के लिये कितना समय लगता है?

आचार्य श्री अमृतचंद्र जी ने ग्रंथाधिराज समयसार की आत्मख्याति टीका के ३४वें कलश में इसप्रकार लिखा है।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धि।। ३४ ।।

अर्थ : अन्य व्यर्थ कोलाहल करने से क्या लाभ है? उस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल होकर देख; ऐसा छह माह तक अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में जिसक तेज प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे आत्मा का प्राप्ति होती है या नहीं?

आशय यह है कि **यदि कोई जीव संसारचक्र के परिभ्रमण और दुःख से थका हो और उनसे छूटना चाहता हो, तो उसे छह महिने के लिये स्व-पर का भेदविज्ञान और आत्मा के स्वरुप का चिन्तन-मनन करने का अभ्यास करना चाहिए।**

खास याद रहे कि उन महिनों में असद्निमित्तों से दूर रहकर और सद्निमित्त के योग में रहकर संसार से विरक्त होने का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञायक भगवान आत्मा की ऐसी धून लगे कि जागना-सोना, खाना-पीना, बैठना-उठना, चलना-धूमना, आदि समस्त क्रियाओं के काल में एक मात्र ज्ञायक, ज्ञायक एवं ज्ञायक की ही धून लगी रहे। ज्ञानी कहते हैं कि तू अभ्यास तो कर, तुझे निश्चितरुप से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, होगी और अवश्य होगी।

३. सम्यग्दर्शन का स्वरूप

तत्त्वार्थ सूत्र के पहिले अध्याय के दुसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन की परिभाषा बताते हुए आचार्य श्री उमास्वामी जी ने भी लिखा है।

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।।१-२।।

अर्थ : तत्त्व की अर्थ सहित श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।

यद्यपि दर्शन शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, फिर भी जिनागम में दर्शन शब्द के मुख्यरुप से दो अर्थ लिये हैं। सामान्य अवलोकन और श्रद्धा। परन्तु यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ सामान्य अवलोकन न लेकर श्रद्धा समझना चाहिए। क्योंकि मोक्षमार्ग में श्रद्धा का बल विशिष्ट होता है।

सम्यग्दर्शन की उपरोक्त परिभाषा निश्चय सम्यग्दर्शन की परिभाषा है, अतः उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं समझना चाहिए। वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अपनापन करना आत्मा का स्वभाव है। परपदार्थ में अपनापन करना मिथ्यादर्शन है और निजात्मा में अपनापन करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन इन दोनों पर्यायों का त्रिकाली उपादान कारण श्रद्धा गुण है। जीव की श्रद्धा गुण की पर्याय किस विषय में अपनापन कर रही है, उसे मापकर पर से विरक्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञानी कहते हैं कि **ज्ञान की अदालत में श्रद्धा को खडी करके पूछो कि वह किसकी ओर झूकती है?**

असंतोष की भावना जितनी बने रहे उतना अपनापन ज्यादा समझना चाहिए। लेकिन जहा संतोष हो जाता है वहाँ अपनापन समाप्त हो जाता है। ताजमहल के दर्शन करते वक्त सुख लेने की मर्यादा होती है। लेकिन अपने घर के दर्शन बार-बार करने पर भी तृप्ति नहीं होती है। जीव को जहाँ अपनापन है, वहाँ संतोष नहीं होता है।

जब कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को मिलने जाता है और थोडे समय बाद प्रेमिका अपने घर वापिस लौटने की बात करती है, तब प्रेमी उसे और थोडी देर बेठने का आग्रह करता है। ज्यादा देर तक साथ बैठने पर भी प्रेमी को संतोष नहीं होता है, इससे यह निश्चित होता है कि प्रेमी को प्रेमिका पर अटल अपनापन है।

जहाँ अपनापन होता है, वहाँ सर्वस्व समर्पण का भाव होता है। अगर ताजमहल की मरम्मत के लिये पैसे देना पडे तो पैसे देने में हिचकिचाहट होती है। लेकिन अपने घर की मरम्मत के लिये सौ रुपये की जगह पांच सौ रुपये खर्च करने में भी हम पीछे नहीं हटते। क्योंकि हमने घर को अपना माना है, ताजमहल को नहीं। आत्मा के पास भी एक वस्तु है, जो आत्मा स्वयं को समर्पित कर सकता है। वह है अपना समय अर्थात् अपनी पर्याय।

अपनी पर्याय को आत्मद्रव्य में केन्द्रित करना ही आत्मा का आत्मा को सर्वस्व समर्पण है। इसप्रकार के समर्पण के लिये निर्धन और धनवान, गृहस्थ और साधु के भेद का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जब तक आत्मा में एकत्व स्थापित नहीं हो जाता, तब तक आत्मा के गुणगान गाने मात्र से आत्मानुभूति प्रकट नहीं हो जाती।

यदि हम नौकर को कहे कि आज की रात तुम यहीं सो जाना। परन्तु वह कहेगा, नहीं, मैं यहाँ नहीं सो सकता। मैं तो मेरी झोंपडी में सोने जाउँगा। वहाँ मक्खी-मच्छर काटते हैं, फिर भी वह नौकर आलियेान घर में न सो करके अपनी झोंपडी में ही सोना चाहता है। वह कहता है कि मैं जागता हूँ, नौकर बनकर। लेकिन नौकर बनकर सोना पसंद नही करुँगा। यदि मुझे आलियेान घर में सोना पडे, तो ऐसा मानकर सोना पडेगा कि एक नौकर सो रहा है, लेकिन उस झोंपडी मे सोउँगा तो ऐसा मानकर सो सकूँगा कि एक मालिक सो रहा है। जहाँ एकत्व स्थापित होता है, वहाँ जीव को सुख का अनुभव होता है। आशय यह है कि **जब आत्मा में एकत्व स्थापित होता है, तब आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है।**

एक कवि ने कहा है कि प्रेम सब कुछ बर्दाश्त कर सकता है, लेकिन

दूरी बर्दाश्त नहीं कर सकता। जब राम और लक्ष्मण वन में थे, तब वे वहाँ भी खुश थे। लेकिन उन्हें दु:ख इस बात का था कि, हमारी माताओं को यह मालूम नहीं है कि, हम यहाँ खुश हैं। यदि आत्मा के प्रति प्रेम होता है, तो आत्मा की पर्याय आत्मा में सहजरुप से जुडती है, पर्याय एक समय के लिये भी आत्मद्रव्य से विमुख नहीं रह सकती।

जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के घर में रहने से वह व्यक्ति उसके घर का मालिक नहीं हो जाता। ऐसे ही इस देहरुपी परघर में रहने से मैं इस देह का मालिक नहीं हो जाता। मैं मुम्बई में रहता हूँ, तो क्या मैं मुम्बई का मालिक हो गया? क्या तीन लोक में रहने के कारण मैं तीन लोक का मालिक हो गया? क्या विश्व में रहने के कारण मैं विश्व का मालिक हो गया? नहीं, कदापि नहीं।

मेरा अस्तित्व मात्र मेरे असंख्यात प्रदेश तक ही सीमित है। बस इसके अलावा मेरा स्वामित्व अन्य कहीं भी नहीं है, इसलिये इन सभी प्रकार के मिथ्यात्वभाव से मुक्ति पाने के लिये अपने इस मनुष्यभव को निजात्मा के लिये ही समर्पित करना चाहिए।

हे आत्मा! बस, अब तू वापिस लौट जा, बस, स्वयं को ही ऐसा कहो कि अब मुझे संसार परिभ्रमण नहीं करना है, अब मुझे दूसरा भव नहीं लेना है, अब मुझे चार गति के परिभ्रमण के दु:ख नहीं भोगने है। अब तो मुझे मेरे अनन्त वैभव को ही भोगना है। भगवान आत्मा ही मेरी श्रद्धा का श्रद्धेय, ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय बने, ऐसी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, सम्यग्द्रष्टी जीव की यही भावना होती है।

४. सात तत्त्वों का स्वरूप एवं रहस्य

आचार्य श्री उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थसूत्र (अपर नाम मोक्षशास्त्र) के पहिले अध्याय के चौथे सूत्र में सात तत्त्वों नाम इसप्रकार लिखे हैं।

जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।।१-४।।

अर्थ : जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

सात तत्त्वों में सर्व प्रथम जीव तत्त्व है। जीव तत्त्व का अर्थ निज भगवान आत्मा ही समझना चाहिए। क्योंकि जीव तत्त्व द्रष्टि का विषय होने से उसमें परद्रव्य एवं पर्याय को शामिल नहीं किया गया है। अधिकांश लोग जीवद्रव्य और जीवतत्त्व को एक ही मान लेते हैं, परन्तु उन दोनों में बहुत बडा अन्तर है। इसके सम्बन्ध में क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव में इसप्रकार लिखा है।

जीवद्रव्य प्रमाण का विषय है और जीवतत्त्व परम शुद्ध निश्चयनय का विषय है। जीवद्रव्य पर्याय से अभिन्न है तथा जीवतत्त्व पर्याय से कथंचित् भिन्न है। छह द्रव्य को समझने से छह द्रव्य के समूहरुप विश्व के स्वरुप का यथार्थ ज्ञान होता है। सात तत्त्व को समझने से समस्त पर पदार्थो से भिन्न अपनी पर्यायों से कथंचित् भिन्न एकाकार आत्मा का स्वरुप समझ में आता है। आगम पद्धति से जगत को समझने के लिये छह द्रव्यों का अभ्यास करना चाहिए। अध्यात्म पद्धति से जगत को समझने के लिये सात तत्त्वों का अभ्यास करना चाहिए।

जीव द्रव्य की द्रष्टि से महावीर ही मारीचि थे और मारीचि ही महावीर हुए, यह बात परम सत्य है। फिर जीव तत्त्व की द्रष्टि से मारीचि, मारीचि नहीं है। महावीर, महावीर नहीं है। मारीचि आत्मा है और महावीर भी आत्मा है।

जीव द्रव्य को पहिचानने से जीव के विशेष भेद-प्रभेद का ज्ञान होता है, पूजा-भक्ति का व्यवहार, अहिंसात्मक आचरण और सदाचारमय जीवन

जीने की कला प्रकट होती है। जीव तत्त्व की ओर द्रष्टि करने से जीव द्रव्य की पर्याय अशुद्ध से शुद्धरुप में परिणमित होती है। जीव तत्त्व की ओर द्रष्टि करने से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की अशुद्ध पर्यायें नष्ट होती हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शुद्ध पर्यायें प्रकट होती हैं।

जीव द्रव्य और जीव तत्त्व आदि विषयों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही वैराग्य प्रकट होता है। परपदार्थ के सत्य स्वरुप को जाने बिना परपदार्थ सुखरुप नहीं है, ऐसा वैराग्य प्रकट नहीं होता। जीव द्रव्य कहते ही संसारी-मुक्त, अज्ञानी-ज्ञानी आदि जीव के भेदों का ज्ञान होता है। सर्व जीवों के प्रति समद्रष्टि का भाव प्रकट होता है। प्रत्येक आत्मा अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करे ऐसा भाव जागृत होता है।

आत्मद्रव्य को श्रद्धा गुण की पर्याय से सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो जैसे परपदार्थ में अपनापन करने से मिथ्यात्व का दोष उत्पन्न होता है, उसीतरह निजात्म द्रव्य में अपनापन करने से मिथ्यात्व का दोष उत्पन्न होता है। इसलिये **आत्मा को आत्मा की पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं समझना चाहिए। जो जीव वर्तमान में रागादिभाव सहित है तथा स्वयं को रागादिभाव सहित मानता है, उसी जीव को आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाली वीतराग परिणति के सुख का रसास्वादन होगा।**

दो प्रकार के लोग वैद्य के पास नहीं जाते है। १. जो अभी बिमार नहीं हैं। २. जिनकी बिमारी कभी मिट नहीं सकती। जो व्यक्ति बिमार है तथा बिमारी मिट सकती है, उस व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र वैद्य के पास जाना चाहिए। ऐसे ही जो जीव स्वयं को वर्तमान पर्याय में राग सहित मानता है तथा रागभाव जीव की एक समय की पर्याय है, वह क्षणिक होने से उसका नाश हो सकता है, ऐसी मान्यता वाले जीव को शीघ्रातिशीघ्र सांसारिक कार्य को छोडकर सद्गुरुरुपी वैद्य के पास जाना चाहिए।

जीव द्रव्य की अपेक्षा से स्थावर तथा त्रस जीवों के भेद उत्पन्न होते हैं। यदि इस भेद का स्वीकार नहीं किया जाय, तो सदाचार की सिद्धि

नहीं होती है। द्विइन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय के जीव के कलेवर को मांस कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव के शरीर को मांस नहीं कहते इसलिये पंचेन्द्रिय जीव के घात की तुलना में एकेन्द्रिय जीव के घात का पाप अल्प कहा है। पंचेन्द्रिय के भक्षण से एक पंचेन्द्रिय जीव का ही नहीं, परन्तु उसके अन्दर रहने वाले अनन्त निगोदिया जीवों का भी घात होता है।

मांस भक्षण करने वाले जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। वहीं दूसरी ओर मुनिराज को श्वासोच्छवास की क्रिया से वायुकायिक जीव भी शरीर में जाते हैं, फिर भी मुनि अवस्था में कोई बाधा नही आती।

जैसे हिंदुस्तान, अमरिका नहीं जा सकता, लेकिन हिंदुस्तानी अमरिका जा सकता है। ऐसे ही एक द्रव्य, अन्य द्रव्य में परिणमित नहीं होता, हो भी नहीं सकता, परन्तु जीव की मान्यता परपदार्थ में अपनेपन कर सकती है।

ज्ञान की पर्याय में क्षणिकपने का ज्ञान होने पर, ज्ञान ही क्षणिक है, ऐसा जानना विकल्प है। आत्मद्रव्य की ज्ञान की पर्याय में आत्मा का ज्ञान नहीं होता है, यही दु:ख है। जिस प्रकार किसी प्रेमीका के प्रेमी की याद विस्मृत हो गई हो, तो प्रेमिका की यह इच्छा होती है कि मेरे प्रेमी की याददाश्त वापिस लौट आये और उसकी याद में, मैं वापिस आ जाऊँ, उसी प्रकार मुमुक्षु की यह भावना होती है कि आत्मा की पर्याय शुद्धरुप में परिणमित हो, जिससे अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान प्रकट हो और सम्यग्ज्ञान पर्याय में आत्मा जानने में आये। इतना ही नहीं, प्रेमिका ऐसा भी चाहती है कि मेरे प्रेमी की याद पुन: लौटने पर मेरा प्रेमी मुझे ही जाने, अन्य किसी भी परस्त्री को न जाने। उसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्ज्ञान प्रकट होने पर निजात्मा को जाने, यही ज्ञानी का अतीन्द्रिय सुख है। रागादि विकल्पों को ही जानना और अपने आत्मा को न जानना ही दु:ख है।

जिस प्रकार प्रेमी और प्रेमिका एक साथ में होते हुए भी एक साथ नहीं है, क्योंकि प्रेमी को प्रेमिका का ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय तथा आत्मा एक साथ होते हुए भी एक साथ नहीं हैं, क्योंकि पर्याय चैतन्य स्वभाव का लक्ष्य नहीं करती है। **जिस पदार्थ में अपनापन होता**

है वह पदार्थ सहज ही सच्चा और अच्छा हो जाता है। सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं।

ज्ञान का कार्य विचार करना है तथा श्रद्धा का कार्य प्रतीति करना है। ज्ञान पर्याय में जो विचार चलते हैं, श्रद्धा गुण की पर्याय उसी में प्रतीति करती है। जैसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना रखा गया प्रस्ताव कानून नहीं बनता, ऐसे ही श्रद्धा द्रढ हुए बिना ज्ञान में चलते आत्मा सन्बन्धी विचारों को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता। राष्ट्रपति का कार्य मात्र हस्ताक्षर करना है तथा उनके नीचे काम करने वाले लगभग ५०० लोगों का कार्य विचार करना है। यदि राष्ट्रपति को उन ५०० लोगों के विचार स्वीकृत नहीं हो, तो वे उन ५०० लोगों को पुनः विचार करने के लिये कहते हैं, लेकिन स्वयं विचार करते नहीं। उसी प्रकार श्रद्धा गुण का कार्य ज्ञान में होने वाले विचारों में मोहर लगाने का है। अगर श्रद्धा को ज्ञान में होने वाले विचारों का स्वीकार न हो, तो श्रद्धा सोचने का कार्य नहीं करती। ज्ञान ही सोचने का कार्य करता है।

जितना समय विचार करने में लगता है, उतना समय दस्तखत करने में नहीं लगता। ऐसे ही ज्ञान उपार्जन करने में जितना समय लगता है, उतना समय सम्यग्दर्शन होने में नहीं लगता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एक समय में हो जाती है। जैसे परिवर्तनशील वाच को, मात्र वाच ही करते हैं। ऐसे ही परिवर्तनशील जगत को, मात्र वाच ही करना है, मात्र जानना-देखना है।

निज आत्म द्रव्य के अलावा इस जगत में जितने भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं, वे तो अजीव तत्त्व में शामिल है ही, साथ-साथ निज आत्मा के अलावा इस जगत में जितने भी जीव हैं, वे भी अजीव तत्त्व में शामिल हैं। इतना ही नहीं उन समस्त पर जीव द्रव्य और पुद्गलादि द्रव्यों के गुण एवं पर्याय भी अजीव तत्त्व में ही शामिल हैं। भगवान महावीर का आत्मद्रव्य, उनके अनन्त गुण और उनकी केवलज्ञान, मोक्ष आदि पर्याय भी अजीव तत्त्व में ही गर्भित है। यद्यपि वे जीव द्रव्य हैं, फिर भी सात तत्त्व के प्रकरण में द्रष्टि का विषयभूत जीव तत्त्व को प्रकट

प्रयोजन होने से समस्त परमात्माओं और उनके गुण-पर्याय सहित समस्त जीवों को अजीव तत्त्व कहा है।

निज आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भावों को आश्रव तत्त्व कहा है। किसी अन्य आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भाव अजीव तत्त्व हैं। **स्वयं के क्रोधादिभाव आश्रव तत्त्व होने से हेय हैं, छोडने योग्य हैं। अन्य जीवों के क्रोधादिभाव अजीव तत्त्व होने से मात्र ज्ञेय हैं, मात्र जानने योग्य हैं।**

निज आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भावों में बन्धना ही बन्ध तत्त्व है। बन्ध तत्त्व हेय है। अज्ञानी स्वयं को शुभ और अशुभ भावों स्वरुप ही मानता है। द्रव्य स्वभाव में बन्धन नहीं है, अज्ञानी पर्याय के बन्धन को अपना मानता है। **ज्ञानी भी स्वयं को कर्मो से बन्धे हुए जानते तो हैं, परन्तु वे बन्ध से भिन्न चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा ही मानते हैं।**

निज आत्मा में वीतराग भाव प्रकट होना संवर है। **भेदविज्ञान के बल से आत्मा में संवर का भाव प्रकट होता है।** संवर तत्त्व उपादेय है। भेदविज्ञान के बल पर प्रकट होने वाला संवर आत्मा के लिये हितकारी होने से उपादेय है।

निज आत्मा में वीतराग भाव में शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा है। निर्जरा तत्त्व उपादेय है। **ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं।** खास याद रहे, ज्ञानी भी भोग को भोगते हैं, परन्तु भोग को भोगते-भोगते ज्ञानी नहीं हुए थे। जब उन्हें भोगों में से सुखबुद्धि मंद हुई थी, तब एक मात्र निज शुद्धात्मा के चिन्तन-मनन के बल पर उपयोग निज आत्मा में स्थिर हुआ था। तब वे ज्ञानी हुए थे। ज्ञानी भोग भोगते हैं, परन्तु भोग भोगने से ही कोई ज्ञानी नहीं हो जाते। जिस प्रकार डॉक्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह डॉक्टर सो रहे हो, ऐसा हो सकता है, सोते समय भी वह डॉक्टर है, परन्तु यह देखकर कोई व्यक्ति सोते-सोते ही डॉक्टर नहीं बन जाता। सोते-सोते जो डॉक्टर बन जाते हैं, वे सपने में ही बनते हैं, सपना तो कल्पना है, ऐसे ही भोग भोगते ही सम्यग्दर्शन मानने वाले अथवा भोग छोडकर स्वयं को साधु मानने वाले जीव विकल्पों की कल्पना के सपने में ही डूबे हैं। **वास्तव**

में मिथ्यात्व की गहरी नींद में से जागकर ही शुद्धात्मा के श्रद्धान-ज्ञान और लीनता के बल पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुपी रत्नत्रय और सकल चारित्ररुप वीतराग परिणति की शुद्धि के बल पर साधुदशा प्रकट होती है।

निज आत्मा में परिपूर्ण शुद्ध पर्याय का प्रकट होना मोक्ष है। **याद रहे, स्वयं की मोक्ष पर्याय को मोक्ष तत्त्व कहा है। अन्य जीवों की मोक्ष पर्याय को अजीव तत्त्व कहा है।** क्योंकि स्वयं का मोक्ष ही स्वयं के लिये परम उपादेय है, अन्य जीवों की मोक्ष पर्याय ज्ञेय मात्र है।

इसप्रकार सातों तत्त्वों को समझने का मूल आशय यह है कि समस्त परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न एवं अपनी पर्यायों से कथंचित् भिन्न अखण्ड, त्रिकाली, अभेद, एक, निज शुद्धात्मा में निर्विकल्प अनुभूति सहित अपनेपने की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। **मैं भगवान आत्मा ही हूँ, ऐसी अटल एवं अचल श्रद्धा का नाम है सम्यग्दर्शन।**

५. सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन ऐसा महिमावान रत्न है कि जिसके प्रकट होते ही मोक्षरुपी महल में अनन्तकाल तक विराजमान होना निश्चित हो जाता है। जिस जीव का संसार सागर का किनारा नजदीक होता है, उसी जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन प्रकट होने के बाद भी ज्ञानियों को चारित्र मोह के उदय से रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। जैसा कि पवनंजय क्षायिक सम्यग्द्रष्टी थे, फिर भी अंजना को देखते ही मोहित हो गये थे, मोहित हो जाने पर भी उनका सम्यक्त्वपना कायम था। सम्यग्द्रष्टी होने पर भी वे अंजना के रुप पर ऐसे मोहित हो गये कि बेहोश ही हो गये। **यद्यपि सम्यग्द्रष्टी को भी विवाहादि करने का भाव आ सकता है, किसी स्त्री को देखकर स्त्री के प्रति राग का भाव आ सकता है। परन्तु यदि उन्हें ज्ञान हो जाये कि जिस स्त्री के प्रति**

राग का भाव उत्पन्न हुआ है, वह स्त्री किसी पुरुष की पत्नी है, तो फिर उसी क्षण उन्हें उस स्त्री के प्रति विकार का भाव छूट जाता है, क्योंकि सम्यग्द्रष्टी को परस्त्री के प्रति विकारभाव उत्पन्न नहीं होता, ज्ञानियों को परस्त्रीसेवन नामक व्यसन का नियम से त्याग होता है।

इतना ही नहीं, **चारित्र मोह के उदय से सम्यग्द्रष्टी पागल भी हो सकते हैं, परन्तु याद रहे, पागल सम्यग्द्रष्टी नहीं हो सकते।** राम क्षायिक सम्यग्द्रष्टी थे, फिर भी अपने भाई के प्रति राग के कारण वे लक्ष्मण के मृतदेह को छह माह तक कंधे पर उठाकर घूमते रहे। फिर भी उनके क्षायिक सम्यक्त्व में रंचमात्र भी दोष उत्पन्न नहीं हुआ था। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के जिज्ञासु जीवों को यह समझ लेना चाहिए कि **सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय है और उन्मत्त होना (पागल होना) चारित्र गुण की अशुद्ध पर्याय है।**

उक्त कथन की पुष्टि करते हुए करते हुए आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी जी ने समाधिशतक के ९४वें श्लोक में इसप्रकार लिखा है।

विदिताशेषशास्त्रोअपि न जागृदपि मुच्यते।
देहात्मद्रष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोअपि मुच्यते।। ९४ ।।

अर्थ : शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला होने पर भी तथा जागता हुआ भी मुक्त नहीं होता है। जिसने आत्मा के स्वरुप को देह से भिन्न अनुभव कर लिया है ऐसा विवेकी अंतरात्मा सोता और उन्मत्त होता हुआ भी मुक्त होता है।

कहने का आशय यह है कि मिथ्याद्रष्टि जीव शास्त्रज्ञानी होने पर भी आत्मज्ञानी नहीं होने से मिथ्यात्व के प्रभाव से कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता है। वहीं दूसरी ओर सम्यग्द्रष्टि जीव को स्व-पर के भेदविज्ञान के बल से नींद में और उन्मत्त होने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं छूटने से उसी सम्यग्दर्शन के बल पर कर्मबन्धन से मुक्त होता है। कुछ समय के लिये बेहोश हो जाने को मत्त कहते हैं और दीर्घकाल के लिये बेहोश हो जाने को उन्मत्त कहते हैं।

अनादिकालीन मिथ्याद्रष्टी जीवों को चारित्र से पूर्व सम्यग्दर्शन प्रकट करने हेतु सम्यग्दर्शन की महिमा समझने के लिये चार क्षायिक सम्यग्द्रष्टियों पर विचार करना अपेक्षित है। सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि के देव एवं भरत चक्रवर्ती इन चारों क्षायिक सम्यग्द्रष्टियों की बाह्य क्रियाओं का अवलोकन करने से सम्यग्दर्शन का स्वरुप स्पष्ट समझ में आ सकता है।

जब तीर्थंकर का जन्म कल्याणक होता है, तब सौधर्म इन्द्र यहाँ आते हैं, नाचते हैं। परन्तु जन्म कल्याणक में लौकांतिक देव को यहाँ आने का भाव भी नहीं आता। जब तीर्थंकर का दीक्षा कल्याणक होता है, तब लोकांतिक देव दीक्षा कल्याणक में आते हैं। परन्तु सर्वार्थसिद्धि के देव को तो तीर्थंकर के पांचो कल्याणक में से किसी भी कल्याणक में आने का भाव नहीं आता। वहीं दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती को युद्ध करने का भाव भी आता है। अपने भाई बाहुबली पर चक्र छोडने का भाव भी आता है।

स्थूल बाह्य क्रियाओं को देखने वालें जीवों को भरत चक्रवर्ती की दशा उपरोक्त स्वर्ग के तीनों सौधर्म इन्द्र, लोकांतिक देव और सर्वार्थसिद्धि के देव से हीन लग सकती है। परन्तु वे तीनों प्रकार के क्षायिक सम्यग्द्रष्टी देव उसी भव में मोक्ष को प्राप्त नहीं करते हैं और न ही कर सकते हैं, जबकि भरत चक्रवर्ती को वर्तमान में पाँचों पापो का त्याग नहीं होने पर भी आगे जाकर उसी भव में संयम धारण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

उपरोक्त सिद्धांत को समझने का तात्पर्य यह है कि **सम्यग्दर्शन के बाद चारित्र अंगीकार करके पूर्ण दशा को प्राप्त करने में अधिक देर नहीं लगती। अतः प्रत्येक साधक को सम्यग्दर्शन की महिमा जानकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पुरुषार्थ के लक्ष्य से अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है।**

सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए भगवती आराधना में भी लिखा है।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं।
जादो दु सेणिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि।। ७३९ ।।

अर्थ : सब से प्रथम सम्यक्त्व का माहात्म्य बतलाते हैं कि शुद्ध

सम्यक्त्वी अविरत भी तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। असंयमी भी श्रेणिक भविष्य में तीर्थंकर होगा।

सम्यग्दर्शन को परम दुर्लभ बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में भी इसप्रकार लिखा है।

सद्धा परमदुल्लहा।।३।।९।।

धर्म में श्रद्धा परम दुर्लभ है।

यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र आदि ग्रन्थों में भी सम्यग्दर्शन की महिमा बताई है, परन्तु शिथिलाचारी टीकाकारों ने मूल ग्रन्थों में निरुपित सम्यग्दर्शन की परिभाषा ही बदल दी है। उन्होंने बाह्य में दिखाई देने वाले आठ अंगरुप व्यवहार सम्यग्दर्शन को ही वास्तविक सम्यग्दर्शन मान लिया है। **वास्तव में निजात्मा की अनुभवपूर्वक होने वाली श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय को सम्यग्दर्शन कहते हैं।**

दु:ख की बात तो यह है कि शिथिलाचारीओं ने मूल आगमों में से भी कुछ गाथाओं को लुप्त कर दी है, जो गाथायें आज से कुछ सालों पहले आगमों में पाई जाती थी।

सम्यग्दर्शन में श्रद्धान की मुख्यता है। यद्यपि लोक में ज्ञान की महिमा बताई जाती है। ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान के समान दूसरा कोई धन नहीं है। विद्या को कोई चुरा नहीं सकता। विद्या तो विदेशों में भी पूज्य है। खास बात तो यह है कि एक साधारण विद्वान भी तत्त्व का ज्ञान देता है, परन्तु तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान भी तत्त्व की श्रद्धा कराने में समर्थ नहीं है। ज्ञान तो पूर्वभवों में अनेक बार प्राप्त किया परन्तु तत्त्व की श्रद्धा एक बार भी नहीं की। श्रद्धा और चारित्र के स्वतंत्र स्वरुप समझे बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यक् श्रद्धा होने को ही अज्ञानी चारित्र मान लेते हैं। इसलिये वे प्रत्येक सम्यग्द्रष्टी से उत्कृष्ट चारित्र की अपेक्षा करते हैं।

यदि किसी करोडपति का सम्मेदशिखर की यात्रा के दौरान साथ ले गया हो, वह सब धन लूंट जाये और उसे सहाय के लिये वहाँ के लोगों से हाथ फैलाना पडे फिर भी वह मानता तो है कि मैं मुम्बई में करोडपति हूँ। उस व्यक्ति का बाह्य आचरण देखेंगे तो भिक्षुक की तरह भटक रहा है, परन्तु उसकी श्रद्धा में द्रढता कायम है कि मैं करोडपति ही हूँ। ऐसे ही ज्ञानी का बाह्य आचरण पापमय होने पर भी ज्ञानी की श्रद्धा में यह द्रढता होती है कि समस्त पुण्य-पाप की क्रिया एवं भावों से भिन्न मैं ज्ञानानन्द स्वभावी शुद्धात्मा ही हूँ।

जिस प्रकार सूर्य के ताप से पत्थर गरम होता है, परन्तु सूर्यास्त होने के बाद भी वह पत्थर थोडी देर के लिये गरम रहता है। उसका गरमपना धीरे-धीरे कम होकर गरमपना मिट जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व के ताप से आत्मा में कषाय होते हैं, परन्तु मिथ्यात्व दूर होने के बाद भी आत्मा में कषायभाव कुछ काल के लिये रहते हैं। आत्मा में से कषायभाव क्रमशः दूर होकर कषाय मिट जाते हैं।

पैर की बिमारी दूर करने से पहले आँख की बिमारी का इलाज कराना चाहिए। आँख की बिमारी दूर हो जाये, तो व्हील चेअर पर दुनिया देख सकते हैं। आँख के लिये दूसरा कोई अन्य विकल्प नहीं है।

जैसे कि एक कमरे में एक व्यक्ति आँख की बिमारी से परेशान दर्दी है और दूसरा व्यक्ति पैर की बिमारी से परेशान व्यक्ति है। एक देख नहीं सकता और दूसरा चल नहीं सकता। जिसे आँख नहीं ऐसा व्यक्ति चलता है और दीवारों से टकराता हुआ ठोकरे खाता है, वहीं जिसे आँख है, परन्तु पैर नहीं है, वह व्यकित ठोकरे नहीं खाता है। आँख होने का आशय सम्यग्दर्शन और पैर होने का आशय है चारित्र के पालनरुप मुनिधर्म। सम्यग्दर्शन प्रकट होते ही आत्मा सारे जगत को जान लेता है। क्योंकि जिसने एक आत्मा को जाना, उसने सारे जगत को जाना। **सार यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र प्रकट नहीं होता है, अतः सम्यग्दर्शन को अत्यंत महिमावान जानो।**

६. महिमावान सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिका

महिमावान सम्यग्दर्शन प्रकट होने से पहिले जीव को वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म, सात तत्त्व और स्व-पर के यथार्थ स्वरुप की समझ होनी चाहिए। **आत्मार्थी जीवों को आत्मा के अलावा सारा जगत असार लगता है।** कुछ अज्ञानी कहते हैं कि आप आत्मा के अलावा और कुछ बातें ही नहीं करते। हर रोज एक ही आत्मा, आत्मा, आत्मा के चिन्तन-मनन से क्या आपको थकान नहीं लगती? ज्ञानी कहते हैं कि तुम बचपन से हर रोज एक ही घर में रहते हो, क्या तुम्हें थकान नहीं लगती? जब भी कोई व्यक्ति तुम्हारा नाम पूछता है, तब रोज-रोज अपना एक ही नाम बताने में तुम्हें थकान नहीं लगती? सत्य तो यह है कि जिस पदार्थ में एकत्व होता है, उस पदार्थ की चर्चा-वार्ता में कभी थकान नहीं लगती। ऐसे ही ज्ञानी को भगवान के चिन्तन-मनन में कदापि थकान नहीं लगती। जैसे विषय भोगों के काल में आलस नहीं आती, ऐसे ही साधक जीवों को जिनप्रवचन सुनते वक्त, शास्त्र स्वाध्याय करते वक्त आलस नहीं आती। वास्तव में चैतन्य परमात्मा को सुख स्वरुप मानने पर अनन्त भवों की आलस व थकान दूर हो जाती है।

आत्म कल्याण की भावना वाले जीवों को सदाचार, अणुव्रत और महाव्रत का स्वरुप समझना चाहिए। चौथे गुणस्थान में अणुव्रत एवं महाव्रत इन दोनों में से एक भी व्रत नहीं होता है। पांचवें गुणस्थान में अणुव्रत और छठवें गुणस्थान में महाव्रत का पालन होता है। **जो जीव स्वयं को महाव्रत का पालन करने वालें मानते हैं और मनवाते हैं, उन्हें आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि क्या उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है? सम्यग्दर्शन के बिना अणुव्रत या महाव्रत होते ही नहीं।** याद रहे, सात व्यसनों का त्याग और अन्याय, अनीति एवं अभक्ष्य का त्याग अणुव्रत और महाव्रत की श्रेणी में नहीं, बल्कि सदाचार की श्रेणी में आता है। **सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सदाचार का पालन अनिवार्य है, अणुव्रत और महाव्रत का नहीं।**

७. देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होने को ही देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं समझ लेना चाहिए। कोई व्यक्ति रेस्टॉरन्ट में भोजन करने जाये और कहे कि जैन भोजन लेकर आओ। जब वेटर भोजन लाकर टेबल पर रखता है, तब वह व्यक्ति पूछता है कि भोजन अच्छा है न? खाने योग्य तो है न? वेटर कहता है कि हाँ, क्यों नहीं, बहुत अच्छा है, आप खाइए। सर्वज्ञ भगवान ने रेस्टॉरन्ट के भोजन को अभक्ष्य कहा, परन्तु इस व्यक्ति को सर्वज्ञ भगवान से भी अधिक श्रद्धा वेटर पर है, खास बात तो यह है कि उस व्यक्ति को विषयभोगों की अतिशय आसक्ति होने के कारण सर्वज्ञ भगवान के उपदेश पर लक्ष्य ही नहीं जाता।

याद रहे, मन्दिर में जाकर भगवान के सामने हाथ जोडने को भगवान की श्रद्धा नहीं समझना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान और गुरु के वचन शास्त्र हैं। शास्त्र के वचनों को अपने जीवन में घटित करके वस्तु के यथार्थ स्वरुप का निर्णय करना चाहिए।

देव और शास्त्र के समान गुरु की श्रद्धा में विवेक होना चाहिए। तीन प्रकार की नाव होती हैं। लकडी की नाव, कागज की नाव, पत्थर की नाव। लकडी की नाव स्वयं तिरती है और उस नाव में बैठकर सफर करने वाले भी तिरते हैं। व्यवहार से ऐसा कह सकते हैं कि वह नाव स्वयं तो तिरती है और दूसरों को तिराती भी है। कागज की नाव स्वयं तो तिरती है, परन्तु दूसरों को तिराती नहीं है। पत्थर की नाव स्वयं भी तिरती नहीं है और दूसरों को तिराती भी नहीं है। पत्थर की नाव स्वयं तो पानी में डूबती है, साथ ही उस नाव में बैठने वाले को भी डूबाती है। उसी प्रकार तीन प्रकार के गुरु होते हैं। पहिले, जो गुरु स्वयं संसार सागर से तिरते हैं और उनके उपदेश का जीवन में प्रयोग करने वाले भी तिरते हैं। व्यवहार से ऐसा कह

सकते हैं कि वे गुरु स्वयं संसार सागर से तिरते हैं और दूसरों को तिराते भी है, उन्हें लकडी की नाव समान समझना चाहिए। दुसरे, गुरु स्वयं तो तिरते हैं, परन्तु उपदेश देने का सामर्थ्य नहीं होने से वे दूसरों को तिराते नहीं है। ऐसे गुरु को कागज की नाव के समान समझने चाहिए। तीसरे गुरु स्वयं भी तिरते नहीं है और दूसरों को तिराते भी नहीं है। वे स्वयं तो संसार सागर में डूबते हैं, साथ ही उनका उपदेश अपनाने वाले, पूजने वाले, भक्ति करने वाले, नमस्कार आदि करने वाले भी संसार सागर में डूबते हैं।

यदि कोई तलवार से सिर भी काट दे, तो भी वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को छोडकर अन्य कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु की पूजा-भक्ति आदि नहीं करना, ऐसी द्रढ श्रद्धा होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है।

८. सात व्यसनों के त्याग का रहस्य

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सात व्यसनों का त्याग अनिवार्य है। क्योंकि शराबी और कबाबी को कदापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को सात व्यसनों का स्वरुप अच्छी तरह से समझकर उनके त्याग की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए क्योंकि प्रतिज्ञा लेने से त्याग में द्रढता आती है।

किसी विषय की आदत हो जाना, उसे व्यसन कहते हैं। वह विषय अशुभ भी हो सकता है और शुभ भी हो सकता है। फिर भी यहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जिन व्यसनों का त्याग अनिवार्य है, उन्हें ही व्यसन कहकर उनके स्वरुप पर विचार किया है।

आदती जीवन का अर्थ तो यह है कि यहाँ घडी के कांटे घूमे और वहाँ अज्ञानी के विकल्प भी घूमे। जैसे कि दोपहर में बारह बजे भोजन करने की आदत है और कदाचित् बाहर से घर पर आते-आते तीन बज गये हो, तीन बजे भोजन के लिये बैठते तो हैं, परन्तु भोजन कर नहीं

पाते। शिकायत करते हैं कि देखो! आज तीन बज गये, भूख ही मर गई। वास्तव में तीन घण्टे देरी से भोजन करने बैठे हैं, तो अधिक भूख लगनी चाहिए। परन्तु बारह बजे की आदत होने से तीन बजे भोजन नहीं कर पाते हैं। ऐसी ही **अनेक प्रकार की आदतों के वशीभूत होकर ही अज्ञानी जीव अनादिकाल से पराधीनता भोग रहा है।** सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जिन सात बूरी आदतों को छोडना अनिवार्य है, वे इसप्रकार है।

१. जुआ खेलना, २. मांस खाना, ३. मदिरा पीना, ४. वेश्यागमन करना, ५. शिकार खेलना, ६. परस्त्रीरमण करना, ७. चोरी करना।

१. जुआ खेलना - हार-जीत पर द्रष्टि रखते हुए रुपये, सोने, चांदी, आदि धन से किसी भी प्रकार का खेल खेलना या शर्त लगाकर हार-जीत के विकल्पों करना या अपना रुपया, जमीन आदि दाव पर लगाकर उस धन के बदले में अधिक धन पाने की लालसा और धन गंवाने का भय होना जुआ खेलना नामक पहला व्यसन है। यह कौन नहीं जानता है कि जुआ खेलने के कारण ही तो महाभारत का महायुद्ध खेला गया? सातों व्यसनों में जिसे पहले क्रम पर रखा हो, ऐसे व्यसन को अहितकारी जानकर शीघ्रातिशीघ्र त्याग करना चाहिए। परिणामों की चंचलता और चित्त की मलिनता के कारण ही इस व्यसन को पहले क्रम पर रखा है।

एक व्यक्ति शेयर बाज़ार में अपना धन लगाकर उसके विकल्पों में उलझकर सारी जिन्दगी जुआ खेलता रहा, अंत में मरण के समय उसे १०० डीग्री बुखार आया, थोडी ही देर में १०० से १०१ और १०२ भी हो गया। जब उसे कहा गया कि १०१ से १०२ हो गया है, तभी वह बोला, बेच दो। सारी जिन्दगी सेन्सेक्स के भावों के विकल्पों में चित्त लगाया था, मरते वक्त भी उन्हीं विकल्पों में उलझता था। बेच दो ऐसा बोलते ही देह छूट गया, वह फिर से चौरासी के चक्कर में चला गया। **हे जीव! प्राप्त अवसर गंवाने योग्य नहीं है।**

जिस प्रकार ताश के ५२ पत्ते में राजा से भी बडा पत्ता इक्का है, ऐसे ही (५२) - पर पदार्थों से भिन्न सब से बडा पत्ता इक्का है। अज्ञानी इस

पत्ते का सदुपयोग नहीं करता अर्थात् एक मात्र सत्ता स्वरुपी शुद्धात्मा की ओर उपयोग ही नहीं ले जाता। **निश्चय द्रष्टि से देखने पर यह जीव कर्मो के साथ जुआ खेल रहा है। कर्म उदय में आकर जीव के सामने अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोगो के पत्ते फेंकते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगो के बदले में जीव राग-द्वेष विकारी भावों के पत्ते फेकता हैं, यद्यपि सबसे बडा पत्ता इक्का है, फिर भी अज्ञानी उसका उपयोग ही नहीं करता। एक भगवान आत्मा ही सब से बडा इक्का है।**

समयसार में भी ३८ एवं ७३ वीं गाथा में आत्मा का स्वरुप इसप्रकार लिखा है।

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्मओ णाणदंसणमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चितो सव्वे एदे खयं णेमि।। ७३ ।।

अर्थ : निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ, उस स्वभाव में स्थित, उसी में लीन होता हुआ इन सभी क्रोधादिभावों का क्षय करता हूँ।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।। ३८ ।।

अर्थ : निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरुपी हूँ; कुछ भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

अनेक अंको के विकल्पों में डूबकर विकल्प से जुआ खेलने से क्या लाभ है? **प्राप्त अमूल्य मनुष्यभव को दाव पर लगाकर उपयोग की चंचलता और चित्त की मलिनता का जुआ खेलने वाले अज्ञानी जन तो नियम से मनुष्य भव हारने वाले हैं। ज्ञानी कहते हैं कि जगत में मेरा कुछ भी नहीं है, एक मात्र निज शुद्धात्मा ही मैं हूँ।**

लोक में कहा जाता है कि हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है, उसीप्रकार जीवन की अनुकूलता और प्रतिकूलता से हारा हुआ अज्ञानी जीव और अधिक विकल्पों में उलझता है। जुआ खेलने में परिणामों की चंचलता अधिक होती है। परिणामों में निरंतर उतार-चढाव होता रहता

है, अतः चंचल परिणामों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। **हे परमात्मा! प्राप्त होने वाली मोक्ष की पर्याय भी टिककर नहीं रहती, वह भी पर्याय होने से अनित्य है, नित्य परिणमनशील है। अतः ज्ञानी मोक्ष का ध्यान नहीं करते, बल्कि निज शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं। द्रष्टि का विषय सम्यक्एकांतरुप निज शुद्धात्म द्रव्य ही है।**

२. मांस खाना - मार कर या मरे हुए त्रस जीवों का कलेवर खाने में आसक्त होना और उसका भक्षण करना मांस खाना नामक दूसरा व्यसन है। त्रस जीव के कलेवर को ही मांस कहते हैं। मांस कहने पर खून, चरबी, चमडी भी समाविष्ट समझना चाहिए। मरे हुए, मारे हुए या जीवित प्राणियों का मांस नहीं खाने का संकल्पपूर्वक पालन हो, तब ही सम्यग्दर्शन हो सकता है।

मांस को देखकर जुगुप्सा होने मात्र के कारण मांसभक्षण का त्याग नहीं करना है, बल्कि उसमें अनेक जीवों का घात होता है और मांस के भक्षण से आत्मा के परिणामों में ऐसी मलिनता उत्पन्न होती है, जो कि आत्मोन्मुख द्रष्टि करने के लिये बाधक होते हैं। याद रहे, जिस पात्र में थोडी देर पहिले मांस खाया गया हो, ऐसा सकता है, यह जानते हुए भी पांच सितारा (फाइव स्टार) होटल में भोजन करे, उसे भी मांस भक्षण का सूक्ष्म दोष लगता है। अतः समयसार आदि ग्रन्थों पर स्वाध्याय करने वाले सम्यग्दर्शन के पिपासु जीवों में मांस भक्षण के त्यागरुप सदाचार तो होना ही चाहिए।

अनछना पानी पीने में मांस भक्षण का दोष नहीं लगता। याद रहे, **अनछना पानी पीने पर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है, परन्तु छने पानी पीने की क्रिया में ही अटक जाने वाले जीवों को सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता।** क्रियाकांड में अटकने वालें जीवों को याद रखना चाहिए कि जीभ को निरंतर तालू के मांस का स्पर्श होता रहता है, परन्तु उसमें मांस भक्षण का दोष नहीं लगता।

उपरोक्त बातों को जानकर अनछना पानी पीने या मांस खाने को उपादेय नहीं मान लेना चाहिए। यहाँ तो सिद्धांत का ज्ञान कराने हेतु कथन किया है। श्रेष्ठ तो यही है कि प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी भूमिकानुसार सदाचारमय जीवन जीना ही चाहिए।

निश्चय द्रष्टि से अपने शरीर को देखकर उसमें अपनापन करना ही मांस भक्षण नामक व्यसन है। प्रत्येक मिथ्याद्रष्टी प्राप्त शरीर में तन्मय होता है और देह को पुष्ट करने के लिये ही उपचार खोजता है। मांस की दुकान पर बैठे हुए कसाई ने जानवरों के मांस को फैलाया होता है, परन्तु उस मांस को पावडर लगाकर, मैक-अप करके लिप-स्टीक से सजाया नहीं होता। अब जरा सोचो, दर्पण के सामने देह में तन्मय होकर चैतन्य स्वभावी आत्मा को भूलकर देह का श्रंगार करते समय आपने मांस खाने के व्यसन का सेवन किया ऐसा लगता है? **निश्चय से सम्यग्द्रष्टी को ही मांस भक्षण व्यसन का त्याग होता है, क्योंकि वे ही स्वयं को या अन्य किसी को मोटा-पतला, काला-गोरा आदि शरीररुप नहीं देखते।**

३. मदिरा पीना - देशी शराब, विदेशी शराब, भांग, चरस, गांजा, तम्बाकु, बीडी, सीगारेट आदि नशा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं का सेवन करना मदिरापान नामक तीसरा व्यसन है। फलों को सडा-गलाकर बनायी गयी शराब के सेवन का त्याग करना अनिवार्य है। **यद्यपि मांसाहारी पशु मांसभक्षण करते हैं, परन्तु शराब का सेवन नहीं करते। समझ का स्वामी मनुष्य मांसाहारी पशुओं से भी हीन आचरण करता है।** आज तो ऐसा कलियुग आया है कि स्वयं को जैन कहने वाले सुबह उठकर देवदर्शन किये बिना पानी नहीं पीने वाले लोग भी शराब पीये बिना सोते नहीं हैं। स्वच्छंदता का पोषण करके बेहोश होकर पार्टियों में शराब उछालते हैं और पीते हैं।

निश्चय द्रष्टि से देखने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु मोहरुपी मदिरा का त्याग करना अनिवार्य है। क्योंकि जड शराब तो कुछ घण्टे के लिये ही व्यक्ति को बेहोश करती है, परन्तु मोहरुपी मदिरा से तो जीव अनादि काल से बेहोशी में जी रहा है। वास्तव में जड शराब भी मनुष्य को नशा कराके नचाती नहीं है। **यदि जड शराब में नशा होता, तो शराब की बोतलों को भी नाचना चाहिए, अतः यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि नशा शराब में नहीं, बल्कि बेहोश मनुष्य में है।**

४. वेश्यागमन करना - वेश्या के साथ रमण करना, कराना या अनुमोदना करना, वेश्या के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना वेश्यागमन नामक चौथा व्यसन है। जब विषयभोगों की अतिशय मलिन वृत्ति ही विकल्प के रुप में बाहर में व्यक्त होती है, तब इस व्यसन का सेवन होता है। व्यापारादि में बढोतरी के लक्ष्य से ग्राहकों को वेश्यासेवन कराने में वेश्यागमन नामक व्यसन का ही दोष लगता है।

निश्चय द्रष्टि से देखने पर जिसप्रकार वेश्या निरंतर बदलती रहती है, वह परिवर्तनशील है, ऐसे ही पर्याय भी निरंतर परिणमनशील है। कोई भी पर्याय निरंतर एकरुप टिककर नहीं रहती है। अतः निश्चय से पर्याय में सुखबुद्धि मानना ही वेश्यागमन है। **विषय और वेश्या में सुख मानने वाले जीवों को सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है।** नगरनारी का सेवन नहीं करने वाले सम्यग्द्रष्टी जीव का बाह्य व्यवहार भी नगरनारी जैसा हो जाता है। इसके सम्बन्ध में पण्डित श्री दोलतराम जी ने छहढाला की तीसरी ढाल में इसप्रकार लिखा है।

नगरनारी को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है।

जिस प्रकार नगरनारी का प्रेम मात्र बाह्य शरीर से ही होता है, उस प्रेम में सच्चापन नहीं होता, जिस प्रकार बैंक के कैशियर को करोडों रुपयें लेने, गिनने, रखने आदि कार्य होने पर भी उन रुपयों में अपनापन नहीं होता, विमान में परिचायिका (एअर होस्टेस) स्वागत आदि क्रियाएँ करने पर भी मुसाफिरों में अपनापन नहीं होता, ऐसे ही **सम्यग्द्रष्टी जीव को किसी भी परद्रव्यों अपनापन नहीं होता।**

५. शिकार करना - वन के प्राणियों और पक्षियों को निर्दय होकर मारना, कौतुहलवश मारना और मारकर खुश होने को शिकार करना नामक पांचवा व्यसन कहते हैं।

निश्चय द्रष्टि से देखने पर निज भगवान आत्मा के चैतन्य प्राणों का घात होना ही निजात्मा का शिकार खेलना हुआ। जब शिकारी खुद ही

शिकार होता जाता है, तब शिकार करना भी छूट जाता है। आशय यह है कि **मोही आत्मा में जो मोह का भाव है, वह भाव स्वयं ही शिकारी है।** जब मोह का ही शिकार हो जाता है, तब अन्य प्राणियों का शिकार भी छूट जाता है। जिस जीव को जीने की इच्छा होती है, वह दुसरे जीवों को मारता है। जिस जीव को मरने की इच्छा होती है, वह अपने को मारता है। **ज्ञानी को जीने और मरने की चाह नहीं होती, अतः ज्ञानी को ही वास्तविक स्वदया और परदया होती है।**

६. परस्त्रीरमण करना - समाज के नीति-नियमों के अनुकूल विवाह नहीं किया हो ऐसी पराई स्त्री के साथ रमण करना परस्त्रीरमण नामक छठ्ठा व्यसन है।

निश्चय द्रष्टि से देखने पर दर्पण के सामने खडे होकर ऐसा मानना कि मैं ही पुरुष हूँ या मैं ही स्त्री हूँ, तब पुरुष को पुरुष के शरीर में मोह और स्त्री को स्त्री में मोह होने से परस्त्री सेवन या पर पुरुष सेवन का दोष लगता है। सम्यग्द्रष्टि को स्त्री के प्रति भोग का भाव हो सकता है, परन्तु परस्त्री के प्रति कदापि भोग का भाव नहीं होता। सूक्ष्मद्रष्टि से किसी दूसरें जीवों की बुद्धि का परिक्षण करने में और उसकी बुद्धि को खुला करने में परस्त्रीसेवन का दोष लगता है।

७. चोरी करना - मोहावेश में बिना दी गई किसी पराई वस्तु को अपनी बनाने के अभिप्रायपूर्वक ग्रहण करना चोरी नामक सातवां व्यसन है।

अनीतिरुप चोरी को यहाँ व्यसन की श्रेणी में रखा है। यह चोरी भी परिणामों को स्थिर होने में बाधक होती है, अतः इसे व्यसन कहा है। पांच पाप में भी चोरी नामक पाप होता है, परन्तु उस चोरी को व्यसन नहीं कहा है। अनीतिरुप चोरी का विशेष स्वरुप अन्याय, अनीति और अभक्ष्य के प्रकरण में स्पष्ट किया है।

इसप्रकार सातों प्रकार के व्यसनों को अहितकारी जानकर, मानकर उन व्यसनों से निवृत्त होना चाहिए। तब ही अपूर्व महिमावान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

९. श्रावक के अष्ट मूलगुण

प्रत्येक श्रावक अष्ट मूलगुण का नियम से पालन करता है। मद्य, मांस, मधु एवं पांच उदम्बर फलों का त्याग करना, श्रावक का व्यवहार मूलगुण है। **निश्चय से त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभावी निज शुद्धात्मा को अपनी पर्याय में ग्रहण करना ही श्रावक का मूलगुण है अर्थात् आत्मा की प्रत्येक पर्याय आत्मद्रव्य का आश्रय लेती है, तब ही आत्मा में अनादिकालीन मिथ्यात्व का त्याग होता है।**

शराब आदि मादक पदार्थों के सेवन का त्याग करना मद्यत्याग है। शराब के उत्पादन में अनेकानेक जीवों का घात होता है, साथ ही इसका सेवन करने मनुष्य को नशा चढता है। इन्द्रिय विषयों के सेवन में जितनी आत्मतत्त्व की बेहोशी होती है, उतना सुख अधिक प्रतीत होता है। अतः पश्चिम के देशों मे विषयों के भोग भोगने से पहले वे शराब पीते हैं, जिससे वे बेहोश होकर इन्द्रियों के भोगों का सेवन कर सके। शराब पीने के बाद माता और पत्नी के भेद का विवेक भी समाप्त हो जाता हो, तब आत्मा और शरीर के भिन्नपने का विवेक शराब का सेवन करने वाले व्यक्ति को कैसे हो सकता है? **अतः सच्चा श्रावक मद्यत्यागी होता है।**

मांस भक्षण में त्रस जीवों की हिंसा का दोष लगता है। यह जानते हुए कि प्रत्यक्ष सामने त्रस जीवों के घात से मांस की उत्पत्ति हुई है, फिर भी परिणामों की कठोरता के बिना मांस भक्षण करने का भाव आना सम्भव नहीं है। **अण्डा भी त्रस जीवों का शरीर ही है, अतः मांस भक्षण के त्यागी को अण्डे के सेवन का भी त्याग होता है।** कुछ लोग कहते हैं कि अण्डा शाकाहार है। वे कहते हैं कि कुछ अण्डे तो मांसाहार है और कुछ अण्डे शाकाहार है। **अरे भाई! अण्डे यदि शाकाहार है, तो अण्डा किस पेड या पौधे पर उगता है?** वास्तव में अण्डा भी नियम से मांस ही है, अतः सच्चा श्रावक उसका भी भक्षण नहीं करता।

मधु अर्थात् शहद। शदह के त्याग को मधुत्याग कहते हैं। शहद में मधुमक्खीओं के मल-मूत्र मिले हुए होते हैं। अतः सच्चे श्रावक को मधुत्याग करना आवश्यक है। जिनागम में दवाई के लिये भी शहद आदि अभक्ष्य पदार्थो के भक्षण का निषेध किया है।

बड का फल, पीपल का फल, ऊमर, कठूमर (गूलर) और पाकरफल इन पांच जाति के फलों को उदुम्बर फल कहते हैं। इन फलों के मध्य में अनेक सूक्ष्म और स्थूल त्रस जीव होते हैं, अतः सच्चा श्रावक ऐसे फलों का त्यागी होता है।

जैन कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति श्रावक नहीं कहा जाता। श्रावक को इन अष्ट मूलगुण का पालन करके चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होकर सम्यग्दर्शन प्रकट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद ही जीव निश्चय से श्रावक हो सकता है।

१०. अन्याय-अनीति-अभक्ष्य त्यागरूप सदाचार

१) अन्याय : राजकीय नियमों का उल्लंघन करना अन्याय है। कालाधन अपने पास रखकर, उन्हें बचाकर भविष्य में सुख मिलेगा ऐसी मान्यता वाले जीवों को आत्मा की अनुभूति नहीं होती है। तीर्थयात्रा के लिये ब्लैक में टिकट लेकर परमात्मा के दर्शन करने जाते हैं, तो परमात्मा कैसे दर्शन देंगे? **जिनके जीवन में न्याय नहीं है, उनके लिये सम्यग्दर्शन बहुत दूर है।** अनेक शास्त्रों को जानने पर भी रिश्वत दिये बिना कोई कार्य नहीं होता, ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व है। वास्तव में पुण्य के उदय अनुकूल कार्यसिद्धि होती है। अन्याय से जीवन जीने वाले अज्ञानी को वर्तमान मानव जीवन जीने के लिये रिश्वत की लेन-देन अनिवार्य लगती है। हम देखते हैं कि कदम-कदम पर अन्याय होता है, जो व्यक्ति प्राथमिक भूमिका में न्यायपूर्ण जीवन नहीं जीता, वह सम्यग्दर्शन के लिये अपात्र जीव है।

अदालत में न्यायाधीश न्याय करते हैं, वे किसी भी तरह का पक्षपात नहीं करते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा को अंतरंग परिणामों से न्यायाधीश बनना चाहिए अर्थात् राग और द्वेष के पक्षपात छोडकर समभाव में स्थित होना चाहिए।

२) अनीति : सामाजिक नियमों का उल्लंघन करना अनीति है। अगर आप कभी वृद्धाश्रम में जाये तो वहां पर मौजुद वृद्धो से पूछना कि आपके बेटे क्या करते हैं? तो आपको जवाब मिलेगा कि मेरा बेटा बडा ओफिसर है, डॉक्टर है, वकील है, इन्सपेक्टर है, इन्जीनियर है, शिक्षक है, व्यापारी है। परन्तु एक भी वृद्ध दम्पति ऐसा नहीं मिलेगा जो आपको कहे कि मेरा बेटा अनपढ या गरीब है। क्योंकि अनपढ गरीब बेटे के माँ-बाप कभी वृद्धाश्रम तक पहुंचते ही नहीं है।

यह सच है कि पहले के जमाने में पढाई अधिक नहीं होती थी, परन्तु आज के आधुनिक युग में पढाई इतनी बढ गई कि युवानों का गणित का ज्ञान सूक्ष्म हो गया। आज वे हिसाब लगा लेते हैं कि माँ का खर्च इतना होता है और पिता का खर्च इतना होता है। यह सोचकर वे माता-पिता को वृद्धाश्रम छोडकर आते हैं। खास याद रहे, जब तक गृहस्थ की भूमिका है, तब तक ज्ञानी भी परिवारजनों के साथ उचित आचरण करते हैं। **परिणामों में कोमलता न हो तो धर्म समझ में भी नहीं आ सकता है।** किसी व्यक्ति के अधिक काम कराकर मेहनत से कम वेतन देना भी अनीति है। किसी व्यक्ति से कर्ज लेकर मकान, फैक्टरी, गाडी, आदि साधन खरीदकर, कर्ज वापिस नहीं चुकाने की दानत अनीति है।

आज के जमाने में लोग समाज में धन के कारण स्वयं को बडा और दूसरों को छोटा दिखाकर आनन्दित होते हैं। वे सभी जीवों को धन आदि संयोगो से भिन्न एक समान आत्मा के रुप में नही देखते हैं, यही अनीति है। **भगवान ने कहा था कि प्रत्येक आत्मा में एक समान का भाव होना चाहिए, हमने इस समान शब्द में से स को हटा ही दिया और आत्मा में मान के भाव को ही रहने दिया।**

समाज शब्द सुनते ही अंतरंग समाज का स्मरण आना चाहिए। **जन्म-मरण रहित भगवान आत्मा अनन्त गुणों और असंख्यात प्रदेशों का एक समाज है, वह त्रिकाल अखण्ड और अभेद है, जानना-देखना आदि आत्मा के समाज की मुख्य व्यवस्था है। आत्मा जानने-देखनेरुप व्यवस्था का उल्लंघन करके सामाजिक अपराध करता है। आश्रव और बंध असामाजिक तत्त्व है, वे निज समाज से त्रिकाल परे हैं।**

३) अभक्ष्य : व्यवहार से जिन पदार्थों के भक्षण से असंख्य त्रस जीवों का एवं अनन्त स्थावर जीवों का घात होता हो तथा जो पदार्थ सदाचारी व्यक्ति को सेवन करने योग्य न हो या जिसका सेवन करने नशा उत्पन्न होता हो अथवा स्वास्थ्य की द्रष्टि से अहित करने वाला हो, वे समस्त पदार्थ अभक्ष्य हैं अर्थात् हेय हैं।

निश्चय से पुण्य और पाप इन दोनों ही प्रकार के भाव आत्मा को भाने योग्य नहीं है, अतः दोनों भावों को आत्मा के लिये अभक्ष्य ही जानना चाहिए, **एक मात्र चैतन्य स्वभाव के आश्रय से प्रकट होने वाला शुद्धभाव ही भक्ष्य है अर्थात् उपादेय है।**

अभक्ष्य के मुख्यरुप से पाँच प्रकार है।

१. त्रसघात : जिन पदार्थों का भक्षण करने से त्रस जीवों का घात होता हो, उन्हें त्रसघात कहते हैं। इन पदार्थों के भक्षण करने में मांस भक्षण का दोष उत्पन्न होता है। अतः इन पदार्थों को अभक्ष्य जानकर उनका त्याग करना चाहिए।

आज के इस युग में अभक्ष्य और अभक्ष्य की परिभाषा करना अत्यंत दुष्कर हो गया है। कुछ लोग कहते हैं कि हम तो ताजा दहीं खाते हैं, परन्तु सूक्ष्मद्रष्टि से विचार करने पर यह बात समझ में आ सकती है कि ताजा कहा जाने वाला दहीं भी ताजा नहीं होता है। दूह में छाछ डालने पर जो दूध दहीं बनता है, वह ताजा कैसे हुआ? क्योंकि छाछ तो कितने ही दिनों से रखी हुई थी। जैसे छने हुए जल में अनछने जल की एक बूंद भी गिर जाय, तो सारा जल अनछना हो जाता है, ऐसे ही दूध भले ताजा हो परन्तु उसी दूध में

बासी छाछ की एक बूंद भी गिर जाय, तो वह दहीं भी बासी ही कहलाता है।

जब फलियां (कठोल) या उनकी दाल या उनका आटे को दहीं या छाछ के साथ मिलाकर खाते हैं, तब मुंह की लार के साथ मिलते ही उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे द्विदल सम्बन्धी दोष कहते हैं। जैसा कि दहींवडा, कढी, आदि। उसमें भी मांस भक्षण का दोष लगता है। **कुछ लोगों ने शिथिलाचार के कारण दहीं और छाछ को गरम करके फलियां के साथ उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु याद रहे, उसमें भी द्विदल का दोष तो लगता ही है।**

वर्तमान में प्राप्त मनुष्य शरीर को साक्षात् मांस जानकर उस में से सुखबुद्धि छोडकर एक मात्र चैतन्य स्वभाव का घात नहीं होने के बाद किसी भी त्रस जीवों के चमडे को देखकर आत्मा की पहिचान नहीं करना ही वास्तविक निर्दोषता है।

२. बहुघात : जिन पदार्थो का भक्षण करने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता हो, उन्हें बहुघात कहते हैं। जैसे- कंदमूल। आलू, प्याज, लहसून, गाजर, मूली आदि पदार्थों में अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है। वे जीव एक श्वासोच्छवास जितने समय में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। वे निगोदिया जीव कहलाते हैं। अतः इन पदार्थों को अभक्ष्य जानकर उनका त्याग करना चाहिए।

अनन्त गुणों का घनपिण्ड भगवान आत्मा ही ध्यान का ध्येय बना रहे, निर्विकल्प ध्यान के फल में आत्मा परम सिद्धपद को प्राप्त करे, तब अनन्त निगोदिया जीवों में से एक जीव नित्य निगोद में से बाहर निकलेगा, तब उस निगोदिया पर सहज ही उपकार होगा। ऐसा उपकार तो संसार का त्याग होने पर ही होता है।

३. अनुपसेव्य : जिन पदार्थों का सेवन सदाचारी व्यक्ति अयोग्य समझता है, उन लोकनिंद्य पदार्थों को अनुपसेव्य अभक्ष्य कहते हैं। जैसे- लार, मल-मूत्र आदि पदार्थ।

स्वास्थ्य की द्रष्टि से इन पदार्थों का सेवन करना वाला व्यक्ति की

तीव्र कषाय हों, तब ही इन पदार्थों का सेवन कर सकता है। उन पदार्थों का सेवन करने वालें जीवों को धर्म में रुचि कैसे हो सकती है? अतः इन पदार्थों को अभक्ष्य जानकर उनका त्याग करना चाहिए। **भूतकाल में किये हुए विषयभोगों के भावों का बार-बार चिन्तन करके उन मलिन भावों में पुनः इष्ट-अनिष्ट की कल्पनाओं से दुःखी होना ही आत्मा की मलिनता है। स्वयं को त्रिकालवर्ती रागादि भावों से भिन्न शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान आत्मा ही मानना आत्मशुद्धि का उपाय है।**

४. नशाकारक : जिस पदार्थों का सेवन करने से नशा उत्पन्न होता हो, उन पदार्थों को नशाकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे- शराब, अफीण, भांग, गाँजा, तम्बाकु, सीगरेट, बीडी आदि।

इन पदार्थों का सेवन करने से जीव में विवेक समाप्त हो जाता है। परवस्तुओं की गुलामी के कारण व्यक्ति पराधीन हो जाता है। उसके जीवन की खुशी वे नशाकारक पदार्थ छीन लेते हैं। उन पदार्थों में अनेक जीवों की हिंसा भी होती है। अतः इन पदार्थों को अभक्ष्य जानकर उनका त्याग करना चाहिए। मोह का नशा सर्वाधिक खतरनाक है। **शराब के नशे में व्यक्ति पराये लोगों और पराये पौदगलिक घर को भूल जाता है। परन्तु मोहरुपी मदिरापान करने वाला निज शुद्धात्मा के स्वरुप को और चैतन्य महल को भूल जाता है।**

५. हानिकारक : स्वास्थ्य के लिये नुकसान पहुंचाने वालें पदार्थों को हानिकारक कहते हैं। जैसे - ब्लडप्रेशर की बिमारी होने पर भी अति मात्रा में नमक खाना, अल्सर की बिमारी होने पर भी मिर्ची खाना, डायबिटीश की बिमारी होने पर भी मीठाई खाना। यद्यपि नमक, मिर्ची और मीठाई अभक्ष्य नहीं है, फिर भी जब व्यक्ति का स्वास्थ्य खराब होने की सम्भावना जानते हुए इन पदार्थों का सेवन करता है, तब उस व्यक्ति को उन पदार्थों को खाने का तीव्र राग होने के कारण उन पदार्थों को अभक्ष्य कहा है। अतः हानिकारक पदार्थों को अभक्ष्य जानकर उनका त्याग करना चाहिए।

संकल्प और विकल्प आत्मा के लिये हानिकारक है। परपदार्थों में

अहंकार-ममकार का भाव संकल्प है और ज्ञेयों के भेद के कारण स्वयं को भेदरुप जानना विकल्प है। निश्चय से संकल्प और विकल्प दोनों ही चैतन्य स्वभाव से बाहर ही रहते हैं, चैतन्य स्वभाव को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता और चैतन्य स्वभाव किसी अन्य को हानि पहुँचा भी नहीं सकता। चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में हानि और वृद्धि नहीं होती, मैं भगवान आत्मा निरंतर नित्य, अभेद, अखण्ड, एक ही हूँ।

इसप्रकार अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का त्याग मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही नहीं, बल्कि मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये भी अनिवार्य है। जिस श्रावक के जीवन में सात व्यसन का त्याग, आठ मूलगुण का पालन और अन्याय-अनीति-अभक्ष्य त्यागरुप सदाचार होता है, उसी जीव को आत्मा का स्वरुप समझ में आता है।

११. आत्मा का स्वरूप

आत्मा अरुपी होने इन्द्रियगम्य नहीं हैं। फिर भी आत्मा कथंचित्

वचनअगोचर होने के साथ-साथ कथंचित् वचनगोचर भी है। आत्मा और शरीर दोनों एकक्षेत्रावगाही है। दूध और पानी की तरह दोनों आकाश के एक ही प्रदेश पर रहते हैं, फिर भी वे दोनों भिन्न-भिन्न है। आत्मा और शरीर के बीच भेदज्ञान के अभाव में अज्ञानी को शरीर का परिणमन ही अपना परिणमन लगता है।

आत्मा काल्पनिक नहीं है, बल्कि सत्ता स्वरुप वस्तु है। जिस प्रकार शरीर सत्ता स्वरुप पुदगल द्रव्य है, उसी प्रकार आत्मा भी सत्ता स्वरुप जीव द्रव्य है। आत्मा में अनन्त गुण होते हैं। आत्मा अरुपी है, अतः आत्मा के अनन्त गुण भी अरुपी ही है। अनन्त गुणों में ज्ञान गुण मुख्य है, क्योंकि ज्ञान के माध्यम से हम आत्मा के अनन्त गुणों को और सारे जगत को जान सकते हैं।

शरीर में ज्ञान नहीं है, गरम पानी में हाथ रखने पर जो गरमपने का अनुभव होता है, वह शरीर को नहीं होता, बल्कि आत्मा को होता है। क्योंकि आत्मा जब शरीर छोड देता है, तब शरीर को जला देने पर भी शरीर को दुःख का अनुभव नहीं होता। **जो जानता है, देखता है, सुख एवं दुःख का अनुभव करता है, वह जीव है। जिस जीव में अपनापन स्थापित कर सके, वही आत्मा है। अतः जीव की अनुभूति नहीं, बल्कि आत्मा की अनुभूति की प्राप्ति का उपदेश दिया गया है।** आत्मा का स्वरुप इन्द्रियों से जानने में नहीं आता। क्योंकि इन्द्रियों के निमित्त से मात्र पुदगल द्रव्य का ही ज्ञान होता है। आत्मा तो ज्ञान स्वभाव के माध्यम से जानने में आ सकता है।

जैसे - घी और मिट्टी दोनों एक साथ मिले हुए हो, तब भी वह घी और मिट्टी दोनों ही स्वभाव से भिन्न-भिन्न हैं। मिट्टी के साथ मिलकर भी

घी का चिकनापना छूट नहीं जाता। जब घी अग्नि के संयोग के निमित्त से उष्ण होता है, तब भी घी का चिकनापना छूट नहीं जाता। अग्नि का निमित्त दूर होने पर शीतल हो जाता है। फिर भी यहाँ घी को आत्मा, चिकनेपने को चैतन्यस्वभाव, मिट्टी को शरीर, अग्नि को ज्ञानावरणादि आठ कर्म, उष्णता को आत्मा में उत्पन्न होने वाली राग की पर्याय, शीतलता को आत्मा में प्रकट होने वाली वीतरागता की पर्याय की उपमा दी गई है।

विभाव के काल में भी स्वभाव हाजिर है। अज्ञानी को विभाव की रुचि होने से उसे विभाव अनुभव में आता है, जबकि ज्ञानी को स्वभाव की रुचि होने से ज्ञानी को स्वभाव अनुभव में आता है।

जब किसी व्यक्ति पर क्रोध का भाव आता है, तब उसे मारने के लिये पत्थर उठाते हैं, उसी वक्त कोई दूसरा व्यक्ति बीच में आ जाये, तो उसे कहते हैं कि तुम बीच में से हट जाओ, वरन तुम्हें लग जायेगा। तात्पर्य यह है कि क्रोध के काल में निर्णय करने वाला ज्ञान हाजिर है कि इसे नही, बल्कि उसे पत्थर मारना है। इससे सिद्ध होता है कि **विभाव के काल में भी स्वभाव हाजिर है।**

जब किसी व्यक्ति को मान का भाव आता है, तब वह किसी अन्य व्यक्ति के सामने अपने को महान दिखाने का प्रयास करता है। यदि स्वयं करोडपति है, तो अरबपति के सामने नहीं जायेगा परन्तु लखपति के सामने जायेगा। तात्पर्य यह है कि मान के काल में निर्णय करने वाला ज्ञान हाजिर है कि इसके सामने अहंकार नहीं करना, बल्कि उसके सामने अहंकार करना है। इससे सिद्ध होता है कि **विभाव के काल में भी स्वभाव हाजिर है।**

जब किसी व्यक्ति को माया का भाव आता है, तब वह किसी अन्य व्यक्ति के सामने छल करके अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। वहाँ भी उस व्यक्ति के पास जाकर छल नहीं करता, जहाँ पकडे जाने का भय हो। वह भोले जीवों के सामने ही माया करना चाहता है। तात्पर्य यह है कि माया के काल में निर्णय करने वाला ज्ञान हाजिर है कि इसके सामने छल नहीं करना है, बल्कि उसके सामने मायाचार करना है। इससे सिद्ध होता

है कि **विभाव के काल में भी स्वभाव हाजिर है।**

जब किसी व्यक्ति को लोभ का भाव आता है, तब वह किसी अन्य परपदार्थो को प्राप्त करना चाहता है। वहाँ भी उसे धन-संपत्ति, ख्याति-प्रसिद्धि आदि प्राप्त करने लोभ का भाव उठता है। तात्पर्य यह है कि लोभ के काल में निर्णय करने वाला ज्ञान हाजिर है कि मुझे धन का लोभ करना है परन्तु धूल का लोभ नहीं करना है। इससे सिद्ध होता है कि **विभाव के काल में भी स्वभाव हाजिर है।**

कषायरुप विभावों के समान नोकषायरुप विभावों के काल में भी ज्ञान स्वभाव निरंतर जागृत है, ऐसा समझना चाहिए। सार यह है कि किसी भी प्रकार के विभाव की उत्पत्ति के काल में निराश होने की आवश्यकता नहीं है। **साधक जीव विभावों की ओर द्रष्टि नहीं करता। वह तो चैतन्य स्वभाव का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उसके फल स्वरुप विभाव सहज ही विलय को प्राप्त होते हैं।**

व्यवहारनय से आत्मा शरीर में रहता है तथा आत्मा में राग-द्वेष रहते हैं। जिस शरीर में आत्मा रहता है, उस शरीर से आत्मा भिन्न है तथा आत्मा में राग-द्वेष रहते हैं, उन राग-द्वेष के भावों से भी चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा भिन्न है। आत्मा जिस शरीर में रहता है, वह शरीर परद्रव्य है, संयोग है तथा आत्मा में जो राग-द्वेष रहते हैं, वे परभाव हैं, संयोगीभाव हैं। **निश्चयनय से आत्मा, आत्मा में ही रहता है। आत्मा, आत्मा ही है।**

जिसके लक्ष्य से कार्य होता है, उस कार्य को उसका कहा जाता है। जैसे दरजी का कार्य कपडे सीलने का होने पर भी कपडे सीलने को ग्राहक का कार्य कहते हैं, क्योंकि ग्राहक के लक्ष्य से ही दरजी के द्वारा कपडे सीये जाते हैं, उसीप्रकार पुदगल के लक्ष्य से आत्मा में राग उत्पन्न होता है, इसलिये राग को पुदगल का परिणाम कहा है।

निश्चय द्रष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने पिता एवं पुत्र दोनों से भिन्न है, ऐसे ही आत्मा भी शरीर तथा राग-द्वेष से भिन्न है। वहाँ पिता को छोडना जितना सरल है, पुत्र

को छोडना उतना सरल नहीं है, ऐसे ही शरीर का एकत्व छोडना जितना सरल है, राग-द्वेष का एकत्व छोडना इतना सरल नहीं है। **आत्मा संयोगों से सर्वथा और संयोगीभावों से कथंचित् भिन्न है। आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिये आत्मा का सर्वांग स्वरुप समझना चाहिए।**

१२. पंच भाव का स्वरूप

आचार्य श्री उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र के दुसरे अध्याय के पहिले सूत्र में पंचभाव का वर्णन करते हुए इसप्रकार लिखा है।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।।२-१।।

अर्थ : औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, पारिणामिक ये भाव जीव के निजभाव हैं।

पंच भाव का स्वरुप इसप्रकार है। उक्त पाँच भावों में मूल शब्द उपशम, क्षय, क्षयोपशम, उदय और परिणाम है, इन पाँच शब्दों में प्रत्येक के साथ इक प्रत्यय लगने पर क्रमशः औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, मिश्रभाव (क्षायोपशमिकभाव), औदयिकभाव, पारिणामिकभाव ऐसे शब्द बनते हैं। उन पाँच भावों में प्रथम चार भाव कर्मोपाधिजन्य भाव हैं अर्थात् उन भावों में कर्मो की किसी न किसी प्रकार की अपेक्षा होती है। पंचम पारिणामिक भाव कर्मोपाधि निरपेक्ष भाव है।

१. औपशमिकभाव : कर्म का उपशम होना, कर्म की अवस्था है और कर्म के उपशम के निमित्त से आत्मा में जो अवस्था होती है, उसे औपशमिकभाव कहते हैं। **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से और आत्मिक पुरुषार्थ के बल से दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम के निमित्त से क्रमशः श्रद्धा और चारित्र गुण की पर्यायों में मिथ्यात्व**

और कषाय के दब जाने पर निर्मलता प्रकट होती है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक भाव के दो भेद हैं।

अनादिकालीन मिथ्याद्रष्टि का आत्मिक पर्यायों का विकास औपशमिक भाव से ही प्रारम्भ होता है। औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्रवंत जीवों में ही यह भाव पाया जाता है। यह भाव अंतर्मुहूर्त के लिये ही रहता होने से सादि-सांत है।

२. क्षायिकभाव : कर्म का क्षय होना, कर्म की अवस्था है और कर्म के क्षय के निमित्त से आत्मा में जो अवस्था होती है, उसे क्षायिकभाव कहते हैं। **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से और अपूर्व आत्मिक पुरुषार्थ के बल से कर्म के क्षय के निमित्त से आत्मा में कर्म रहित निर्मलता प्रकट होती है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं।** क्षायिक भाव के नव भेद हैं।

आंशिक शुद्ध पर्याय में संतुष्ट न होकर पूर्णता की प्राप्ति का ज्ञान कराने वाला क्षायिक भाव द्रव्यस्वभाव की परिपूर्ण शुद्धता को पर्याय में भी परिपूर्ण व्यक्त होने का सूचक है। क्षायिक सम्यग्द्रष्टी, क्षायिक चारित्रवंत, अरिहंत और सिद्ध भगवान में यह भाव पाया जाता है। यह भाव प्रकट होने के बाद कदापि नाश नहीं होता, अतः संसार में रहने की अपेक्षा से ३३ सागर से कुछ अधिक काल है।

३. मिश्रभाव (क्षायोपशमिकभाव) : कर्म का क्षयोपशम होना, कर्म की अवस्था है और कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से आत्मा में जो अवस्था होती है, उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से और आत्मिक पुरुषार्थ के बल से दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से आत्मा के श्रद्धा और चारित्र गुण की पर्यायों में जो निर्मलता प्रकट होती है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।** क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं।

केवलज्ञान प्रकट होने से पूर्व समस्त छद्मस्थ जीवों को ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का क्षयोपशम होता ही है। इस कथन का आशय यह है कि अनादिकाल से आत्मा के ज्ञान का अंश निरंतर प्रकट ही रहता है।

विकारीभावरुप परिणमित आत्मा में भी चैतन्य स्वभाव पर्याय में भी व्यक्त हो रहा है। एक से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत यह भाव पाया जाता है। ज्ञान, दर्शन और वीर्य की अपेक्षा से यह भाव अनादि-सांत है। श्रद्धा और चारित्र की अपेक्षा से यह भाव उत्कृष्ट ६६ सागर से कुछ अधिक काल तक रहता है।

मिथ्याद्रष्टी को नियम से मोहनीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता है। मिथ्याद्रष्टी जीव को ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम में विशेष रुचि है, वह मोहनीय कर्म के क्षयोपशम का पुरुषार्थ नहीं करता है।

४. औदयिकभाव : कर्म का उदय होना, कर्म की अवस्था है और कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा में जो अवस्था होती है, उसे औदयिकभाव कहते हैं। औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं। एक से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवों में यह भाव पाया जाता है।

आत्मा द्रव्य द्रष्टि से शुद्ध होने पर भी पर्याय में अशुद्ध है। कर्मोदय के निमित्त से वर्तमान दशा में अशुद्धता है। वह अशुद्धता जीव का स्वभाव नहीं होने से चैतन्य स्वभावी आत्मलीनतारुप पुरुषार्थ के बल पर आत्मा में से दूर हो सकती है।

भव्य जीवों की अपेक्षा से यह भाव अनादि-सांत है। अभव्य जीवों की अपेक्षा से यह भाव अनादि-अनन्त है। दूरान्दूर भव्य जीवों की अपेक्षा से यह भाव अनादि-अनन्त है।

५. पारिणामिकभाव : जीव में त्रिकाल टिक कर रहने वाले परिणामयुक्त भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। पारिणामिक भाव की द्रष्टि से जीव अनादि-अनन्त एक शुद्ध चैतन्यमात्र है। यह भाव सभी जीवों में त्रिकाल पाया जाता है।

पारिणामिकभाव के भेदों का वर्णन करते हुए क्षणिका का बोध और नित्य का अनुभव नामक कृति में इसप्रकार स्पष्ट किया है।

जीव के विशेष भाव को जीव का असाधारण भाव कहते हैं। उसके ५ भेद तथा ५३ प्रभेद है। उसके ५ भेद में से पारिणामिकभाव अंतिम क्रम पर है। पारिणामिकभाव कर्मोपाधि निरपेक्ष भाव होने से जीव में नित्य टिककर रहता

है। प्रथम चार औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भाव क्रमशः कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये वे पर्यायें हैं, पर सापेक्ष हैं। परिणामिकभाव में कर्म या अन्य परद्रव्य की कोई अपेक्षा नही होती है, अतः वह आत्मद्रव्य का स्वभाव है, पर निरपेक्ष है।

पारिणामिकभाव सर्व जीवो में त्रिकाल टिककर रहता होने पर भी उसके तीन भेद है। १. जीवत्व, २. भव्यत्व, ३. अभव्यत्व। जो जीव भव्य है, वह कभी अभव्य नहीं हो सकता तथा जो जीव अभव्य है वह कभी भव्य नहीं हो सकता। भव्य जीव अनादि-अनंत भव्य होता है तथा अभव्य जीव अनादि-अनंत अभव्य होता है, इसलिये भव्यत्व तथा अभव्यत्व को जीव का परिणामिकभाव कहते हैं।

भव्यत्व नाम का परिणामिकभाव भव्य जीवो में ही होता है, अभव्य जीवो में नही तथा अभव्य नाम का पारिणामिकभाव अभव्य जीवो में ही होता है, भव्य जीवों में नहीं। परन्तु जीवत्व नाम का पारिणामिकभाव भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीवो में होता है, अतः जीवत्व नामक परिणामिकभाव को जीव का परम पारिणामिकभाव कहते हैं। मैं आहार-पानी से जीवित नहीं हूँ और न ही आयुकर्म के उदय से जीवित हूँ। आहार-पानी बहिरंग निमित्त हैं तथा आयुकर्म का उदय अंतरंग निमित्त है। मेरा जीवन उपादान शक्ति के कारण है। जीवत्व शक्ति से मेरा जीवन है।

जब रात को जलने वाले दीपक को सुबह उठकर भी जलता हुआ ही देखते हैं, तब हम कह सकते हैं कि वह दीपक रात के समय भी एक क्षण के लिये बुझा नहीं था। जैसे घडी में कांटे रात को सोने से पहले घूम रहे थे और सुबह उठकर देखा तब भी कांटे को घूमता हुआ पाया। इससे हम समझ सकते हैं कि रातभर घडी के कांटे घूम ही रहे थे, एक पल के लिये भी रुके नहीं थे। ऐसे ही रात को सोने से पहले ज्ञान जानने का कार्य कर रहा था और सुबह उठने के बाद भी जानने का कार्य कर रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि **नींद के काल में भी ज्ञान का जाननेरुप कार्य निरंतर अविरत धाराप्रवाह से चल ही रहा था।**

इन पाँचों भावों वाले जीवों की संख्या क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक होने से पाँच भाव का क्रम भी इसप्रकार रखा है। औपशमिकभाव वाले जीवों से क्षायिकभाव वाले जीवों की संख्या अधिक है। क्षायिकभाव वाले जीवों से क्षायोपशमिकभाव वाले जीवों की संख्या अधिक है। क्षायोपशमिकभाव वाले जीवों से औदयिकभाव वाले जीवों की संख्या अधिक है। पारिणामिकभाव तो इस लोक में समस्त जीवों में होता ही है, अतः सबसे अधिक संख्या पारिणामिकभाव वाले जीवों की ही है।

पारिणामिकभाव के बिना कोई जीव नहीं है, औदयिकभाव के बिना कोई संसारी जीव नहीं है, क्षायोपशमिकभाव के बिना कोई छद्मस्थ जीव नहीं है, क्षायिकभाव के बिना क्षायिक सम्यग्द्रष्टी, क्षायिक चारित्रवंत, अरहंत और सिद्ध नहीं है। औपशमिकभाव के बिना धर्म की शुरुआत करने वाले कोई जीव नहीं है।

इन पांच भावों के क्रमशः दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन इसप्रकार ५३ प्रकार के भावों का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र दूसरें अध्याय के २ से ७ सूत्र तक किया है, साथ ही सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक में इस विषय को स्पष्ट किया है, वहीं विशेष अध्ययन करना चाहिए।

१३. आत्मा की शक्तियाँ

समयसार के अंत में परिशिष्ट में आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। यद्यपि भगवान आत्मा अनन्त शक्तिशाली है। फिर भी आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिये आत्मार्थी जीवों को उन ४७ शक्तियों का स्वरुप समझना आवश्यक है।

जगत में किसी का भला-बुरा करने की शक्ति को ही शक्ति माना जाता है, भगवान जगत में किसी भी परद्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करने वाला चैतन्य स्वभावी अनन्त शक्तिशाली है। परपदार्थो में परिवर्तन करना आत्मा का सामर्थ्य नहीं है, अतः आत्मा की शक्ति को परपदार्थों में परिवर्तन करने के रुप में नहीं घटित करनी चाहिए। **अनन्तज्ञान आत्मा का सामर्थ्य है और अनन्त सुख आत्मा का वैभव है।**

इस लोक में जो बेटा संस्कारी होता है, उसे सपूत कहते हैं और जो बेटा कुसंस्कारी होता है, तो उसे कपूत कहते हैं। ऐसे जो रोड बुरा होता है, उसे **क+रोड = करोड** कहते हैं। उस बूरे रोड का जो स्वामी होता है, उसे करोडपति कहते है। भाई! हमें बूरे रास्ते का स्वामी नहीं होना है। हमें तो मोक्ष के मार्ग पर चलना है, **क+रोड** पर नहीं।

अनन्त गुणाधिपति आत्मा स्वयं को करोडपति मानकर खुश होता है, यह आत्मा का सन्मान नहीं, बल्कि अपमान है, अनादर है। आत्मा के एक लाख गुणों के नाम गुणाधिपति आत्मा नामक कृति में लिखे हैं।

जैसे कोई व्यक्ति अपने पास करोडों रुपये होने पर भी अपनी जेब में दस रुपये लेकर घर से बाहर निकला हो और अपने को दस रुपये का ही मालिक मान रहा हो, तो वह उसकी अज्ञानता ही है। ऐसे ही **केवलज्ञान शक्तिसंपन्न भगवान आत्मा को वर्तमान में प्रकट तरंगरुप क्षयोपशमज्ञान वाला ही मान लेना अज्ञानी जीव की अज्ञानता ही है।**

यदि कोई विमान एक हजार किलोमीटर प्रति घण्टा की गति से आकाश से गुजरता है, तो अज्ञानी को उस विमान की गति के कारण विमान की महिमा आती है, परन्तु कर्मोदय के निमित्त बिना एक समय में सात राजु पार करने वाले निज आत्मा की महिमा नहीं है। अज्ञानी को पुदगल की, पर की ही महिमा आती है, निज शुद्धात्मा की अनन्त शक्तियों की महिमा नहीं आती है। खास बात तो यह है कि **पुदगल की शक्ति का ज्ञान इन्द्रियों के निमित्त से अनुभव में आता है, परन्तु स्वयं की शक्ति का अनुभव ज्ञानस्वभाव साधन द्वारा ही होता है।**

१४. भेदज्ञान का स्वरुप एवं महिमा

जैनधर्म भेद का विज्ञान है। धर्म पराधीन नहीं है क्योंकि धर्म धारण करने के लिये किसी भी परद्रव्य की आवश्यकता नहीं है। भेदविज्ञान से ही धर्म का आरंभ होता है। जिस प्रज्ञाछैनीरुपी साधन से भेदज्ञान होता है, वह प्रज्ञाछैनी निज आत्मद्रव्य में त्रिकाल विद्यमान होने से भेदज्ञान पराधीन नहीं है। ज्ञानरुपी छैनी से भेदज्ञान करके अभेद ज्ञायक की अनुभूति तक पहुँचना ही भेदज्ञान का यथार्थ फल है। दो परपदार्थों के बीच भेद जानने का नाम धर्म नहीं है, बल्कि स्व और पर के बीच भेद जानकर समस्त परद्रव्य और पर्याय से द्रष्टि हटाकर स्व में स्थिर होने का नाम धर्म है। जैसे अनाज और छिलके को भेदरुप जानकर अनाज पर ही द्रष्टि रखते हैं और छिलके को फेंक देते हैं, ऐसे ही आत्मा और अनात्मा को भेदरुप जानकर अनात्मा से द्रष्टि हटाकर आत्मा पर ही द्रष्टि केन्द्रित करनी चाहिए।

यद्यपि आत्मा शब्द का प्रयोग जैनधर्म के अलावा अन्य दर्शनों में किया गया है, परन्तु वहाँ आत्मा को परमात्मा का अंश कहा है। जैनधर्म में प्रत्येक आत्मा को परमात्मा का अंश न कहकर परिपूर्ण परमात्मा ही कहा है। **आत्मा और परमात्मा दोनों को भेदरुप एवं स्वतंत्र जानकर परमात्मा**

से भी द्रष्टि हटाकर निजात्मा में लीन होना ही आत्मा से परमात्मा होने का उपाय है। अन्यमत में परमात्मा को बूंदी का लड्डु और आत्मा को उस लड्डु की एक बूंदी की उपमा दी है। जैनधर्म में परमात्मा और आत्मा दोनों को बूंदी के लड्डु की उपमा दी है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि **परमात्मारुपी बूंदी का लड्डु किसी भी प्रकार आवरण रहित प्रकट है और आत्मारुपी बूंदी का लड्डु रागादिभावों के आवरण से ढंका हुआ है।**

जैसे चींटी को भी अपनी रुचि अनुसार भेदज्ञान करना आता है। धूल का ढेर और शक्कर का चुरा मिला हुआ हो, तो चींटी भी शक्कर एवं धूल का भेद जान लेती है। ऐसे ही **यदि जीव को त्रिकाली ध्रुव भगवान की रुचि हो तो निश्चितरुप से आत्मा और रागादि भावों के बीच भेदज्ञान हो सकता है।** अधर्म पराधीन होता है क्योंकि जीव को अधर्म करने के लिये किसी न किसी परद्रव्य के निमित्त की आवश्यकता होती है। रागादिभाव और ज्ञान दोनों ही आत्मा में उत्पन्न होते हैं फिर भी रागादिभावों को परभाव और ज्ञान को स्वभाव कहा है। **रागादिभावों की उत्पत्ति परद्रव्य के निमित्त के बिना नहीं होती, जबकि ज्ञान परज्ञेयों को न भी जाने, तो स्वज्ञेय को जानता है।**

उक्त कथन का आशय यह है कि राग परभाव है, ज्ञान स्वभाव है। राग आकुलतामय है, ज्ञान निराकुलस्वरुप है। राग अनित्य है, ज्ञान स्वभाव नित्य है। राग औदयिक भाव है, ज्ञान परम पारिणामिकभाव है। राग औदयिक भाव होने से तरंगरुप है, जबकि ज्ञान परम पारिणामिकभाव होने से ध्रुव है। राग सादि-सांत है, ज्ञान अनादि-अनन्त है। राग दुःखरुप है, ज्ञान सुखरुप है। राग अधर्म है, ज्ञान धर्म है।

१५. निर्विकल्प आत्मानुभूति का स्वरुप

जब तक कोई जीव कहे कि मुझे आत्मा का अनुभव हुआ है या नहीं हुआ, कुछ समझ में नहीं आ रहा। ज्ञानी कहते हैं कि अनुभव के सम्बन्ध में ऐसी शंका उत्पन्न होना ही अब तक आत्मा का अनुभव नहीं हुआ है, इस बात को सिद्ध करता है। क्योंकि सत्य तो यह है कि **जिसे आत्मा का अनुभव होता है, उसे यह द्रढ प्रतीति होती है कि उसे आत्मा का अनुभव हुआ ही है। अनादिकाल से अनुभव में आने वाले मिथ्यात्व एवं रागादि विकल्प के कर्तृत्वभाव के फल में अनुभव में आने वाले दुःख और कदापि अनुभव में नहीं आने वाले अतीन्द्रिय सुख की आह्लाद स्वरुप अनुभूति का भेद आत्मानुभवी ज्ञानी के ज्ञान में टंकोत्कीर्ण हो जाता है।**

गुड चखने के बाद गुड की अनुभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता। गुड नामक पुद्गल के अनुभव को वाणी में व्यक्त करने का सामर्थ्य पुद्गल वाणी में नहीं होता, तो आत्मा के अनुभव को वाणी के माध्यम से कैसे व्यक्त किया जा सकता है? **सूक्ष्मद्रष्टि से देखने पर पुदगल का अनुभव हो या आत्मा का अनुभव हो, अनुभव होना यह जीव का कार्य है, जीव का कार्य पुदगल वाणी कैसे कर सकती है? आत्मा का अनुभव निर्विकल्प होता है।** परन्तु आत्मानुभव से पूर्व साधक कुछ प्रक्रिया से गुजरता है। आत्मानुभव की प्रक्रिया और बिजली के करंट के अनुभव की प्रक्रिया में बहुत कुछ समानताएँ है।

जैसे कि विद्यार्थी के द्वारा - १. विज्ञान की किताब पढकर करंट (विद्युतप्रवाह) का स्वरुप जानना, २. विज्ञान के शिक्षक के माध्यम से करंट का स्वरुप जानना और ३. अनेक प्रकार की युक्तियों के माध्यम से करंट के स्वरुप का विचार करना, इन तीनों अवस्थाओं में भी करंट का सत्य स्वरुप अनुभव में नहीं आता। परन्तु जब कभी बिजली का तार खुला हो और सहज ही हाथ लग जाये, तब बिजली के करंट का अनुभव

होता है। भूतकाल में पूर्वोक्त तीन प्रकार से करंट का स्वरुप जाना था, उससे वर्तमान में जो अनुभवपूर्वक करंट का स्वरुप जाना वह कुछ अलग जाति का होता है। एक बार करंट का अनुभव होने के वह व्यक्ति करंट के पास दूबारा जाता नहीं है। क्योंकि उसे करंट के अनुभव से जैसा दु:ख का अनुभव हुआ, ऐसे दु:ख का अनुभव भूतकाल में कभी नहीं हुआ था।

ऐसे ही साधक के द्वारा - १. आगम पढकर आत्मा का स्वरुप जानना, २. आत्मानुभवी गुरु के माध्यम से आत्मा का स्वरुप जानना और ३. अनेक प्रकार की युक्तियों के माध्यम से आत्मा के स्वरुप का विचार करना, इन तीनों अवस्थाओं में भी आत्मा का सत्य स्वरुप अनुभव में नहीं आता। परन्तु **जब जीव सामायिक की मुद्रा में स्थित हो और अंतरंग में सहज ही ऐसा पुरुषार्थ उठे, तब आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है।** भूतकाल में पूर्वोक्त तीन प्रकार से भगवान आत्मा का स्वरुप जाना था, उससे वर्तमान में जो अनुभवपूर्वक आत्मा का स्वरुप जाना, वह कुछ अलग जाति का होता है। **एक बार आत्मा का अनुभव होने के बाद वह साधक आत्मानुभूति के लिये निरंतर सहज पुरुषार्थी होता है। क्योंकि उसे आत्मा के अनुभव से जैसे सुख का अनुभव हुआ था, ऐसे सुख का अनुभव भूतकाल में कभी नहीं हुआ था।**

आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति यह भी है कि निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्ति होने से पहले आत्मा का स्वरुप थोडा-थोडा अनुभव में आता है, जिस प्रकार किसी वस्तु के उपर अनेक कपडे के आवरण हो और अनेक कपडों में से एक-एक कपडा हटने पर जैसे वस्तु थोडी-थोडी स्पष्ट दिखाई देती है, उसी प्रकार **आत्मा का स्वरुप मोह मंद होने पर थोडा-थोडा दिखाई देता होगा, अनुभव में आता होगा। परन्तु ऐसा बिलकुल भी नहीं है।**

सत्य तो यह है कि जिस प्रकार बिजली के दो तार दस मीटर की दूरी पर हो या एक मीटर की दूरी पर हो, बल्ब प्रकाशित नहीं होता। यहाँ तक कि एक सेन्टीमीटर की दूरी पर हो, तो भी बल्ब प्रकाशित नहीं

होता। जैसे-जैसे दोनों तार नजदीक आते जाये, वैसे-वैसे बिजली का बल्ब थोडा-थोडा प्रकाशित हो जाये, ऐसा नहीं होता। वहाँ तो जैसे ही दोनों तार मिलते हैं कि बिजली का बल्ब प्रकाशित हो जाता है। उसी प्रकार **आत्मा के स्वरुप के चिन्तन-मननरुप विकल्प से आत्मा का अनुभव नहीं होता। परन्तु जैसे ही पर्याय का त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अभेद एकत्व होता है, तब सहज ही आत्मानुभव प्रकट होता है।** क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव में निर्विकल्प आत्मानुभूति का स्वरुप इसप्रकार स्पष्ट किया है।

नींद और आत्मानुभूति के बीच लक्षण से अत्यंत विरोध होने पर भी नींद और आत्मानुभूति की विधि समान है। जैसा कि - जब तक मुझे सोना है, मुझे सोना है ऐसे सोने के विकल्प रहते हैं, तब तक नींद नहीं आती है। ऐसे ही मुझे आत्मानुभूति करनी है, मुझे आत्मानुभूति करनी है, ऐसे आत्मानुभूति करने के विकल्प के रहते हुए आत्मानुभूति नहीं होती।

नींद के समय सोना है, ऐसा विकल्प भी छूट जाता है, ऐसे ही निर्विकल्प अनुभूति के समय मुझे निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रकट करना है, ऐसे विकल्प भी छूट जाते हैं। नींद आने से पहिले सोने के विकल्पात्मक विचार आते हैं, सोना है ऐसा निर्णय होता है, सोने की तैयारी होने लगती है, बिस्तर पर जाकर लेटना होता है, इतना कार्य तो बुद्धिपूर्वक होता है, ऐसे ही आत्मानुभूति होने से पहिले आत्मानुभूति करने के विचार आते हैं, आत्मानुभूति करनी है ऐसा निर्णय होता है, उसकी तैयारी होने लगती है, सामायिक की मुद्रा में बैठकर आत्मा के स्वरुप का चिंतवन होने लगता है, इतना कार्य तो बुद्धिपूर्वक होता है। यदि सोते हुए व्यक्ति को पूछा जाये कि कैसा आनंद आ रहा है? तब कोई जवाब नहीं मिलेगा। लेकिन सोने के बाद जब वह उठे तब उसे पूछने पर वह कहेगा कि आज मुझे बहुत आनंद आया, कितने ही दिन की मेरी थकान दूर हो गई। ऐसे ही **आत्मानुभूति के काल में कोई आत्मानुभवी को पूछे तो कोई जवाब नहीं मिलेगा, लेकिन निर्विकल्प आत्मानुभूति छूटने के बाद वे कह सकते हैं कि भूतकाल में कभी नहीं प्रकट हुआ था, ऐसा अतीन्द्रिय अपूर्व सुख प्रकट हुआ है, अनादिकाल**

की संसार परिभ्रमण की थकान दूर हो गई है।

यहाँ आत्मानुभूति की विधि को नींद की विधि के द्रष्टांत के माध्यम से स्पष्ट की गई है। द्रष्टांत को मात्र द्रष्टांत के रुप में समझकर उसका यथार्थ आशय ग्रहण करना। आत्मानुभूति को सोने की क्रिया के समान बताई होने से इतना पढ लेने के बाद कुछ भी न करके सो मत जाना। क्योंकि **हे जीव! तू अनादिकाल से मोह की गहरी नींद में सो रहा है, चित्र-विचित्र स्वप्न देखकर न जाने कितने परपदार्थों में अपनेपन की कल्पना कर बैठा है। भाई, अब तेरे सोने का नहीं, बल्कि जागने का समय आया है। जाननेवाले को जाननेवाले की पर्याय में जानना तथा अनुभव करना ही वास्तविक जागृति है।**

निर्विकल्प आत्मानुभूति को उपलब्ध सम्यग्द्रष्टी जीव ही इन सातों भयों से मुक्त होते हैं। एक मात्र चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में अपनापन होने से उन्हें सात भय नहीं होते। सप्त भयों से मुक्त सम्यग्द्रष्टी का स्वरुप इसप्रकार है।

१. इहलोकभय : इस भव में प्राप्त अनुकूलता मरण पर्यंत रहेगी या नहीं ऐसे भय को इहलोकभय कहते हैं। **ज्ञानी मानते हैं कि संयोगो के कारण मेरा जीवन नहीं हैं। क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाल स्वभाव से ही परिपूर्ण है।**

२. परलोकभय : इस भव प्राप्त अनुकूलता मरण के पश्चात् भी आगामी भव में प्राप्त होगा या नहीं, इस भय को परलोकभय कहते हैं। किया हुआ कर्म आत्मा के साथ जाता है, प्राप्त संपत्ति यहीं छूट जाती है। अज्ञानी चाहता है कि किया हुआ पापकर्म यहीं छूट जायें और प्राप्त संपत्ति अगले भव में आत्मा के साथ जाये। **ज्ञानी को परलोक का भय नहीं होता है। क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाल स्वभाव से ही परिपूर्ण है।**

३. वेदनाभय : शरीर की पीडा के भय को वेदनाभय कहते हैं। कभी-कभी अज्ञानी कहता है कि मुझे मर जाना स्वीकार है, परन्तु बिमारी नहीं चाहिए। ज्ञानी स्वयं को शरीररुप मानते ही नहीं। **ज्ञानी को वेदनाभय नहीं**

होता है। क्योंकि भगवान आत्मा वेदना से ही नहीं, बल्कि वेदना के विकल्प से भी त्रिकाल भिन्न है।

४. अरक्षाभय : स्वयं को असुरक्षित मानकर चिन्तित होने को अरक्षाभय कहते हैं। भविष्य की चिन्ता के कारण अज्ञानी स्वयं की सुरक्षा के लिये धन-संपत्ति जोडकर रखता है। वह अपनी सुरक्षा के लिये सुरक्षाकर्मी को साथ रखता है। बाह्य में तो रक्षक ही भक्षक बन सकते हैं। **ज्ञानी बाह्य सुरक्षा के कारण स्वयं को सुरक्षित नहीं मानते। क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाल स्वयं सुरक्षित ही है।**

५. अगुप्तिभय : छूपी बातें प्रकट हो जायेगी तो क्या होगा ऐसे भय को अगुप्तिभय कहते हैं। ज्ञानी को अगुप्तिभय नहीं होता, इस कथन का आशय ऐसा नहीं है कि ज्ञानी अपनी धन-संपत्ति का प्रचार सारे जगत के सामने करते रहे। खास बात तो यह है कि किसी भी प्रकार की छूपी बातें प्रकट भी हो जायें तो ज्ञानी को भय नहीं होता है। क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाल प्रकट ही है।

६. मरणभय : प्राप्त शरीर छूट जाने की चिन्ता को मरणभय कहते हैं। जिसे जीने की इच्छा होती है, उसे ही मरने का भय होता है। **जिसे जीने की इच्छा होती है, वह दूसरों को मारता है और जिसे मरने की इच्छा होती है, वह आत्महत्या करके स्वयं को मारता है।** आत्महत्या करने वाले जीव को जीने की इच्छा नहीं होती, ऐसा नहीं है, बल्कि उसे प्रबल इच्छा की पूर्ति करके जीवन जीने की इच्छा होती है, जब उसकी वह इच्छा पूर्ण नहीं होती, तब वह आत्महत्या करना चाहता है। **जिस जीव को जितनी अधिक सुखसुविधा सहित जीवन जीने की इच्छा होती है, वह जीव उतनी ही अधिक हिंसा करता है। ज्ञानी मानते हैं कि जीने या मरने से आत्मा का अस्तित्व या अस्तित्व का नाश नहीं होता। ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता है। क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाल अजर-अमर ही है।**

७. आकस्मिकभय : अचानक कोई घटना घटित होने की चिन्ता को आकस्मिकभय कहते हैं। अज्ञानी छोटी-छोटी घटनाओं के सम्बन्ध

में भी इतना चिन्तित रहता है कि उसे आत्मा का त्रिकाल स्वरुप द्रष्टि में ही नहीं आता। जैसे कि घर से निकलने के बाद चिन्ता होती है कि मैं छाता लेकर नहीं निकला हूँ, कहीं अचानक बरसात आयेगी तो क्या होगा? ज्ञानी कहते हैं कि **जगत में अचानक कुछ भी नहीं होता। प्रत्येक पर्याय अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतानुसार ही उत्पन्न होती है। ज्ञानी को अकस्मात भय नहीं होता है। क्योंकि भगवान आत्मा पर्याय से पार त्रिकाल सत्तास्वरुप है।**

आचार्य श्री अमृतचंद्र जी ने श्री ग्रंथाधिराज समयसार जी की आत्मख्याति टीका में १५५ से १६० तक इन छह कलशों में सात भयों से रहित सम्यग्द्रष्टी का स्वरुप स्पष्ट किया है। इसका विशेष अध्ययन वहाँ से करना चाहिए।

१६. वैराग्यजननी बारह भावना

तत्त्वार्थसूत्र के नवमें अध्याय के सातवें सूत्र में बारह भावना के भेद एवं स्वरुप इसप्रकार लिखा है।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्याश्रवसंवरनिर्जरा
लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः।।९-७।।

अर्थ : अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म का चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

भावना अर्थात् एक ही विषय पर उपयोग की स्थिरतापूर्वक बार-बार चिन्तन करना। वैराग्य उत्पादक भावना के बारह विषय होने से इस विषय को बारह भावना कहते हैं। बारह भावनाओं का स्वरुप एवं रहस्य इसप्रकार है।

अनित्य भावना का रहस्य यह है कि मरण आने से पहले कोई मार नहीं सकता। अशरण भावना का रहस्य यह है कि मरण आने पर कोई बचा

नहीं सकता। संसार भावना का रहस्य यह है कि मरण को निश्चित जानकर संसार भोगने का भाव भी योग्य नहीं है, क्योंकि संसार में किंचित् भी सुख नहीं है। एकत्व भावना का रहस्य यह है कि अनन्त गुणों की एकतारुप एक मात्र भगवान आत्मा ही सुख स्वरुप है। अन्यत्व भावना का रहस्य यह है कि यह भगवान आत्मा समस्त परद्रव्यों से प्रत्यक्ष जुदा है। अशुचि भावना का यह रहस्य है कि उन समस्त परपदार्थों में सब से निकटतम पराया पदार्थ शरीर है, वह अशुचिमय होने से देह से विरक्त होना चाहिए।

आश्रव भावना का यह रहस्य है कि आश्रव तो स्वभाव से ही दु:ख स्वरुप है, संयोग दु:ख का कारण नहीं है बल्कि संयोगीभाव संसार परिभ्रमण और दु:ख के कारण हैं। संवर भावना का यह रहस्य है कि भेदविज्ञान ही संवर का कारण है। संवर से ही धर्म प्रारम्भ होता है। निर्जरा भावना का रहस्य यह है कि संवर होने पर ही निर्जरा होती है, ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के हेतु है। आत्म जागृति ही निर्जरा का मूल कारण है। लोक भावना का यह रहस्य है कि यह लोक अनादि-अनन्त है, लोक में प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र और स्वाधीन है। चैतन्य लोक ही मेरा वास्तविक लोक है। बोधिदुर्लभ भावना का यह रहस्य है कि बोध का अर्थ ज्ञान होता है, बोधि का अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होता है। इस जीव ने आजतक रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं की अत: रत्नत्रय की प्राप्ति ही अत्यंत दुर्लभ है। धर्म भावना का यह रहस्य है कि वीतराग भाव ही धर्म है। वीतराग भाव ही सुख स्वरुप है, सुख का कारण है। **समस्त भावना भाने का आशय वीतरागता को प्राप्त करना ही है। चैतन्य स्वभावी शुद्धात्मा के आश्रय से वीतरागता प्रकट होती है, अत: चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा का चिन्तवन ही बारह भावनाओं का चिन्तवन है।**

मुख्यरुप से मुनिराज को और गौणरुप से सम्यग्द्रष्टी को बारह भावनाओं का चिन्तवन होता है। वैराग्य प्रकट होना और वैराग्य टिककर रहना बहुत ही दुर्लभ है। वैराग्यजननी भावनाओं का स्वरुप इसप्रकार है।

१. अनित्य : इस जगत में शरीर, सम्पति, परिवारजन आदि समस्त

संयोग, संयोगीभाव, निजात्मा के लक्ष्य से प्रकट होने वाली सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और मोक्ष की पर्याय अनित्य है और भगवान आत्मा उन समस्त अनित्यता से जुदा नित्य है।

गामा नामक पहलवान जवानी में अपनी शक्ति से चलती गाडी को रोक सकता था, परन्तु अन्त में अपने शरीर पर बैठी मक्खी को हटाने के लिये भी अपना हाथ उठाने की शक्ति भी नहीं थी। हम जिस धन से आज स्वयं को महान मानते हैं, वही धन एक क्षण में ही छूटता नजर आता है। कुछ पल में ही आलीशान महल में से झोपडपट्टी में चला जाता है, देवगति से एकन्द्रिय पर्याय को प्राप्त करता है। धनपति को भी भूकंप, सुनामी के दिनों में भिखारी की तरह बिस्कीट के पैकेट के लिये लाईन में खडा रहना पडता है। अतः **अनित्यता का यथार्थ स्वरुप समझकर नित्य आत्मा में स्थिर होना ही अनित्य भावना के स्वरुप की समझ का फल है।**

क्षणिक का बोध एवं नित्य का अनुभव नामक कृति में जगत की अनित्यता का स्वरुप इसप्रकार स्पष्ट किया है।

प्रत्येक वस्तु अनेकांत स्वभाव से युक्त होती है। उस द्रष्टि से पुदगल वस्तु भी द्रव्य अपेक्षा से नित्य तथा पर्याय अपेक्षा से अनित्य ऐसे दोनों रुप में होते हुए भी उसके अनित्य अंश को मुख्य करके ही कथन किया जाता है। आत्मा भी द्रव्य अपेक्षा से नित्य और पर्याय पर्याय अपेक्षा से अनित्य ऐसे दोनों रुप में होते हुए भी उसके नित्य अंश को मुख्य करके उपदेश दिया जाता है।

जैसे माता बालक को जन्म देती है, ऐसे ही बारह भावना का चिंतवन करने से वैराग्य प्रगट होता है। वैराग्य की उत्पादक बारह भावना में सर्वप्रथम क्रम में अनित्य भावना है। वहाँ अनित्य का चिंतवन करने की प्रेरणा दी है, जबकि श्रीमद राजचन्द्र जी ने आत्मसिद्धि शास्त्र में वर्णित ६ पद में से दुसरे पद में कहा है कि आत्मा नित्य है। वहाँ आत्मा के नित्यपने का चिंतवन करने का उपदेश दिया है। अज्ञानी पुदगल द्रव्य की पर्याय में सुख मानता है। अपने घर में पडा हुआ कांच का गिलास फूट जाने के बाद भी परमाणु यथास्थित रहते हैं, लेकिन गिलास फूट जाने के बाद उस गिलास

के टुकडे को फेंक दिया जाता है, क्योंकि अज्ञानी को गिलास की पर्याय में सुखबुद्धि थी, वह गिलास की पर्याय वर्तमान में व्यय हो चुकी है। **अज्ञानी के सुख का आधार क्षणिक पर्याय होने से अज्ञानी का सुख भी क्षणिक ही टिकता है जबकि ज्ञानी के सुख का आधार भगवान आत्मा नित्य होने से ज्ञानी का सुख भी नित्य टिकता है।**

अज्ञानी के दु:ख का निमित्त कारण पुदगल द्रव्य नहीं बल्कि पुदगल द्रव्य की पर्याय है और ज्ञानी के सुख का कारण आत्मा की पर्याय नहीं बल्कि आत्मा का द्रव्य स्वभाव है इसलिये जगत के क्षणिकपने का बोध और आत्मा के नित्यपने का अनुभव करना चाहिए। अरे! करना नहीं चाहिए, बल्कि सहज होना चाहिए। **क्षणिक का बोध और नित्य के अनुभव की चर्चा करना और यथार्थरुप में क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव होना, इनके बीच में भी बहुत अन्तर हैं।**

क्षयोपशमज्ञान में वृद्धि होने के लक्ष्य से क्षयोपशमज्ञान प्राप्त करने से ज्ञायकभाव का अनुभव नहीं होता क्योंकि क्षयोपशमज्ञान पर्याय है, क्षणिक है। क्षयोपशमज्ञान तो प्रतिसमय घटता-बढता है, फिर भी प्रत्येक जिज्ञासु जीव को प्रारंभिक भूमिका में तत्त्व का विधिवत् अभ्यास तो करना ही चाहिए। इस बात को अवश्य याद रखना चाहिए कि **तत्त्वाभ्यास का फल वैराग्य है, कषाय नहीं।**

क्षायिकज्ञान सादि-अनंत होते हुए भी एक समय की पर्याय होने से क्षणिक ही है। केवलज्ञान के लक्ष्य से भी आत्मानुभूति नहीं होती। पर्याय में अहंबुद्धि करने से निगोद के जीव के दु:ख से भी अधिक दु:ख होता है। निगोद के जीव तो एक श्वासोच्छवास जितने समय में अपना अठारह बार जन्म-मरण मानकर दु:खी होते हैं, जबकि पर्याय में अहंबुद्धि करने वाला जीव प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद-व्यय के कारण अपना जन्म-मरण मानकर दु:खी होता है। **पूर्णशुद्ध पर्याय में भी एकत्व न करके द्रष्टि के विषयभूत अभेद नित्य एक ज्ञायकभाव में ही एकत्व स्थापित करना चाहिए। ज्ञायकभाव के आश्रय से ही आत्मानुभूति एवं अनंत सुख प्रकट होता है।**

जैसे बालक को आग का बोध होने पर आग के पास जाने का मन नहीं होता ऐसे ही ज्ञानी को संसार के क्षणिकपने का बोध होने पर पांच इन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती। **आत्मा का आनंदमय अमृत पी लेने के बाद जगत के असार क्षणिकपने को ज्ञानी एक क्षण के लिये भी नहीं चाहता।**

आशय यह है कि चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से जगत की अनित्यता का बोध टिककर रहता है। **जब लोहा गरम होता है, तब लोहे को मोडना आसान है, ऐसे ही क्षणिक का बोध होता है, तब उपयोग क्षणिक जगत से नित्य आत्मा की ओर झुक सकता है। जिस जीव को भगवान आत्मा के संस्कार संचित हुए है, वे जीव जीवन की अनित्यता का बोध होने पर अध्यात्म मार्ग में चलने लगते हैं।** वहीं दूसरी ओर शुद्धात्मा के संस्कार के अभाव में जगत की अनित्यता का बोध होने पर व्यक्ति शराब आदि व्यसन का सेवन करने लगता है, कोई व्यक्ति तो आत्महत्या भी कर लेता है।

यदि जगत में पिता-दादा-परदादा आदि सब का मरण ही नहीं होता तो हमें यहाँ पैर रखने के लिये जगह भी नहीं होती। अनित्यता जगत का स्वभाव है। आगे आने वाली सात पीढी के लिये आप कमाने का विचार करते हैं, जो बच्चे आपका नाम भी याद रखने वाले नहीं हैं। क्योंकि आपको भी आपकी सात पीढियों के नाम याद है क्या? कहने का आशय यह है कि **जगत की अनित्यता का बोध होना साधक की साधना का प्रथम चरण है।**

२. अशरण : मरण आने पर कोई बचा नहीं सकता अतः मरण के समय कोई भी सहारा देने वाला नहीं है। दूसरी सूक्ष्म बात यह है कि **जगत में जितने भी परपदार्थ है, वे सभी परपदार्थ अशरण है और एक मात्र निज शुद्धात्मा ही शरण है।** किसी की शरण में जाना और किसी को शरण में लेना, ये दोनों ही वृत्ति पराधीनवृत्ति है।

अज्ञानी परिवारजनों के साथ सुखबुद्धिपूर्वक रहना चाहता है, क्योंकि वह मानता है मरण के समय परिवारजन ही मेरा साथ देंगे। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि तुझे किसी भी परपदार्थ का शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। **ज्ञानी की द्रष्टि में तो एक मात्र निज भगवान आत्मा ही है, स्वयं को**

त्रिकाली ध्रुव आत्मा मानने पर भी ज्ञानी प्रतिक्षण मरण को ज्ञान में जानते हुए जीवन जीते हैं। हमने शमशानों को भी फूलों से सजाना शुरु कर दिया। फूलों से ढांकने का भाव सत्य को छिपाने का भाव है। काश! हम अपनी मृत्यु को तरह-तरह के फूलों के ढेर में कहीं छिपा सकते। परन्तु मृत्यु तो वहाँ भी पहुँच जाती है। **चैतन्य स्वभाव ही एक मात्र स्थान है, जहाँ मृत्यु पहुँच ही नहीं सकती। चैतन्य स्वभावी निज शुद्धात्मा का शरण ही अशरण भावना समझने का वास्तविक फल है।**

३. संसार : संसार किसी स्थान का नाम नहीं है, बल्कि आत्मा की अशुद्ध पर्याय का नाम संसार है और परिपूर्ण शुद्ध पर्याय का नाम मोक्ष है। **चारगति के समूहरुप समस्त संसार में सर्वदा और सर्वथा दुःख ही है। संसार स्वभाव से ही दुःख स्वरुप है, एक मात्र चैतन्य स्वभाव ही सुखरुप है।** जैसे रेत में से तेल नहीं निकल सकता, ऐसे ही संसार में से सुख मिल नहीं सकता। इस बात का विचार करके चैतन्य स्वभावी शुद्धात्मा को सारभूत जानना, मानना और इसी में लीन होना संसार भावना समझने का फल है।

दूर से देखने पर ऐसा लगता है कि आसमान और जमीन एक दिखाई देते हैं, परन्तु जब वहाँ जाकर देखते हैं कि तब वहाँ भी आसमान और जमीन के बीच उतना ही अन्तर दिखाई देता है, जहाँ पहले खडे थे तब आसमान और जमीन में अन्तर था। दूर के ढोल सुहावने लगते हैं, सिर्फ ढोल ही नहीं, संसार की प्रत्येक अनित्य वस्तु दूर से ही सुखरुप लगती है। हिरण की नाभि में कस्तुरी होती है, उसे कस्तुरी की सुगंध आती है, परन्तु कस्तुरी के अस्तित्व का ज्ञान होने पर भी वास्तविक स्थान का खयाल नहीं होने से वह हिरण सारे वन में कस्तुरी खोजने के लिये घूमता रहता है, ऐसे ही **प्रत्येक आत्मा में सुख स्वभाव निरंतर नित्य है। परन्तु मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण जीव बाह्य विषयभोगों में सुख खोजता है। परिणाम यह आता है कि आकुलित होकर दुःखी होता है।**

हे भगवान आत्मा! संसार की अनित्यता को असार जानकर संसार में कोई भी परपदार्थ शरण लेने योग्य नहीं है ऐसा जानकर एक मात्र भगवान

आत्मा में एकत्व के बल पर संसार से उदासीन होना ही संसार के रहस्य को समझने का फल है।

४. एकत्व : एकत्व शब्द का प्रयोग आत्मा को अकेला बताने के लिये नहीं, बल्कि एक आत्मा में अनन्त गुणों की एकता बताने के लिये एकत्व शब्द का प्रयोग किया है। समस्त परपदार्थों से भिन्न एक आत्मा की अनुभूति होने से किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु का साथ चाहिए, ऐसी पराधीन वृत्ति छूट जाती है। **एकमात्र चैतन्य स्वभावी निज शुद्धात्मा ही जगत में सारभूत है, यही एकत्व भावना का सार है।**

यह आत्मा जगत में जहाँ भी गया अकेला गया, भीड के बीच में भी भीड भगवान आत्मा में एकमेक नहीं हो गई। निगोद में भी अनन्त निगोदिया जीवों के बीच भी अकेला ही रहा। स्वर्ग में गया, नरक में गया, अकेला ही गया, यहाँ मनुष्य गति में भी पुत्र-पत्नी परिवार के साथ होने पर भी अकेला ही है। फिर भी एक दिन के लिये अपने पति, पत्नी, बेटा, बेटी आदि से दूर रहने में निराश हो जाता है। **हे जीव! अनन्त काल के लिये जिन संयोगो से दूर होना ही होना निश्चित है, उन संयोगो में इतना मोहासक्त क्यों हो रहा है?**

संयोग और साथ में भेद जानना चाहिए। प्राप्त योग को संयोग कहते हैं, संयोग में अपनापन होना साथ है। यदि आप अकेले ही ट्रेन से सफर कर रहे हो और ट्रेन में बहुत भीड हो तो तब आपके संयोग में तो अनेक लोग हैं, परन्तु वहाँ आपका साथी कोई नहीं है। अतः संयोगो को नहीं छोडना है, बल्कि साथ को छोडना है। **क्योंकि संयोग तो दुःख के कारण है ही नहीं, साथ दुःख का मूलकारण है।**

यदि अज्ञानी राग-द्वेष के विकारीभावों को साथ लेकर वन में अकेला भी चला जाता है, तो भी वन के पेड-पौधों में या नदी-सरोवरों में भी अपनापन स्थापित कर देता है। वह रागभाव के कारण वन में भी घर बनाता है, फार्महाउस बनाता है। वहीं दूसरी ओर शहर में रहने वाला भिक्षुक भी अपने को सारे मोहल्ले का मालिक मान लेता है, मलिन वृत्ति के कारण एक

भिक्षुक दुसरे भिक्षुक को अपने मोहल्ले में आने नहीं देता। इसलिये **प्रतिक्षण अनन्त गुणों की एकतारुप एक मात्र चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का चिन्तन-मनन करके आत्मानुभूति प्रकट करनी चाहिए।**

५. अन्यत्व : यद्यपि भगवान आत्मा समस्त परपदार्थों से भिन्न है, फिर भी आत्मा को समस्त पर पदार्थों से भिन्न बताने के लिये अन्यत्व शब्द का प्रयोग नहीं किया है। भिन्नत्व भावना नहीं, बल्कि अन्यत्व भावना कही है। भिन्नक्षेत्रावगाही के लिये भिन्न शब्द का प्रयोग होता है और एकक्षेत्रावगाही भिन्नता बताने के लिये अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा घर, धन, परिवार आदि परपदार्थों से तो जुदा है, साथ ही शरीर और रागादिभावों से भी अन्य है।**

परपदार्थों में लीन होना दु:ख का मूल कारण नहीं है, बल्कि निजात्मा में लीन न होना दु:ख का मूल कारण है। जैसा कि दुकान में न बैठकर फिल्म देखने जाने में दो प्रकार का नुकसान होता है, पहला नुकसान फिल्म देखने के लिये जाने से वहाँ होने वाला ५०० रुपये का नुकसान और दुकान पर न बैठने से व्यापारादि न होने से होने वाला ५ लाख रुपये का नुकसान। आशय यह है कि बाहर फिल्म देखने को जाने का नुकसान कम है, परन्तु दुकान पर नहीं रहने का नुकसान अधिक है।

ऐसे ही जब निज शुद्धात्मा में लीन न रहकर जब अज्ञानी जीव जगत के विषयों को जानने-देखने जाता है, तब रागादि भावों के निमित्त से कर्मों का बन्धन होता है, वह बन्धन इतना बडा नुकसान नहीं है, परन्तु **वर्तमान पर्याय में उपयोग का स्वभाव में स्थिर न रहना और आह्लाद स्वरुप अतीन्द्रिय सुख का अनुभव न होना बहुत बडा नुकसान है। फिर भी निराश होने जरुरत नहीं है क्योंकि जब जागे तब सबेरा, इस न्याय से आज ही, अभी ही, उपयोग को परपदार्थों से समेटकर निज चैतन्य स्वभाव में स्थिर करने का प्रयास करना चाहिए। भाई! ऐसा श्री सद्गुरु का उपदेश है और अन्यत्व भावना का संदेश है।**

६. अशुचि : अज्ञानी स्वयं को देह के रुप में मानकर उसी देह के

श्रंगार में सारा अमूल्य मानव जीवन व्यर्थ में ही गंवाता है। यह शरीर मक्खी की पंख जितनी मोटी चमडी द्वारा मांस, खून, हड्डी, चरबी आदि पदार्थों को मढा हुआ है। शुद्ध पानी और आहार भी इस देह के संयोग में आते हैं, देह की अपवित्रता के कारण वे भी अपवित्र हो जाते हैं। आजतक जितनी भी वस्तु इस देह के संयोग में आई, वे सभी भोजन, कपडे, आदि वस्तुयें मलिन हो गई। परन्तु **अनादिकाल से देह में रहने वाला निज शुद्धात्मा मलिन शरीर में रहकर भी शुद्ध चैतन्यमात्र ही रहा। चैतन्य स्वभाव के शुद्धपने का चिन्तन करने अनुभव करना ही अशुचि भावना के चिंतवन का मूल हेतु है।**

बस में बैठकर कहीं सफर कर रहे हो, वहीं थोडी देर के लिये बस किसी स्टेशन पर ठहरी हो, तभी कोई व्यक्ति नीचे उतरकर जल्दी से रंग का डिब्बा लाकर बस में रंग करने लगे, तो लोग कहेंगे कि इस मूर्ख को देखो! २०-३० मिनिट जिस बस में सफर करना है, उस बस के रंग-रोगान में अपना समय बरबाद कर रहा है। ७०-८० साल की जिन्दगी में २०-३० मिनिट का बस सफर क्या चीज है? वहाँ तो सभी लोग उसे मूर्ख कहते हैं, परन्तु यदि कोई व्यक्ति जिस शरीर में लगभग ७० साल ही जीना है, उस शरीर को मैक-अप करे, चेहरे पर पावडर लगाये, होठ पर लिपस्टीक करे, तब कोई नहीं कहता है कि **इस मूर्ख को देखो! जिस शरीर में थोडे ही समय के लिये जीना है, उस शरीर का श्रंगार करने में ही अमूल्य मनुष्य भव बरबाद कर रहा है। शरीररुपी राख पर पावडररुपी राख की रंगोली बना रहा है। परन्तु खास बात तो यह है कि यहाँ अज्ञान के जगत में कौन किसे मूर्ख कहे? क्योंकि सभी अज्ञानी श्रंगार करते हैं, यहाँ तो उलटा है, यदि कोई ज्ञानी शरीर को श्रंगार नहीं करे तो लोग कहते हैं कि देखो! इस मूर्ख को जीवन जीना ही नहीं आता।** भाई! ७० साल के जीवन में ऐसा न हो जाये कि ७० कोडाकोडी सागर का मिथ्यात्व का बंध होकर संसार परिभ्रमण हो। अनादि-अनन्त अस्तित्वरुप भगवान आत्मा के लिये ७० साल का देह का सफर अत्यंत अल्प ही है, अत: **देह की अपवित्रता का विचार करके देह पर द्वेष या घृणा न करके देह का अपनापन छोडकर चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में ही एकत्व करना चाहिए।**

जो विष्टा वर्तमान में शरीर के अन्दर का स्पर्श करती है, थोडी देर बाद उस विष्टा की ओर व्यक्ति पीछे मुड कर देखता भी नहीं है। वह जानता है कि उस विष्टा की ओर देखने योग्य कुछ भी नहीं है। परन्तु थोडी ही देर पहले जब वह पेट पर हाथ घूमा रहा था, तब वह मल भी सुखरुप लगता था। दांत गिरने के बाद हाथ में लेना भी नहीं चाहता, अपने नौकर को कहता है कि इस गिरे हुए दांत को उठाकर कचरे के डिब्बे में फेंक देना। एक सैकण्ड पहले वह उसी दांत पर जीभ घुमाकर चाट रहा था।

हे भगवान आत्मा! देह की अपवित्रता का एहसास होने के बाद चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की स्पर्शना होने के बाद स्पर्शनेन्द्रिय के विषयभोग भी असार लगते हैं, विषयों से विरक्त होने की भावना ही तेजी से दौडने लगती है।

ट्रेन से सफर करते वक्त यदि कोई व्यक्ति मांस की थैली लेकर पास में बैठा हो, तब कैसा लगता है? ऐसा विचार आता है कि कब मैं यहाँ से दूर हो जाऊँ? परन्तु **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा को अनादिकाल से शरीररुपी मांस के थैले में बांध कर रखा है, मिथ्यात्व के कारण ही यह बंधन है। देह का एकत्व छूटने पर देह भी छूट जाता है, मिथ्यात्व छूटने पर मोक्ष हो जाता है, यही अशुचिभावना का सार है।**

जो गुरु अंतर्मूहुर्त में ही मृतदेह को अग्निदाह देने का उपदेश देते हैं, उनके ही शिष्य उन्हीं गुरु के मृतदेह को घण्टों और दिनों तक दर्शन के रखते हैं। वहाँ वे अनेक प्रकार के अपने विकल्पों को जोडकर मन को तृप्त कर लेते हैं। जब मिथ्याद्रष्टी जीव स्वयं का तर्क जोडकर ज्ञानी के उपदेश का उल्लंधन करता है, तब वह गुरु की वाणी के रहस्य को समझ नहीं सका है।

७. आश्रव : आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भाव साक्षात् दुःख स्वरुप है, परन्तु भेदविज्ञान के बल से रागादिभावों से भिन्न चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्ध ही है। राग और द्वेष के दोनों ही भाव आश्रव है। भगवान आत्मा दोनों प्रकार के पापाश्रव और पुण्याश्रव से जुदा है। ऐसा चिन्तन करना आश्रव भावना का चिन्तन है। रागादि भावों की उत्पत्ति के

काल में ही राग दु:खरुप लगना चाहिए। अज्ञानी को जिस पदार्थ में राग होता है, उस पदार्थ में अपनी आशा की पूर्ति नहीं होने के कारण राग का भाव रुपांतरित होकर द्वेष होता है। तब राग दु:खरुप है, ऐसा क्षणिक का बोध होता है। परन्तु वह बोध भी क्षण भर के लिये टिकता है। **नित्य चैतन्य का आश्रय नहीं होने से राग का असारपना श्रद्धान में टंकोत्कीर्ण नहीं हो जाता है।**

आज का मित्र, कल शत्रु भी हो सकता है, आज का शत्रु कल मित्र भी हो सकता है। राग से द्वेष और द्वेष से राग के झूले में प्रत्येक अज्ञानी झूलता ही रहता है। सत्य तो यह है कि जिस वस्तु या व्यक्ति में आज राग का तीव्र भाव है, उसी वस्तु या व्यक्ति में रागभाव की पूर्ति न होने के कारण द्वेष हो जाता है। जिसप्रकार घडी में लोलक चलता रहता है। दायीं दिशा में जाते समय वह लोलक बायीं दिशा में आने की शक्ति एकत्रित करता है। ऐसे ही जीव जब राग करता है, तब ही छूपी तरह से द्वेष में रुपांतरण होने की छूपी प्रक्रिया चलती ही रहती है। इसलिये **एक मात्र वीतराग भाव ही आश्रव से छूटने का उपाय है। चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा ही वीतरागता प्रकट होने का एक मात्र आधार है।**

८. संवर : संवर आत्मा की आंशिक शुद्ध पर्याय है, चैतन्य स्वभावी त्रिकाली भगवान आत्मा संवर की पर्याय से भी जुदा है। पुण्य और पाप कर्मों का आत्मा में नहीं आना संवर है। वीतरागता के कारण कर्मों का संवर होता है, वह द्रव्यसंवर है परन्तु शुभ-अशुभ रागादि विकारीभावों से भिन्न भगवान है, ऐसा चिन्तवन करना संवर भावना है।

पुण्य और पाप का कर्ता आत्मा नहीं है, पुण्य और पाप नहीं करने का उपदेश भी जिनेन्द्र भगवान ने नहीं दिया है, बल्कि पुण्य और पाप से भिन्न ज्ञान स्वभावी आत्मा को जानना, मानना और उसी में स्थिर होना संवर भावना है।

अज्ञानी को पर्यायद्रष्टि होने से जगत के समस्त जीवों को भी पर्याय के रुप में ही देखता है। **द्रव्यद्रष्टि प्रकट होने पर ज्ञानी समस्त जीवों को**

भगवान आत्मा के रुप में देखते हैं। स्वयं को भगवान आत्मा के रुप में देखने पर समस्त जीवों में एक-एक जीव को भगवान आत्मा के रुप में देखने का पुरुषार्थ नहीं करना पडता। वास्तव में जगत को जानने का नाम पुरुषार्थ नहीं है, बल्कि स्वयं को जानने का नाम पुरुषार्थ है।

विकल्प तो कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं अत: कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होने वाले विकल्पों में भले-बूरे की कल्पनायें करता है। विकल्पों को अभेद एकरुप जानना, भगवान आत्मा को अभेदरुप जानना, अभेद निज शुद्धात्मा को समस्त विकल्पों से भेदरुप जानना ही संवर है, ऐसा ही निरंतर चिन्तन होता रहे, यही संवर भावना है।

९. निर्जरा : पुरुषार्थ के बल पर कर्मों का आत्मा में से खिर जाना वास्तविक निर्जरा है। कर्म तो निरंतर उदय में आते रहते हैं और फल देकर आत्मा से दूर हो जाते हैं। परन्तु उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। क्योंकि चैतन्य के आश्रय से पूर्वबद्ध कर्म उदय में आकर खिर जाये और नवीन कर्मों का बंध नहीं होता, इस अपेक्षा से ज्ञानी को भोगों के काल में भी निर्जरा होती है।

तप से कर्मों की निर्जरा होती है। इस कथन का आशय ऐसा नहीं है कि भूखा रहने से कर्मों की निर्जरा होती है। जैसा कि किसी व्यक्ति ने शाम को पांच बजे ही भोजन कर लिया और रात्रिभोजन नहीं किया। क्योंकि उसे शाम को फिल्म देखने के लिये जाना था। रात्रिभोजन नहीं किया उसका नाम तप नहीं है, क्योंकि एक पाप नहीं करके दूसरा पाप किया। **वास्तव में समस्त पाप एवं पुण्य छूटकर निज शुद्धात्मा के आश्रय से परिणति की शुद्धि में वृद्धि होती है, उसे तप कहते हैं। उसी तप से कर्मों की निर्जरा होती है। ऐसी निर्जरा होने का आधारभूत द्रष्टि का विषय भगवान आत्मा के ज्ञायकभाव का चिन्तवन करना निर्जरा भावना है।**

१०. लोक : अज्ञानी को ऐसा प्रश्न हो सकता है कि जगत को भूलना है तो फिर जगत का चिन्तवन करने से क्या लाभ है? लोक की लम्बाई, चौडाई, मोटाई आदि का विचार करना लोक भावना नहीं है, साथ ही

लोक में स्थित जीवादि द्रव्यों की परिभाषा और भेद-प्रभेद का चिन्तवन करना लोक भावना नहीं है, बल्कि इस लोक के सहज स्वतंत्र अस्तित्व का चिन्तवन करना और स्वयं को इस बाह्य लोक से भिन्न भगवान आत्मा का चिन्तन और अनुभव करना ही लोक भावना का रहस्य है।

इस जगत का कर्ता, धर्ता और हर्ता कोई नहीं है। वस्तु में ही उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय स्वभाव है। वस्तु में उत्पाद स्वभाव के कारण नई पर्याय उत्पन्न होती है। वस्तु में ध्रौव्य स्वभाव होने के कारण द्रव्य में नित्यता रहती है। वस्तु में व्यय स्वभाव के कारण पूर्व पर्याय का नाश होता है।

संसार भावना और लोक भावना का एक स्वरुप नहीं है। जीव की अशुद्ध पर्याय का नाम संसार है, जबकि आकाश के दो भेदों में से लोक पहला भेद है। **संसार का नाश हो सकता है परन्तु लोक का नाश नहीं हो सकता। लोक में फेरफार करने का भाव ही संसार है। संसार का नाश होना ही लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला पर सादि-अनन्त काल तक स्थिर होने का उपाय है।**

यद्यपि लोकाकाश से अनन्तगुना अलोकाकाश है फिर भी बारह भावनाओं में लोक भावना का वर्णन किया है, परन्तु अलोक भावना को समाविष्ट नहीं किया है। क्योंकि आज तक इस आत्मा ने लोक में ही परिभ्रमण किया है, अलोक में नहीं और यदि आत्मा के निर्विकल्प अनुभवरुप सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होगा तो भविष्य में भी इस लोक में ही परिभ्रमण होता रहेगा।

याद रहे! बाहर के लोक से मेरा क्या प्रयोजन है? **चैतन्य लोक ही मेरा असली लोक है।** इसके सम्बन्ध में ज्ञान से ज्ञायक तक के पृष्ठ क्रमांक ७४ पर विशेष खुलासा इसप्रकार किया है।

यह तो स्वाभाविक है कि किसी वस्तु को जिस थैली में रखते हैं, वह थैली वस्तु से तो बडी ही होती है। उसी प्रकार तीन लोक सहित अलोक भी जिसके ज्ञान की एक समय की पर्याय में ही समा जाता है, ऐसा चैतन्यलोक स्वरुप भगवान आत्मा तीन लोक से भी विशाल है, तीनों काल में महान है।

तीन लोक को जानने वाले केवली भगवान ने भी चैतन्य लोक को ही सारभूत जाना है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है और आत्मा भी असंख्यात प्रदेशी है। असंख्यात प्रदेश में व्याप्त होने पर भी आत्मा ज्ञानप्रदेश पर ही स्थित है। जिस प्रकार आकाश के बाहर जगत में कुछ भी नहीं है, उसीप्रकार चैतन्यलोक के बाहर जगत में कुछ भी नहीं है।

ज्ञानी कहते हैं कि तीन लोक से मेरा क्या प्रयोजन है? वस्तुतः **निज चैतन्यलोक ही वास्तविक लोक है, जिस चैतन्य लोक में तीन लोक सहित अलोक भी एक समय में एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं।**

जिस प्रकार गंगा नदी की लम्बाई एवं चौडाई अत्यंत विशाल होने पर भी वह नदी मेरी प्यास की आग बुझाने के लिये उपयोगी नहीं बनती। मेरी प्यास की आग बुझाने का कारण तो मेरे घर के निकट स्थित कुए का पानी ही होता है। उसी प्रकार तीन लोक की लम्बाई एवं चौडाई अत्यंत विशाल होने पर भी तीन लोक एवं तीन लोक में स्थित भौतिक वैभव मेरे सुख का कारण नहीं बनता। **ज्ञानी कहते हैं कि मेरे राग की आग बुझाने का एवं अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का कारण तो एक मात्र निज चैतन्यलोक ही है, अतः लोकालोक से भी श्रेष्ठ निज चैतन्यलोक है।**

निश्चय से निज चैतन्य लोक में ही चैतन्य की पर्याय का समा जाना, लीन हो जाना, लोक भावना के चिन्तवन का यथार्थ फल है।

११. बोधिदुर्लभ : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को बोधि कहते हैं। पांच इन्द्रिय के विषय के भोग तो अनन्त बार प्राप्त हुए और छूट भी गये, परन्तु चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा आज तक अनुभव में नहीं आया। अतः **चैतन्य की अनुभूति अत्यंत दुर्लभ है।**

इस कलिकाल में इस जगत में रुपये कितने लोगों को मिले हैं? इस जगत में केवली प्ररुपित धर्म कितने लोगों को प्राप्त हुआ है? स्थूल द्रष्टि से देखे तो सभी लोगों को धन प्राप्त हुआ है। परन्तु केवली प्ररुपित धर्म की प्राप्ति कुछ ही लोगों को प्राप्त हुई है। अतः वह बहुत ही दुर्लभ है। उसमें भी वीतरागी भगवान के वचनों को अपने आत्मा में अवधारण करने वाले

जीव तो कोई विरलें ही है। सुन्दर शरीर मिलना, धन मिलना, गाडी-बंगला मिलना, साफ-सुथरा देश मिलना, आदि संयोग तो मांस खाने वाले, शराब पीने वाले, जुआ खेलने वाले, आदि सातों व्यसनों का सेवन करने वाले लोगों को भी मिल जाते हैं। परन्तु केवली भगवान द्वारा बताया हुआ धर्म सदाचारी जीवों को ही प्राप्त होता है। **सदाचार का पालन नहीं करने वाले जीव वीतराग प्ररुपित धर्म को समझ ही नहीं सकते।**

यह तो सर्वविदित ही है कि छह महिने और आठ समय से छह सौ आठ जीव नित्य निगोद से बाहर निकलते हैं और छह महिने और आठ समय से छह सौ आठ जीव मनुष्यभव से मोक्ष जाते हैं। खास बात यह है कि निगोद से मोक्ष तक की यात्रा तब ही सफल होती है, जब दो बार छह सौ आठ जीवों में हमारा नम्बर आता है। हम नित्यनिगोद से बाहर निकले अतः पहिले छह सौ आठ में तो हमारा नम्बर लग गया। अब, दुसरे छह सौ आठ में नम्बर लगना बाकी है। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा आधा काम समाप्त हो गया और आधा काम बाकी है। अरे भाई! अभी पूरा काम बाकी ही है। क्योंकि निगोद से बाहर निकलने के पुण्य के उदय की मुख्यता है और मनुष्य से मोक्ष पाने के लिये पुरुषार्थ की प्रधानता है। पहिला कार्य तो कर्म ने कर दिया और दूसरा कार्य हमें करना है। **वास्तव में जिस भगवान आत्मा में कुछ होता ही नहीं है, ऐसे त्रिकाली शुद्ध भगवान में एकत्व स्थापित करना ही दुसरे छह सौ आठ में नम्बर लगाने का उपाय है।**

आत्मार्थी जीवों को निराश करने के लिये रत्नत्रय की प्राप्ति को दुर्लभ नहीं कहा है, परन्तु विषय भोगों के संस्कार अनादिकाल से जीव में द्रढ हो गये, विषयभोगरुप प्रवर्तन तो सहज पूर्व संस्कारवश ही हो जाता है, बच्चे को दूध पीने को सीखाना नहीं पडता, वह पूर्व संस्कार से ही दूध पीना जानता है, परन्तु चैतन्य स्वभाव की प्राप्ति पुरुषार्थ के बल पर ही होती है, संस्कारवश नहीं हो जाती यह बताने के लिये बोधिदुर्लभ भावना में रत्नत्रय को दुर्लभ कहा है। **अनन्त जीवों को बोधि की प्राप्ति हो चुकी है, असम्भव नहीं है। प्रत्येक आत्मा आत्मिक पुरुषार्थ से दुर्लभ बोधि को भी सुलभ कर सकता है, यही बोधिदुर्लभ भावना का सार है।**

१२. धर्म : प्रत्येक वस्तु का धर्म अपने-अपने में ही होता है। आत्मा का धर्म शरीर की क्रियाओं में नहीं है। वीतराग भाव की प्राप्ति होना ही धर्म है। पर एवं पर सम्बन्धी विकल्पों को असार जानकर चैतन्य स्वभाव को ही सारभूत जानकर, मानकर उसी में स्थिर होना धर्म है। **जो व्यक्ति मृत्यु को नहीं समझ सकता, वह धर्म को भी नहीं समझ सकता। इसलिये बारह भावना धर्म भावना सब से अन्त में और मृत्यु की सूचक अनित्य भावना प्रथम क्रम पर है।**

प्रत्येक प्राणी की मृत्यु की घटना के समाचार अपनी मृत्यु की घटना का संकेत है। जब-जब किसी भी प्राणी की मृत्यु का ज्ञान हो, तब इस मनुष्य देह की अनित्यता का एहसास होना चाहिए। संसार परिभ्रमण का खेद हुए बिना धर्मयात्रा प्रारम्भ नहीं होती है। वास्तव में अमेरिका या युरोप के देशों में विहार करने का नाम धर्मयात्रा नहीं है, परन्तु **सारे जगत से द्रष्टि हटाकर चैतन्य स्वभाव की स्थिरता के बल पर मुक्तिपुरी की ओर अग्रसर होना ही धर्मयात्रा है। अज्ञानी को राग भाव में सुख बुद्धि होने के कारण जगत का परिभ्रमण करने को धर्मयात्रा मानना रसप्रद लगता है और जगत के विषयासक्त जीवों को ऐसी ही यात्रा की रुचि है। निज भगवान आत्मा में स्थिर होकर पर्याय में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, तब धर्म यात्रा आगे बढती है।**

जिस प्रकार घर में उजाला लाने के लिये घर को जलाने की आवश्यकता नहीं है, एक दीपक प्रकटाने पर ही घर में उजाला फैल जाता है। उसी प्रकार धर्म प्रकट करने के लिये राग और ज्ञान दोनों का नाश करना आवश्यक नहीं है। ज्ञान तो स्वभाव है, राग विभाव है। अतः राग का ही नाश किया जा सकता है। **जानने का भाव राग है, नहीं जानने का भाव द्वेष है। अतः वे दोनों ही विभाव है। जानना मात्र स्वभाव है।**

इसप्रकार बारह भावनाओं के चिन्तवन से वैराग्य परिपक्व होने पर सांसारिक विकल्पों से सहज ही निवृत्ति होती है। राग भाव का अभाव और वीतराग भाव का सद्भाव होना ही बारह भावना के चिंतवन का फल है।

१७. मुनिदीक्षा पूर्व वैराग्य एवं उदासीनता

जैसे पेड पर उगे हुए फल को कच्ची अवस्था में ही पेड से निकालकर अलग कर दिया जायें, तो पेड और फल दोनों को कष्ट होता है। परन्तु जब वह फल पक जाता है, तब वह फल अपने पेड से सहज ही जुदा हो जाता है। जब पका हुआ फल पेड को छोडकर दूर चला जाता है, तब भी पेड को कष्ट तो होता है, क्योंकि पेड की शोभा तो इस फल के कारण ही थी। उसीप्रकार परिवारजनों के बीच रहने वाला व्यक्ति वैराग्य परिपक्व होने से पहले ही परिवारजनों को छोडकर दीक्षा लेता है, तो परिवारजन और दीक्षीत दोनों दु:खी ही होते हैं। परन्तु जब जीव का वैराग्य परिपक्व हो जाता है, तब वह वैरागी ज्ञानी सहज ही अपने परिवारजनों से जुदा हो जाता है, तब भी परिवारजनों को दु:ख ही होता है, क्योंकि परिवार की शोभा तो इस ज्ञानी वैरागी महापुरुष के कारण ही थी।

एक व्यक्ति को दीक्षा लेने की बहुत इच्छा हो रही थी। जब उन्हें पूछा कि आप जिस संघ में दीक्षा ले रहे है, वहाँ अनजान माहौल होगा। आप वहाँ रह तो पायेंगे न? उन्होंने जवाब दिया कि मैंने उस संघ में तीन महिने रहकर देख लिया है, वहाँ साधुसंध में सभी कल्याणमित्रों के साथ मित्रता बन गई है, अत: मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें कहा कि अरे! दुसरे स्थान पर राग करके पहले स्थान का राग नहीं छोडा जाता। **त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का आश्रय लेकर भगवान आत्मा की अनन्त शक्ति की श्रद्धा के बल पर ज्ञानी को समस्त जगत के राग-द्वेष का सहज ही त्याग होता है।**

जिस प्रकार बिलोरी कांच में सूर्य के किरणों को संगठित करके ग्रहण करने की शक्ति होती है। यदि सूर्य के किरण सीधे ही किसी कागज पर पडे तो कागज जल नहीं जाता, परन्तु यदि बिलोरी कांच से पार होकर आने वाली किरणों से कागज जल जाता है। यदि चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा

का आश्रय न लिया हो और गृहस्थदशा का त्याग करके अल्प परिग्रह रखने का संकल्प कर लिया हो, तो अनेक वस्तुओं का रागादि भावों की किसी एक परपदार्थ पर केन्द्रित होने से राग की आग अधिक भभकती है और राग की आग आत्मा को जलाती भी है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि आत्मा से अपरिचित बाह्य त्यागियों को साधारण गृहस्थों से भी अधिक मोह और कषाय होता है। **आत्मानुभव के साथ तप और त्याग का पालन हो तो वही त्याग कर्मों के ईंधन को जलाकर मुक्ति का कारण बनता है।**

यदि कोई व्यक्ति कर्ज में डूबा हो और सोच रहा हो कि यह संसार दु:ख स्वरुप है, छोड देने योग्य है, ऐसा सोचकर घर छोड देता है, तो वह दीक्षा नहीं है, बल्कि वह व्यक्ति तो नीति का पालन करने से भी दूर भाग रहा है। **जिसके जीवन में नीति नहीं होती, उसे सम्यग्दर्शन भी प्रकट नहीं होता, तो मुनि होना तो बहुत दूर की बात है।**

कुछ लोग दीक्षा लेने से पहिले अपने परिवारजनों के घर जाकर उनके साथ बैठकर रुचिकर भोजन का आयोजन करते हैं, क्योंकि बाद में तो ऐसे भोजन करने नहीं है, ब्युटीपार्लर जाकर बाल बनवाते हैं, यह सोचकर कि दीक्षा के बाद तो केशलोंच ही करना है। इसप्रकार की दीक्षा से पूर्व होने वाली क्रियाएँ उस जीव की सांसारिक भोगों की रुचि को ही सिद्ध करती है। अरे भाई! त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय के बिना जीव को वैराग्य एवं उदासीनता कैसे प्रकट हो सकती है? पाँच इन्द्रिय के भोगों से निवृत्ति कैसे हो सकती है? **सत्य की समझ का नाम धर्म है और याद रहे कि सत्य कदापि मुफ्त ही समझ में नहीं आता। सत्य को समझने के लिये प्राणों का बलिदान देने का साहस होना चाहिए। जब तक एक भी परमाणु को सुखबुद्धिपूर्वक बचाने का भाव आता है, तब तक सत्य स्वरुपी आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।**

जगत में एक मात्र उपाय यही है कि ज्ञायकभाव के निरंतर चिन्तन-मनन से तत्त्वविचार के बल पर ज्ञान पर्याय जब त्रिकाली ज्ञायक को जानती है, श्रद्धा गुण की पर्याय जब त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को अपना

मानती है और चारित्र गुण की पर्याय जब त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक में ही स्थिर होती है, तब सहज ही ज्ञायक (आत्मा) की अनुभूति होती है और मुनिदीक्षा अंगीकार करने की पात्रता भी सहज प्रकट होती है।

दीक्षा के बाद नाम बदलने का कारण क्या है? दीक्षा लेने से पहले जो नाम होता है, उस नाम का सम्बन्ध माता-पिता और भाई-बहन के साथ होता है। अब गृहस्थ दशा नहीं रही, तो गृहस्थ दशा का नाम और सम्बन्ध भी छूट जाता है। वहाँ यह भी भेद हो जाता है कि पाप में प्रवृत्ति करने वाली अवस्था अलग थी और यह साधु की अवस्था अलग है। परन्तु याद रहे कि साधु को भूतकाल के नाम में अपनापन नहीं होता है, उसी प्रकार वर्तमान में दीक्षित होने के बाद प्राप्त नाम में भी अपनापन नहीं होता है। **ज्ञानी का अपनापन तो एक मात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ही होता है।**

जिस प्रकार किसी व्यक्ति को कैंसर की बिमारी है, उस व्यक्ति को इलाज कराने के लिये ओपरेशन थियेटर में ले जाया जाता है। उसे दर्दी के कपडे पहनाये जाते हैं। अपने को दर्दी के कपडे पहिने हुए देखने के कारण उसे अपनी हीनता का एहसास हो रहा था। इसलिये वह जोश में आकर वहाँ से अपने घर वापिस लौट गया और दर्दी के कपडे निकालकर सूट-बूट-टाई आदि पहिनकर बैठ गया। वह मानने लगा कि मैंने दर्दी के कपडे नहीं पहिने है, इसलिये अब मैं बिमार नहीं, बल्कि स्वस्थ ही हूँ।

उसी प्रकार अज्ञानी जीव को मिथ्यात्वरुपी कैंसर की गाँठ अनादि काल से ही है। जब वह अज्ञानी अपने को रंगीन कपडे में घर में बैठा हुआ देखता है, तो उसे अपनी हीनता का एहसास होता है। इसलिये वह जोश में जाकर घर-परिवार आदि छोडकर बाह्य में अपरिग्रही दिखाई दे, ऐसा रुप धारण कर लेता है। वह मानने लगता है कि मैं अपने पास परिग्रह नहीं रखता हूँ, इसलिये मैं अब अज्ञानी नहीं हूँ, बल्कि ज्ञानी ही हूँ। जिसप्रकार बाह्य में दर्दी के कपडे निकालकर सूट-बुट-टाई आदि पहिन लेने मात्र से कैंसर की गाँठ निकल नहीं जाती। उसीप्रकार बाह्य में वेश छोड देने मात्र से मिथ्यात्वरुपी गाँठ छूट नहीं जाती।

आत्मज्ञान के बिना दीक्षा लेने से मिथ्यात्व की बिमारी को दूर करने इलाज, जिस सद्गुरुरुपी वैद्य के पास जाकर हो सकता था, उस सद्गुरु के पास जाने की सम्भावना भी दूर हो जाती है। क्योंकि दीक्षा के बाद गुरु के आदेशों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है, गुरु का आदेश भी ऐसा ही होता है कि अब, यहाँ आने के बाद और कहीं पर भी जा नहीं सकते और किसी अन्य ज्ञानी का साहित्य पढ नहीं सकते, प्रवचन सुन नहीं सकते। **भाई! मुनिदीक्षा होश में रहकर ली जाती है, जोश में आकर नहीं। होश और जोश का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। सम्यग्दर्शन सहित दीक्षा का अर्थ होश में रहकर ली गई दीक्षा और सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यादर्शन सहित दीक्षा का अर्थ जोश में आकर ली गई दीक्षा।**

मुनिदीक्षा अंगीकार करने से पहिले ज्ञानी के वैराग्य एवं उदासीनता के सम्बन्ध में क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव में इसप्रकार लिखा है।

मुनिदशा और मुक्तदशा की प्राप्ति के शुभ मुहूर्त नहीं होते। मूहुर्त देखकर दीक्षा ग्रहण करने वाले जीवों को गृहित मिथ्यात्व भी नहीं छूटा, तब अगृहित मिथ्यात्व के बारे में तो पूछना ही क्या? जिसे गृहित मिथ्यात्व भी नहीं छूटा हो, उसके गृह छोडने से क्या प्रयोजन है? आत्मा में से अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चोकडी का अभाव होते ही सहजरुप से घर छूटता है और चार कषाय चोकडी का अभाव होने के बाद निकट काल में सहजरुप से देह छूटता है। यदि किसी जीव को काल या अशुभ चोघडिया में वैराग्य प्रकट हो, तो क्या उसे गृहस्थदशा का त्याग नहीं करना चाहिए? **यदि आप अशुभ चोघडिया में शुभ कार्य नहीं करते हो, तो फिर शुभ चोघडिया में अशुभ कार्य क्यों करते हैं? किसी जीव को अशुभ चोघडिया में वैराग्य प्रकट होता है, तो वह चोघडिया शुभ है और किसी जीव को शुभ चोघडिया में विकार उत्पन्न होता है, तो वह चोघडिया अशुभ है।** यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिए कि **अमावस्या के दिन ही भगवान महावीर को निर्वाण और गौतमस्वामी को केवलज्ञान प्रकट हुआ था।**

दीक्षा के अवसर पर दीक्षार्थी को चमकदार वस्त्र और मनमोहक

आभूषण पहिनना उचित नहीं है। तीर्थंकर के जीव का भी दीक्षा कल्याणक मनाया जाता है, परन्तु वहाँ स्वर्ग के देवों को आमंत्रण देकर बुलाना नहीं पडता। **ज्ञानी की द्रष्टि निजस्वभाव पर स्थिर होती है, दीक्षाकल्याणक के अवसर को मनाने पर नहीं।** ज्ञानी को प्रबल वैराग्य प्रकट होते ही वर्तमान संयोगो को सहज ही छोडकर वे वनप्रयाण करते हैं, परन्तु जनप्रचार नहीं करते। नेमिकुमार ने दीक्षा ग्रहण करने के लिये कहाँ शुभमुहूर्त देखा था? वे तो पशुओं की पुकार सुनकर चैतन्य स्वभाव के आश्रय से वैराग्य प्रकट होते ही सहज संसारमार्ग से मोक्षमार्ग की ओर चल पडे थे। कुछ लोग कहते हैं कि नेमिकुमार को शुभमुहूर्त देखने की जरुरत ही नहीं थी, क्योंकि शादी का मुहूर्त तो देखा ही था, वही शुभमुहूर्त दीक्षा में उपयोग में आ गया। अरे भाई! शुभमुहूर्त में आयोजित की गई शादी भी जब सफल नहीं हुई हो, उस मुहूर्त को कौन शुभ मानेगा? वास्तव में **वैरागी पुरुष जिस क्षण मुनिदीक्षा अंगीकार करते हैं, वही क्षण शुभमुहूर्त कहलाता है। लोग प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में आत्मा का ध्यान करने बैठते हैं, परन्तु वे जानते नहीं हैं कि ब्रह्म अर्थात् त्रिकाली शुद्धात्मा एक मुहूर्त के लिये ध्यान का ध्येय बनता है, तब आत्मा केवलज्ञान सहित लोकालोक को जानता है, वह क्षण ही वास्तविक ब्रह्ममुहूर्त है।**

जिन्हें मुनिदीक्षा लेने के बाद अज्ञानियों के बीच में ही रहकर जीवन बिताना हैं, वे अज्ञानियों की भीड को साक्षी बनाकर दीक्षा लेते हैं। जिन्हें मुनिदीक्षा अंगीकार करके अनन्त सिद्धों के बीच ही रहना हैं, वे अनन्त सिद्धों को अपनी श्रद्धा में साक्षी मानकर मुनिदीक्षा अंगीकार करते हैं।

तीर्थंकर का जीव जिस दिन माता के गर्भ में प्रवेश करता है, वह दिन सहज ही गर्भ कल्याणक के रुप में मनाया जाता हैं। जिस दिन जन्म होता है, वह दिन सहज ही जन्म कल्याणक के रुप में मनाया जाता है। जिस दिन केवलज्ञान प्रकट होता है, वह दिन सहज ही ज्ञान कल्याणक के रुप में मनाया जाता है। जिस दिन मोक्ष होता है, वह दिन सहज ही मोक्ष कल्याणक के रुप में मनाया जाता है। जब चारों कल्याणकों में मुहूर्त और

पूर्वतैयारी नहीं होती, तब क्या दीक्षा कल्याणक सहज नहीं हो सकता? जिस जीव को अंतर में वैराग्य प्रकट हुआ हो, वह हररोज पहिने जाने वाले सादे कपडे को छोडकर चमकदार वस्त्रों को पहिने और बाद में उन चमकते वस्त्रों का त्याग करे, ऐसा नहीं हो सकता। भूतकाल में राजा-महाराजा की प्रतिदिन वेशभूषा चमकदार होती थी। अत: उन्होंने जो भी कपडे पहिने थे, उन कपडों को छोडकर वनप्रयाण कर गये। आजकल प्रतिदिन की वेशभूषा पेंट-शर्ट छोडकर चमकदार कपडे पहिनकर, उसका त्याग करने में सहज वैराग्य नहीं झलकता है।

दीक्षार्थी माता-पिता की आज्ञा लेते हैं, वह भी मात्र जानकारी ही देते हैं, बल्कि अनुमति नहीं लेते। इम्फोर्मेशन और परमिशन में भेद है। आफिस में शेठ अपने नौकर को कहता है कि मैं कल दफतर नहीं आउँगा। वहाँ सेठ अपने नौकर को सिर्फ इम्फोर्मेशन देता है, जबकि नौकर अपने सेठ को कहता है कि मैं कल दफतर नहीं आउंगा, वहाँ नौकर अपने सेठ से परमिशन मांग रहा है। उसीप्रकार वैरागी को अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती। दीक्षार्थी तो मात्र यही सूचित करते हैं कि मुझे कहीं खोजना मत, मैं दीक्षा ग्रहण कर रहा हूँ। **जब जीव को संसार के क्षणिकपने का बोध होता है, तब संसार में उत्पन्न होनेवाली पर्याय में उस पर्याय का व्यय भी दिखाई देता है तथा व्यय होनेवाली पर्याय में नवीन पर्याय का उत्पाद भी दिखाई देता है। प्रत्येक पर्याय का स्वरुप सहज क्षणिक ही दिखाई देता है।**

ऐसे कितने ही लोग होते हैं, जिनका जन्म जिस अस्पताल में हुआ हो, उसी अस्पताल में उनकी मृत्यु भी हुई हो। जन्म और मरण के बीच में सारी दुनिया के चक्कर लगाकर वे अपने साथ क्या लेकर गये? मरने वाले की इच्छा तो यह थी कि उसके कमाये हुये रुपये उसके साथ जाये और किया हुआ पाप यहीं रह जाये। परन्तु उसकी इच्छा के विपरीत ही होता है। कमाया हुआ धन यहीं रह जाता है और बांधे हुये पाप उसके साथ जाते हैं।

चूंकि हिसाब करने पर परिणाम यह प्राप्त होता है कि **इस भव में किये पापरुप परिणाम में रच-पचकर इकठ्ठा किया हुआ कर्म ही उसका मुनाफा है और अमूल्य मनुष्य भव व्यर्थ में गंवाया वही उसका घाटा है।** संसार के क्षणिकपने का ज्ञान होते ही, वैराग्य का जोर बढते ही अनेक अज्ञानी मिलकर भी एक वैरागी को पलट नहीं सकते और राग का जोर बढने पर अनेक वीतरागी भगवान भी एक रागी को पलट नहीं सकते। **पत्थर का कलेजा करके मुनिधर्म को जीवन में अपनाना चाहिए। जो कमजोर हो गये उनके लिये यह वीतरागमार्ग नहीं है। एक बार चलना शुरु किया कि वापिस लौटने का कोई विकल्प नहीं। जो जागा, वो भागा। ओन्ली वन वे। नो रीटर्न टिकट।**

यह बात परम सत्य है कि निमित्त से कार्य नहीं होता, फिर भी वनविहारी भावलिंगी मुनिराज भी असद्निमित्तों को त्यागकर सद्निमित्तों में रहते हैं। ज्ञानी की श्रद्धा में निमित्त अकिंचित्कर होने के कारण वे संसार से अलिप्त रहकर निज आत्मा के नित्य स्वरुप को जानते हैं, अनुभव करते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी संसार के क्षणिकपने से प्रभावित नहीं होते।

यदि कोई कहे कि मुनि को वन में विचरण करने का ही आग्रह क्यों? ज्ञानी उसे कहते हैं कि मुनि कहाँ आग्रह रखते हैं? आहार के लिये ग्राम, नगर और शहर में नियमित काल की मर्यादानुसार आते हैं। आग्रह तो तुम रखते हो कि तुम्हें शहर में ही रहना है। तुम्हें मुनि के दर्शन करने के लिये या ज्ञान प्राप्ति के लिये वन में नहीं जाना है। मुनि तो मुनि के व्यवहार के लिये आते है, जबकि तुम्हें तो दर्शनरुप व्यवहार के लिये वन में नहीं जाना। सत्य यह है कि अज्ञानी की द्रष्टि में आग्रह होने से उसे साधुजन भी आग्रही लगते हैं, उसे मुनिदशा पालन करने योग्य नहीं लगती। जिसे क्षणिक का बोध होता है, उसे ही मुनिधर्म अंगीकार करने योग्य लगता है।

१८. अट्ठाईस मूलगुणों का स्वरूप एवं साधु की महिमा

साधु को शुभभाव से पहले शुद्धभाव होता है और शुभभाव के बाद में भी शुद्धभाव होता है। वहीं दूसरी ओर अज्ञानी को आत्मज्ञान के अभाव में शुभभाव से अशुभभाव होता है और शुभभाव के बाद में भी अशुभभाव होता है।

साधु छठवें-सातवें गुणस्थान में झुलते हैं। हर अंतर्मुहूर्त में शुभभाव से शुद्धभाव और शुद्धभाव से शुभभाव में परिवर्तन होता रहता है। साधु को अशुभभावों का तो अस्तित्व ही नहीं होता। **स्वयं को साधु मानने वालें जीवो को इस बात पर विचार करना चाहिए कि साधु हर अंतर्मुहूर्त में जिस शुद्धभाव में लीन होते हैं, ऐसा शुद्धभाव मुझे आजतक एक भी प्रकट हुआ है? तो फिर मैं स्वयं को किस कारण से साधु मान रहा हूँ?** साधु जिन २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करते हैं, उन मूलगुणों का स्वरुप इसप्रकार है।

१. अहिंसा महाव्रत : पांच प्रकार के स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा का पूर्णरुप से त्याग करना अहिंसा महाव्रत हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये तीनकषाय चौकडीरुप भावहिंसा का त्याग होने से साधु को अहिंसा महाव्रत का पालन सहज ही होता है।

हिंसा चार प्रकार की होती है। १. संकल्पी हिंसा, २. विरोधी हिंसा, ३. आरंभी हिंसा, ४. उद्योगी हिंसा। इन चार प्रकार की हिंसा में से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्द्रष्टी हो एक भी हिंसा का त्याग नहीं होता है। पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती श्रावक को मात्र संकल्पी हिंसा का त्याग होता है, अन्य तीन प्रकार की हिंसा का नहीं। छठवें-सातवें गुणस्थान में एवं उनके उपर के गुणस्थानों में चार में से किसी भी प्रकार भी हिंसा नहीं होती है। चारों प्रकार की हिंसा के त्यागी अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाले भावलिंगी साधु प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में निजात्मा के ध्यान में लीन होते हैं।

२. सत्य महाव्रत : स्थूल और सूक्ष्म समस्त प्रकार के असत्य वचन के त्याग करना सत्य महाव्रत है। सत्य स्वभावी निज शुद्धात्मा का आश्रय होने से साधु को असत्य बोलने का प्रसंग आने पर भी सत्य ही बोलते हैं। जगत के किसी भी परद्रव्य में अपनापन नहीं होने के कारण और अंतरंग परिणति की निर्मलता के कारण भावलिंगी साधु सत्य ही बोलते हैं।

भगवान आत्मा स्वभाव से ही त्रिकाल मौन है, त्रिकाल मौन भगवान आत्मा में प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में लीन होने वाले साधु ही मुनि है। मौन स्वभावी भगवान आत्मा के ध्यान में लीन होने वाले छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती साधु ही मुनि है।

असत्य बोलने में इन्द्रिय विषयों की चाह विशेष कारण है। साधु को संसार की इन्द्रिय विषयों की किसी भी प्रकार चाह न होने से असत्य बोलना ही नहीं होता। शास्त्र लिखते समय या प्रवचन देते समय सत्य महाव्रत के धारक मुनि असत्यार्थ व्यवहार का उपदेश देते हैं, असत्यार्थ का उपदेश सत्य महाव्रत के धारक साधु भी देते हैं। वे असत्यार्थ व्यवहार को असत्यार्थ ही निरुपित करते हैं, इसलिये असत्यार्थ का वर्णन करने पर भी सत्य महाव्रत में दोष नहीं लगता।

३. अचौर्य महाव्रत : अन्य चीजों की बात बहुत दूर, साधु मिट्टि और पानी भी बिना दिये ग्रहण करने के त्याग को अचौर्य महाव्रत कहते हैं। निश्चय द्रष्टि से दान देने में अपनी चीज को मैं दूसरों को दे रहा हूँ, ऐसा कर्तृत्वभाव पुष्ट होता है और चोरी करने में पराई चीज को मैं दूसरों से ले रहा हूँ। **दान देना पुण्य है और चोरी करना पाप है। परन्तु दान और चोरी दोनों में जो कर्तृत्वभाव पुष्ट होता है, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व संसार परिभ्रमण का मूल कारण है।**

निश्चयनय से निजात्मा के अतिरिक्त कहीं भी अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं है। जगत में कोई भी वस्तु किसी की होती ही नहीं है, ऐसा जानकर किसी भी वस्तु ले लेना या लेकर किसी अन्य को दे देना चोरी करना निश्चयाभास ही है। द्रव्य की स्वतंत्रता की यथार्थ श्रद्धा के बल से परिणति की निर्मलता के आधार पर साधु चोरी नामक पाप के सर्वथा त्यागी होते हैं।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत : साधु समस्त प्रकार से स्त्री संग का त्याग करते हैं, उसे ब्रह्मचर्य महाव्रत कहते हैं। वे अठारह हजार प्रकार के भेदरुप ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं। उन १८००० प्रकार के भेदों में १७२८० भेद चेतन सम्बन्धी और ७२० भेद अचेतन सम्बन्धी होते हैं। उन भेदों का संक्षिप्त स्वरुप इसप्रकार है।

चेतन स्त्री सम्बन्धी दोष : तीन (देवी, मनुष्य और तिर्यंच) के साथ, तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदना) से, तीन योग (मन, वचन, काया) से, पांच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) से, चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) सहित भाव एवं द्रव्य दोनों से, सोलह कषायों (अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, इन चारों कषाय भेदों को क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों से गुना करने पर) से, इसप्रकार 3x3x3x5x4x2x16 = 17280 भेद चेतन स्त्री से सम्बन्धित ब्रह्मचर्य के दोष हैं।

अचेतन स्त्री सम्बन्धी दोष : तीन प्रकार की अचेतन स्त्री के साथ (कठोर स्त्री, कोमल स्त्री, चित्रपट), तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदना) से, दो योग (मन, वचन) से, पांच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) से, चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) सहित भाव एवं द्रव्य दोनों से, इसप्रकार 3x3x2x5x4x2 = 720 भेद अचेतन स्त्री से सम्बन्धित ब्रह्मचर्य के दोष हैं।

एक आत्मा में लीन होने से प्रकट होने वाली परिणति की निर्मलता के बल पर साधु को १८००० भेदरुप ब्रह्मचर्य का पालन सहजरुप से होता है। साधु को १८००० भेदों के नाम भी याद नहीं हो, तो भी वे हर अंतर्मुहूर्त में ब्रह्मस्वरुपी चैतन्य स्वभावी आत्मा में स्थिर होते हैं, अतः ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारक होते हैं।

५. अपरिग्रह महाव्रत : चौदह प्रकार के अंतरंग और दस प्रकार के बाह्य, इसप्रकार कुल चौबीस परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

वीतरागी तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में जिन तत्त्वों का निरुपण हुआ था, साधु द्वादशांगी जिनवाणी को शास्त्रों में लिखते हैं। परन्तु शास्त्र

लिखने के बाद शास्त्रों को इकठ्ठा भी नहीं करते। शास्त्रों के पन्ने को एकत्रित करने कार्य भी गृहस्थ करते हैं। साधु तो शास्त्र लिखकर वहीं छोड देते हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि इतने मेहनत करके जिन शास्त्रों को लिखा, वे शास्त्र किसी गृहस्थ के पास पहुँचे ही नहीं तो शास्त्र लिखने का लाभ क्या हुआ?

हे परोपकार की भावना वाले परमात्मा!! क्या तुझे मालूम है? शास्त्र लिखने में भी साधु का स्वोपकार होता है। आशय यह है कि शास्त्र लिखते समय साधु के उपयोग का अशुभ में प्रवर्तन नहीं हुआ, शास्त्र लिखने के बाद भी साधु का उपयोग शुद्धभाव में स्थिर हुआ, अतः मुख्यरुप से तो शास्त्र लिखने का फल तो शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो यही है।

धन संचय करना तो बहुत दूर, धन के विकल्पों में उलझे, वे भी साधु नहीं हैं। साधु तो त्याग की मूर्ति होती है, साधु के त्याग का तात्पर्य मात्र वस्तुओं के त्याग से ही नहीं है, बल्कि वस्तु सम्बन्धी विकल्पों से है। त्यागोपादानशून्यत्व शक्तिसंपन्न भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति से है। क्योंकि अनादिकाल से आजतक भगवान आत्मा ने किसी भी परवस्तु को ग्रहण नहीं किया है। जो ग्रहण नहीं कर सकता, वो त्याग कैसे कर सकता है? अतः परवस्तु के त्याग का तात्पर्य परवस्तु के विकल्प का त्याग समझना चाहिए। निज भगवान आत्मा के आश्रय के बिना परवस्तु के विकल्प का त्याग हो ही नहीं सकता। इसलिये एकमात्र निजभगवान आत्मा ही शरण है, अन्य सर्व अशरण है।

शास्त्रों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। ऐसा तर्क देकर वे अपना बचाव करते हुए कहते हैं कि हमें वस्त्रों के प्रति ममत्वभाव नहीं है, इसलिये हम वस्त्रादि रख सकते हैं। उन्हें इस बात की ओर खास ध्यान देना चाहिए कि **चौबीस परिग्रह में वस्त्र को भी परिग्रह कहा है।**

१४ अंतरंग परिग्रह : १. मिथ्यात्व २. क्रोध ३. मान ४. माया ५. लोभ ६. हास्य ७. रति ८. अरति ९. शोक १०.भय ११. जुगुप्सा १२. स्त्रीवेद १३. पुरुषवेद १४. नपुंसकवेद

१० बहिरंग परिग्रह : १. धन २. धान्य ३. दास ४. दासी ५. सोना ६. चांदी ७. मकान ८. खेत ९. बर्तन **१०. वस्त्र**

योगसार में कहा है।

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते।
चित्तशुद्धि बिना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः।।८-३५।।

अर्थ : यदि एक भी परिग्रह नहीं छूटता है, तो चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्तशुद्धि के बिना किसी भी साधु की कर्मो से मुक्ति नहीं होती।

उपरोक्त परिग्रहों में वस्त्र को परिग्रह कहा है, परन्तु स्वयं के शरीर को परिग्रह नहीं कहा है। वस्त्र का परिग्रह रखने से एक वस्त्र को बदलकर दूसरा वस्त्र पहिनने के लिये परिग्रह रखना पडता है, वस्त्र को धोने के लिये साबून, पानी, आदि परिग्रह की आवश्यकता पडती है, वास्तव में साधु के पास घागे मात्र का भी परिग्रह नहीं होता है, अपरिग्रही साधु वस्त्र रहित होते हैं, याद रहे, मिथ्यात्व सबसे पहिला परिग्रह है, इसलिये मिथ्यात्व रहित हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन के बिना साधु पद अंगीकार नहीं होता।

६. ईर्या समिति : साधु सूर्योदय के एक मुहूर्ते पश्चात् और सूर्यास्त के एक मुहूर्त पूर्व दिन में ही सावधानीपूर्वक आगे की चार हाथ जमीन देखकर चलने का भाव आता है, उसे ईर्या समिति कहते हैं।

संसार में ख्याति-प्रसिद्धि का विकारी भाव ही मुनिदीक्षा के पश्चात् भी जीव को सांसारिक सम्बन्धों से दूर नहीं होने देता। भावलिंगी साधु को ख्याति का लोभ नहीं होने से निर्दोष मुनिदशा का पालन कर सकते हैं। आत्मख्याति का अनुभव करने के बाद संसार के अन्य जीवों के सामने अपनी महानता बताने का भाव ही छूट जाता है। क्योंकि किसके सामने अपनी महानता बताकर अहंकार का पोषण करे? सभी जीव परमात्मा है। एक परमात्मा दुसरे परमात्मा के साथ अहंकार कैसे कर सकते है? **ज्ञानी स्वयं को और जगत के समस्त जीवों को परमात्मा जानते है और मानते हैं।**

जब मुम्बई जैसी मोहमयी नगरी में महाराज साहब आते हैं, तब उन्हें कहे कि इतने ट्राफिक में गाडियों से अपने को बचाने के लिये गाडियों को देखोगे या नीचे चार हाथ जमीन देखकर इर्या समितिपूर्वक चलोगे? इसलिये आगम में लिखा है कि साधु वनविहारी होते हैं, शहर के निवासी नहीं हो जाते। परन्तु हम क्या कर सकते हैं? सभी जीव अपनी मतिकल्पना से ही तत्त्व को ग्रहण करते हैं। वे कहते है कि हमें मालूम है कि श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा है कि मुम्बई तो स्मशान है। उन्होंने ही अपूर्व अवसर में यह लिखा है कि साधु स्मशान में विचरते हैं। इसलिये हम मुम्बई जैसे स्मशान में विचरते हैं। परन्तु आप जरा गम्भीरता से विचार कीजिये क्या श्रीमद् राजचन्द्र जी ने साधुओं को मुम्बई में वास करने के लिये उक्त बातों का निरुपण किया था? दो भिन्न-भिन्न कथनों को अपनी तर्क-बुद्धि से जोडने से मिथ्यात्व छूट नहीं जाता, बल्कि और भी घनीभूत हो जाता है।

साधु का विहार : एक रहस्य

साधु को संसारीजनों के सम्बन्ध में जानने की उत्कंठा नहीं होती, क्योंकि ऐसे विकल्प तीव्र राग के अस्तित्व के चिन्ह है। जिन्हें अपने भूतकाल के परिवारजनों के विकल्प भी दुःखरुप लगे हो, उन्हें अन्य जीवों के परिवारजनों की जानकारी इकट्ठी करने से क्या लाभ है? अप्रयोजनभूत जानकारी इकट्ठी नहीं हो जाये इसलिये तो साधु विहार करते हैं।

गति का नाम धर्म एवं स्थिति का नाम अधर्म ऐसा जानकर अज्ञानी एक स्थान से दुसरे स्थान पर गति करते रहते हैं, परन्तु आत्मा में परिणति की निर्मलता गतिशील है या नहीं इस बात की ओर ध्यान ही नहीं जाता। परिणाम स्वरुप संसार परिभ्रमण की गति रुकती नहीं है, चारगति में भटकना अटकता नहीं है।

त्रिकाल चैतन्य स्वभाव में स्थित भगवान आत्मा के आश्रय के बिना पर्याय की निर्मलता को गति नहीं मिल सकती। जब साधु विहार करते हैं तब भी साधु को ऐसी जागृति होती है कि मैं भगवान आत्मा चैतन्यपने को छोडकर रागरुप परिणमित नहीं होता हूँ। शरीर से एक-एक कदम जैसे-जैसे आगे बढता है, तब यह धारा बहती रहती है कि भले ही शरीर ने कदम आगे

बढाया, परन्तु आत्मा ने चैतन्यपने से एक कदम भी आगे रागादि विकल्प की ओर कदम नहीं बढाया। मैंने तो आजतक एक कदम भी आगे नहीं बढाया।

जिसप्रकार साधुजन रात्रि में भोजन नहीं करते, उसीप्रकार साधुजन रात्रि में विहार भी नहीं करते। सूर्योदय होने के एक मूहुर्त या दो घडी अर्थात ४८ मिनिट पश्चात् एवं सूर्यास्त होने के एक मूहुर्त अर्थात् ४८ मिनिट पहले ही साधुजनों का आहार एवं विहार होता है। उत्कृष्ट चारित्र के धारक साधु सूर्योदय के तीन मूहुर्त पश्चात् एवं सूर्यास्त के तीन मूहुर्त पूर्व आहार लेते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्षाकाल में साधुजनों का एक स्थान पर वास होने की अनुमति प्राप्त है, लोक में मानी जाने वाली निश्चित तिथियों के अनुसार नहीं। **साधु की द्रष्टि समय पर नहीं होती, बल्कि समयसार पर होती है, निज भगवान आत्मा पर होती है।**

साधु विहार अवश्य करते हैं, परन्तु किसी स्थान को लक्ष्य बनाकर विहार नहीं करते हैं। वे तो जिस स्थान पर वर्तमान में स्थित है, उस स्थान को छोड देते हैं। साधु पुरुष वर्षाकाल को छोडकर बडें शहर में अधिक से अधिक सात दिन, नगर में पांच दिन और गाँव में तीन दिन ही ठहर सकते हैं।

विज्ञान भी इस बात का स्वीकार करने लगा है कि किसी अनजान स्थान पर तीन से सात रात तक नींद नहीं आती। जब किसी स्थान पर सात रात से अधिक ठहरे, तो किसी आसन पर नींद आ जाती है। यही कारण है कि साधु एक स्थान पर तीन से सात दिन के अधिक नहीं रहते हैं।

जो साधु महिनों पहले ही अपने चातुर्मास की घोषणा करते हो, चातुर्मास की बोली होती हो, उन्हें साधु कैसे कह सकते हैं? किसी निश्चित स्थान पर जाने की इच्छा नहीं होने से मुनिजनों को विकल्प एवं आकुलता नहीं होती है। किसी न किसी सुनिश्चित स्थान पहुँचने की आकांक्षा के कारण सूर्योदय होने से पहले और सूर्यास्त होने के बाद भी अन्धेरे में विहार करने वालें जीवों ने वीतरागी भगवान द्वारा मुनिधर्म का यथार्थ स्वरुप नहीं समझा है। अधिक तीव्र गति से विहार करने वाले महान साधु नहीं होते, बल्कि ईर्या समितिपूर्वक चलना साधु का व्यवहार होता है।

चार पहिये वाली कुर्सी में बैठकर विहार करने में साधु की इर्या

समिति का पालन कैसे हो सकेगा? यदि शरीर में अशक्ति हो, तो आगम में एक स्थान पर ही रहने की आज्ञा है। आज के जमाने में चार पहिये वाली कुर्सी से विहार प्रारम्भ हो गया, तो साईकिल पर भी होगा, इसी का नाम पंचमकाल है। कभी-कभी तो ऐसा ही दिखाई देता है कि महाराज साहब को राग न हो जायें, इसलिये वे विहार नहीं करते, बल्कि वे तो आगामी स्थानों पर जाने के लिये होने वाले तीव्र राग के विकल्पों की पूर्ति करने के लिये विहार करते हैं। **अज्ञानता ही झूठी प्रवृत्तियाँ फैलने का मूल कारण है और चैतन्य स्वभावी आत्मा का आश्रय ही मोक्षमार्ग पर चलने का आधार है।**

७. भाषा समिति : हित, मित और प्रिय वचन बोलने का भाव उत्पन्न होता है, उसे भाषा समिति कहते है।

साधु तो विहार के समय मौन लेकर चलते हैं। तभी तो एकाग्रता से देखकर इर्या समिति का पालन होगा। याद रहे, **साधु को मौन लेकर विहार करने में मेहनत नहीं करनी पडती। चैतन्य स्वभाव के आश्रय से तीन कषाय चौकडी के अभाव से साधु परिणति निर्मलता ऐसी होती है कि उन्हें चलने के साथ-साथ बोलने का विकल्प भी नहीं उठता हैं।**

साधु के द्वारा सहजरुप से समाज का हित हो जाये, यह अलग बात है, परन्तु समाज हित करने के लिये ही साधु नहीं होना चाहिए। उसमें समाज का हित होगा या नहीं, हम नहीं जानते। परन्तु समाज हित के लिये साधुपद अंगीकार करने वाला जीव साधु पद का अनादर करता है। निज परमात्मा का अनादर करता है। हे चैतन्य स्वभावी शुद्धात्मा! भूतकाल में अनन्त भवों में तुझे निज आत्मा का हित करने का विचार ही नहीं आया है, पर का ही हित करने का भाव आया है, यह भाव ही तो संसार परिभ्रमण का कारण बना है। अब तो **एक मात्र चैतन्य स्वभावी निज आत्मा की साधना केलिये ही इस मनुष्य जीवन को समर्पित कर देना चाहिए।**

८. एषणा समिति : छियालिस प्रकार के दोष रहित आहार आत्मा की परिणति की शुद्धि के लक्ष्य से निश्चित रसों का त्याग करके आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। छियालिस प्रकार के दोषों का वर्णन अनगार धर्मामृत और मूलाचार आदि आगमों से जान लेना चाहिए।

चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से साधु विधिवत् आहारादि न मिलने पर क्षण भर के लिये भी विचलित नहीं होते हैं। साधु तो चैतन्य रस के अमृत का रसपान करते हैं।

याद रहे, **उत्तम श्रावक के द्वारा नवधा भक्तिपूर्वक आहार देने पर ही साधु आहार ग्रहण करते हैं, नवधा भक्ति का सामान्य स्वरुप इसप्रकार है।**

१. संग्रह : पधारो, पधारो, यहाँ शुद्ध आहार-पानी है इत्यादि शब्दों द्वारा भक्ति सत्कारपूर्वक मुनि को आवकार देना। **२. उच्चस्थान** : उन्हें उच्चे स्थान पर आसन ग्रहण कराना। **३. पादोदक** : गरम किये हुए शुद्ध जल से उनके चरण धोना। **४. अर्चन** : उनकी भक्ति-पूजा करना। **५. प्रणाम** : मुनि को नमस्कार करना। **६. मनःशुद्धि** : मन की शुद्धि का अर्थ विचार एवं अभिप्राय की शुद्धि होना। **७. वचनशुद्धि** : वचन शुद्धि अर्थ प्रयोजनभूत प्रिय वचन होने चाहिए। **८. कायशुद्धि** : शरीर की शुद्धि को काय शुद्धि कही है। **९. एषणाशुद्धि** : दोष रहित निर्दोष आहार।

९. आदान-निक्षेपण समिति : मल-मूत्रादि का त्याग करने के बाद शरीर की शुद्धि के लिये कमंडल और जीवों की रक्षा के लिये संयम साधन पींछी और ज्ञान के साधन शास्त्र को सावधानीपूर्वक देखकर उठाते है और रखते हैं, उसे आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं।

शरीर की आदान-निक्षेपणरुप क्रियाओं से भिन्न भगवान आत्मा प्रत्येक क्रिया को मात्र जानता-देखता है, बल्कि कर्ता नहीं होता है। **निश्चय से आत्मा किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता और त्याग भी नहीं कर सकता, ऐसी त्यागोपादानशून्यत्व शक्तियुक्त भगवान आत्मा के आश्रय से वीतराग परिणति प्रकट होना ही आदान-निक्षेपण समिति है।**

१०. प्रतिष्ठापन समिति : साधु शरीर के मल-मूत्रादि मैल को जीव-जन्तु स्थान रहित सूखी जमीन पर त्याग करते है, उसे प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं। किसी पात्र में मल-मूत्रादि का संग्रह करके रास्ते पर मल-मूत्रादि विसर्जित करना योग्य नहीं है। बडे-बडे शहरों में रास्ते पर मल-मूत्रादि छोडने वाले लोग नीति का पालन नहीं कर रहे है, तो मुनिदीक्षा का पालन

करना तो बहुत दूर की बात है। शहर के जीवों का आत्महित करने के लिये शहर में रहकर स्वयं के मूलगुण में साधु दोष नहीं लगने देते। साधु के द्वारा समाज का हित होता है, परन्तु स्वयं के मूलगुण को पालन छोडकर समाज का हित करने के लिये साधु शहरी जीवन जीने नहीं लगते।

वास्तव में मल-मूत्रादि शरीर का मैल है, जबकि रागादिभाव आत्मा का मैल है। **निश्चय से भावलिंगी साधु रागादिभावरुपी मैल को वन में, गुफा में गृहस्थों की संगति से दूर रहकर विसर्जित करते हैं, वह प्रतिष्ठानपन समिति हैं।**

तीन गुप्ति : पांच समिति और तीन गुप्ति में सूक्ष्म द्रष्टि से देखने पर बहुत बडा अन्तर है। पांच समिति शुभभावरुप है, जबकि तीन गुप्ति शुद्धभावरुप है। मुनिराज के २८ मूलगुण शुभभावरुप होने से अठ्ठाईस मूलगुणों में तीन गुप्ति का समावेश नहीं होता है। जगत में पाप के विचार नहीं करना उसे मनगुप्ति, नहीं बोलने का नियम लेकर चुप रहना उसे वचन गुप्ति और एक स्थान स्थिर होना उसे काय गुप्ति कहते हैं। निश्चय से चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में गुप्त होना अर्थात् निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रकट होना ही गुप्ति है। निर्विकल्प आत्मस्थिरता के काल में मन, वचन और काया की चेष्टा सहजरुप से रुक जाती है उसे व्यवहार गुप्ति कहते हैं।

११. स्पर्शनेन्द्रिय विजय : स्पर्श स्वभाव से भिन्न चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पुदगल द्रव्य के स्पर्श गुण की आठों पर्यायों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें छूट जाना, उसे स्पर्शनेन्द्रिय विजय कहते हैं। पुदगल के स्पर्श को जानने में आसक्ति नहीं होने से साधु को स्पर्श के ज्ञान में चैतन्यस्वभाव जानने में आता है, अत: पौदगलिक स्पर्श के ज्ञान में भी इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें नहीं होती है।

१२. रसनेन्द्रिय विजय : रस स्वभाव से भिन्न चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पुदगल द्रव्य के रस गुण की पांचो पर्यायों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें छूट जाना, उसे रसनेन्द्रिय विजय कहते हैं। पुदगल के रस को जानने में आसक्ति नहीं होने से साधु को रस के ज्ञान में चैतन्यस्वभाव जानने में आता है, अत: पौदगलिक रस के ज्ञान में भी इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें नहीं होती है।

१३. घ्राणेन्द्रिय विजय : गंध स्वभाव से भिन्न चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पुदगल द्रव्य के गंध गुण की दोनों पर्यायों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें छूट जाना, उसे घ्राणेन्द्रिय विजय कहते हैं। पुदगल की गंध को जानने में आसक्ति नहीं होने से साधु को गंध के ज्ञान में चैतन्यस्वभाव जानने में आता है, अतः पौदगलिक गंध के ज्ञान में भी इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें नहीं होती है।

१४. चक्षुरिन्द्रिय विजय : वर्ण स्वभाव से भिन्न चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पुदगल द्रव्य के वर्ण गुण की पांचो पर्यायों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें छूट जाना, उसे चक्षुरिन्द्रिय विजय कहते हैं। पुदगल के रंग को जानने में आसक्ति नहीं होने से साधु को रंग के ज्ञान में चैतन्यस्वभाव जानने में आता है, अतः पौदगलिक रंग के ज्ञान में भी इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें नहीं होती है।

१५. कर्णेन्द्रिय विजय : शब्दरुप ध्वनि से भिन्न चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पुदगल द्रव्य की भाषा वर्गणा के टकराने से उत्पन्न होने वाले ध्वनि में इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें छूट जाना, उसे कर्णेन्द्रिय विजय कहते हैं। पौदगलिक ध्वनि को जानने में आसक्ति नहीं होने से साधु को ध्वनि के ज्ञान में चैतन्यस्वभाव जानने में आता है, अतः पौदगलिक ध्वनि के ज्ञान में इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें नहीं होती है।

इसप्रकार इन्द्रियों के निमित्त से जानने में आने वाले प्रत्येक ज्ञेय को जानने के काल में मुनि को ज्ञान जानने में आता है। आचार्य शिवकोटि भगवती आराधना में कहते हैं कि उन्मार्ग में जाने वालें दुष्ट घोडों का जिस प्रकार लगाम लगाने पर निग्रह हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की भावना से इन्द्रियरुपी घोडे वश में कर लिये जाते हैं।

१६. सामायिक : समता धारण करने का नाम सामायिक है। शरीर की क्रिया करने का नाम सामायिक नहीं है, बल्कि आत्मा के परिणामों में राग-द्वेष रहित वीतराग परिणति प्रकट होना निश्चय सामायिक है। मुख्यरुप से मुनि को और गौणरुप से सम्यग्द्रष्टी को ही सामायिक होता

है। मिथ्याद्रष्टी को चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय नहीं होने से वास्तविक सामायिक नहीं होता है।

१७. वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की स्तुति : वीतरागी मुनि को भी उस भूमिका में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की स्तुति करने का भाव आता है। अत: एक मात्र ज्ञान का आग्रह रखकर जो लोग स्तुति-भक्ति आदि की अनुपयोगीता बताते हैं, उन्हें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि अपूर्ण दशा में ज्ञानियों को भी स्तुति करने के शुभभाव आये बिना रहते नहीं है। ज्ञानियों को ऐसे शुभभाव लाने नहीं पडते, बल्कि सहज ही आते हैं।

१८. जिनेन्द्र भगवान को वन्दन : चैतन्य स्वभाव की अनुभूति के फल में सुख का रसपान करने वाले साधु के लिये अनन्त सुख को प्राप्त ऐसे जिनेन्द्र भगवान ही आदर्श है, अत: उन्हें जिनेन्द्र भगवान के वन्दन करने के भाव भी सहज आते हैं। इसलिये **अज्ञानी जीवों को स्वयं को परिपूर्ण बोलकर स्वच्छन्दी होकर जिनदर्शन करने का निषेध नहीं करना चाहिए। परिणामों की निर्मलता को लक्ष्य में रखकर देवदर्शनादि कार्य होने चाहिए।**

१९. स्वाध्याय : निश्चय से आत्म के ज्ञान में स्थिर होना ही स्वाध्याय है। व्यवहार में साधु को शास्त्र पढने-लिखने के भाव सहज ही आते हैं। क्योंकि मुनि अवस्था ध्यान और स्वाध्याय ये दो कार्य ही मुख्यरुप से होते हैं। स्वरुप की स्थिरता न रहने के काल में साधु चैतन्य स्वभाव का चिन्तन-मनन करते हैं। कदाचित् साधु को शास्त्र लिखने का भाव भी आ जाये, तो शास्त्र लिखकर वहीं छोड देते हैं, परन्तु उठा-उठाकर घूमते नहीं है।

२०. प्रतिक्रमण : संज्वलन कषाय चौकडी के उदय से आत्मा में जो अशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन दोषों से भिन्न चैतन्यस्वभाव त्रिकाल भिन्न है, ऐसे तत्त्वचिन्तन के रुप में साधु प्रतिक्रमण करते हैं। वर्तमान पर्याय की अशुद्धि के कारण साधु स्वयं को अशुद्ध नहीं मान लेते। वे पर्याय अशुद्धि के दोषों का स्वीकार तो करते हैं, परन्तु अशुद्ध पर्याय की अनित्यता और चैतन्य स्वभाव की नित्यता के भेदविज्ञान के बल पर साधु को ही वास्तविक प्रतिक्रमण होता है।

२१. कायोत्सर्ग : शरीर की ममता का त्याग होने से साधु को सहज ही कायोत्सर्ग होता है। सीधे हाथ रखकर खडे हो जाने मात्र का नाम कायोत्सर्ग नहीं है। जब स्तुति आदि आवश्यको का पालन करते-करते परिणाम ऐसे निर्मल हो जाते हैं कि उपयोग चैतन्य स्वभाव में लीन हो जाता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। **पूजा करने के बाद नव बार णमोकार मंत्र का पाठ करके कायोत्सर्ग करने का नाम कायोत्सर्ग नहीं है। वह कायोत्सर्ग तो इस बात का प्रतीक है कि पूजनादि के फल में ज्ञानी सहज ही कायोत्सर्ग की मुद्रा में आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं।**

२२. अस्नानव्रत : मुनि स्नान नहीं करते है, उसे अस्नानव्रत कहते हैं। मांस को मल-मल कर धोने पर भी मांस तो मांस ही रहता है। शरीर के अशुचिपने के तत्त्वचिन्तन के बल पर मुनि को स्नान करने का विकल्प ही नहीं उठता। साधु स्नान तो नहीं करते, साथ ही कपडे से शरीर को साफ भी नहीं करते। खास बात तो यह है कि आत्मा की निर्मलता की अनुभूति से परिणति ऐसी निर्मल हो जाने पर साधु को सहज ही अस्नानव्रत का पालन होता है।

२३. अदंतधोवन : मुनि दांत साफ नहीं करते हैं, उसे अदंतधोवन कहते हैं। चैतन्य अमृतपान करने वाले मुनि को दांत साफ करने का विकल्प सहज ही उत्पन्न नहीं होता। दांत साफ न करने से मुँह में से दुर्गंध आती है, फिर भी साधु को सुगंध और दुर्गंध के भेदों में एक अभेद ज्ञान की अनुभूति होने से साधु को अदन्तधोवन मूलगुण का सहज ही पालन होता है।

२४. नग्नता : चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वांग स्वरुप देख लेने के बाद साधु को शरीर को घागे मात्र के परिग्रह से ढंकने का भाव उत्पन्न नहीं होता। जिन लोगों को महावीर भगवान की साधु दशा में यथार्थ नग्नता दिखाने में शर्म आती हैं, इसलिये वे मुनिराज महावीर के नग्न चित्र में भी बीच में पेड का थड रखकर नग्नता को ढंकने का प्रयास करते हैं। जिन्हें स्वयं को ही भगवान महावीर की नग्नता ढंकने में शर्म आती हो, वह भगवान महावीर जैसी नग्न दिगम्बर मुनिदीक्षा कैसे अंगीकार करेगा? जहाँ शर्म है, वहाँ धर्म कहाँ?

भगवान महावीर नग्नता तो उन्हें दिखाई देती हैं, परन्तु भगवान महावीर की निर्दोषता की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता हैं। उन्होंने नग्न होकर सारे जगत के लोगों को मौन रहकर भी यह समझा दिया कि हे मानवो! बिना वस्त्र का अपरिग्रही जीवन भी जिया जा सकता है। अतः तुम्हारे वस्त्रों का कोई मूल्य नहीं रहा। और हाँ, महावीर भगवान ने नग्न होकर यह भी दिखाया कि तुम जिस शरीर को बचपन से ढांकते आये हो, उस शरीर में इस शरीर से विशेष है ही क्या? तुम्हें शरीर को बचाने के विचार निरंतर आते है, परन्तु तुम्हें अपने परिणामों को बचाने का विकल्प एक क्षण के लिये आता है? **क्या तूने शरीर से रहित त्रिकाल चैतन्य स्वरुप तेरा अस्तित्व है, ऐसा विचार भी किया है?**

हे जीव! हे तीन लोक के नाथ परमात्मा! निज चैतन्य स्वरुप के ज्ञान, श्रद्धान एवं अनुभव से दूर होता हुआ, शरीर की चिन्ता में ही मग्न रहता है। हे चैतन्य स्वभावी शुद्धात्मा! तू याद रख! शरीर को आवरण सहित रखने का भाव एवं आवरण सहित रखना ये दोनों ही संसार है। आत्मा का रागादि विकारी भावकर्मो, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मो एवं शरीरादि नोकर्मो से रहित होना ही मोक्ष है।

साधु को वस्त्रादि परिग्रह नहीं होने की पुष्टी करते हुए **पद्मनंदि पंचविंशति में धर्मोपदेशामृत के ४१ वें श्लोक में लिखा है,** कि वस्त्र के मलिन हो जाने पर उसके धोने के लिये जल एवं सोडा-साबून आदि का आरंभ करना पडता है, और इस अवस्था में संयम का घात होना अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त उस वस्त्र के नष्ट हो जाने पर महान पुरुषों का भी मन व्याकुल हो उठता है, इसलिये दूसरों से उसको प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करनी पडती है। यदि दूसरों के द्वारा केवल लंगोटी का ही अपहरण किया जाता है, तो झट से क्रोध उत्पन्न होने लगता है। इसी कारण से मुनिजन सदा पवित्र एवं रागभाव को दूर करने वाले दिशामण्डलरुप अविनश्वर वस्त्र का आश्रय लेते हैं।

उपरोक्त श्लोक में प्रयुक्त **दिशामण्डलरुप अविनश्वर वस्त्र** का आशय यह है कि साधु का स्वरुप दिगम्बर ही होता है। नग्नता के बिना सर्वथा अपरिग्रही होना सम्भव ही नहीं है। वस्त्र सहित दीक्षा पालन करने

वाले को इस बात पर विशेष सोचने योग्य है कि क्या आगमों में कपडे के चप्पल पहिनकर भी दीक्षा पालन करने की अनुमति दी गई है? जिसप्रकार चप्पल पहिनकर दीक्षा पालन करने वाला शिथिलाचारी माना जाता है, उसी प्रकार वस्त्र-पात्र-दण्डादि परिग्रह सहित दीक्षा पालन करने वाला भी शिथिलाचारी ही है, उन्हें मुनि कैसे माना जा सकता है?

आचारंग सूत्र में कहा है। (२०९)

जो साधु अचेल रहता है, उसे यह चिन्ता नहीं होती कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया, मैं वस्त्र की याचना करुंगा। उसे सीने के लिये धागा और सुई की याचना करुंगा। उसे सीऊंगा।

मुनि बाईस परिषहों को सहते हैं। उन बाईस परिषहों में नग्नता भी एक परिषह है। इस बात को समझने के लिये आगे बाईस परिषह के प्रकरण पर विशेषरुप से अध्ययन करना चाहिए।

निरुक्त में नाग्न्य का अर्थ इसप्रकार किया है।

यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमुचिरे।
यः सर्वसंग सन्त्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः।।

अर्थ : जो सर्व परिग्रह से रहित है, उसे नग्न कहते है। यहाँ जो सर्व परिग्रह से रहित हो, उसे नग्न कहा है।

दु:ख की बात है कि परवर्ती शिथिलाचारी टीकाकारों ने अल्प वस्त्रधारी को भी नग्न कहकर नग्नता का वास्तविक स्वरुप ही बदल दिया। इसी का नाम पंचमकाल है।

आचारंग सूत्र (१८५) में भी मुनि की नग्नता को सिद्ध करते हुए कहा है।

चेच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे फासे समित्तदंसणे।
एते भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो।। १८५ ।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन सम्पन्न मुनि सब प्रकार की शंकाएँ छोडकर दु:ख स्पर्शो को समभाव से सहे। हे मानवो! **धर्ममार्ग में उन्हें ही नग्न कहा गया है, जो मुनिधर्म में दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते।**

२५. भूमिशयन: मुनि रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक करवट पर जमीन पर ही कुछ ही काल के लिये सोते है, उसे भूमिशयन कहते हैं। बाह्य में मुनि एक करवट पर सोते हैं, अंतरंग में द्रव्य की करवट पर जागते रहते हैं।

मुनि की आत्मजागृति पुष्टि करते हुए आचारंग सूत्र के तृतिय अध्याय में सूत्र १०६ में लिखा है।

सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति।

अर्थ : अमुनि सदा सोये हुए हैं, मुनि सदैव जागते रहते हैं।

वहीं लिखा है - विवेचन: **यहाँ मुनि शब्द सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्द्रष्टि एवं मोक्षमार्ग साधक के अर्थ में प्रयुक्त है।**

२६. एकबार आहार: चैतन्यस्वभाव की स्थिरता के बल पर पंचेन्द्रिय विषयभोगों से विरक्त वीतरागी मुनि दिन में एक ही बार आहार लेते हैं, उसमें प्रतिदिन आहार लेने का नियम नहीं है, वे अपनी शक्ति अनुसार अनेक दिनों तक अनशन भी करते हैं। जिस प्रकार रात्रिभोजन का त्याग करने में भोजन का ही नहीं, पानी का भी त्याग गर्भित ही है। उसी प्रकार एक ही बार भोजन लेते हैं, इस कथन में एक ही समय पानी पीते हैं, ऐसा भाव है।

२७. खडे-खडे करपात्र में आहार : कर पात्र में आहार नहीं लेने के कारण उन्हें अनेक प्रकार पात्रों को संग्रहीत करके रखना पडता हैं, उन्हीं पात्रों की सुरक्षा एवं साफ-सफाई करनी पडती है। पात्र की देखरेख करने में अपना बहुत सारा समय व्यर्थ में ही गंवाने वाले जीव सम्यग्दर्शन के लिये भी पात्र नहीं होते, तो मुनिधर्म तो अतिदूर है।

२८. केशलोंच : मुनिदीक्षा अंगीकार करते समय स्वयं ही केशलोंच किया जाता है। जिस प्रकार किसी अन्य व्यक्ति का धन दान में देने का अधिकार हमारा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने धन का दान दे सकता है। उसी प्रकार एक साधु अन्य साधु का केशलोंच नहीं करते। **चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा हूँ, ऐसी द्रढ श्रद्धा एवं तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक वीतराग परिणति के बल पर मुनि स्वयं ही केशलोंच करते हैं।**

इसप्रकार साधु २८ मूलगुणों का पालन करते हैं। भावलिंगी साधु ही नहीं, द्रव्यलिंगी मिथ्याद्रष्टी साधु भी इन २८ मूलगुणों का पालन करते हैं। अब, भावलिंगी और द्रव्यलिंगी साधु के स्वरुप पर विचार करते हैं।

१९. भावलिंगी साधु और द्रव्यलिंगी साधु : रहस्य

जिस पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है, ऐसे अरिहंत पद प्राप्त होने का इस क्षेत्र पर इस काल में जैन आगमों में निषेध किया है। वहाँ जिनकल्पी अरिहंत और स्थविरकल्पी अरिहंत ऐसे दो भेद नहीं किये। **पंचमकाल एवं चतुर्थकाल में मुनियों २८ मूलगुणों के पालन में कोई भेद नहीं होता है। इतना अवश्य है कि इस कलिकाल में भावलिंगी साधु योग अत्यंत दुष्कर होता है, क्योंकि वे ख्याति-प्रसिद्धि में नहीं उलझकर किसी गुफा में एकांत में वास करते हैं।** शिथिलाचारी जीवों ने निज कल्पना को भगवान के वचन के नाम से ऐसे स्थापित कर दी कि आज वही कल्पना वास्तविक धर्म मानी जाने लगी, इसीलिये तो इसे पंचमकाल कहा। **मुनिधर्म का स्वरुप अनेकरुप हो जाये, उसका नाम पंचमकाल नहीं है। परन्तु जब कल्पित विचारों से लोक में मुनिधर्म का स्वरुप अनेकरुप माना जाता हो, उसका नाम पंचमकाल है।**

द्रव्यलिंगी साधु के बाह्य आचरण को देखकर छठवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी साधु भी सविनय नमस्कार करते हैं। परन्तु जब दोनों के बीच चर्चायें होती हैं, तब दोनों का व्यवहार बदल जाता हैं। भावलिंगी साधु, द्रव्यलिंगी साधु को नमस्कार न करके आशीर्वाद देते हैं और द्रव्यलिंगी साधु, भावलिंगी साधु को गुरु मानकर सर्वप्रथम किये गये नमस्कार से भी अधिक अहोभाव से नीचे झुककर नमस्कार करते हैं।

याद रहे, जब पहली मुलाकात में तो भावलिंगी साधु भी द्रव्यलिंगी साधु का यथायोग्य विनय करते हैं। तब मिथ्याद्रष्टी गृहस्थ को द्रव्यलिंगी साधु का यथायोग्य विनय करने का भाव नहीं आता, तो उसने अपने

अहंकार को ही नहीं छोडा है। परन्तु यहाँ खास बात तो यह है कि **द्रव्यलिंगी साधु के दर्शन भी इस भूमि पर अभी दुर्लभ हो गये हैं। क्योंकि भावलिंगी साधु जैसा बाह्य में २८ मूलगुणों का पालन होता है, ऐसा ही बाह्य आचरण द्रव्यलिंगी मुनि का होता है। यदि एक भी मूलगुण का पालन करने में दोष उत्पन्न होता हो, तो उन्हें द्रव्यलिंगी साधु भी नहीं कहते है, ऐसा जैन आगमों में स्पष्ट लिखा है।**

अतः हे जीव! व्रतादि क्रियाओं में संतुष्ट होकर मनुष्य जीवन को व्यर्थ में नहीं गंवाना चाहिए। परमात्मा होने से पहिले परमात्मा का स्वरुप जान लो। मुनि होने से पहिले मुनि का स्वरुप तो जान लो। सम्यग्दर्शन प्रकट करने से पहिले सम्यग्दर्शन का स्वरुप जान लो। आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करने से पहिले आत्मा और निर्विकल्प अनुभूति का यथार्थ स्वरुप जान लो।

प्रत्येक साधक को यह ज्ञान होना चाहिए कि सभी द्रव्यलिंगी साधु मिथ्याद्रष्टी नहीं होते हैं। द्रव्यलिंगी साधु भी अनेक प्रकार के होते हैं। जो भावलिंगी साधु होते हैं, वे नियम से द्रव्यलिंगी होते ही है, अतः उनके लिये द्रव्यलिंगी शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। जैसा कि जो लखपति होता है, वह करोडपति नहीं हो, ऐसा हो सकता है। परन्तु जो करोडपति होता है, वह लखपति तो नियम से होता ही है। करोडपति को लखपति कहने की आवश्यता नहीं होती। ऐसे ही जो द्रव्यलिंगी साधु होते हैं, वे भावलिंगी नहीं हो, ऐसा हो सकता है। परन्तु जो भावलिंगी साधु होते हैं, वे द्रव्यलिंगी तो नियम से होते ही हैं। भावलिंगी साधु को द्रव्यलिंगी साधु कहने की आवश्यकता नहीं होती। यह स्वरुप अच्छी तरह से जान लेना चाहिए।

प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का पालन करते हैं, परन्तु वे निर्विकल्प स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्प आत्मानुभूति से रहित होने से मिथ्याद्रष्टी होते हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का पालन करते हुए सम्यग्दर्शन सहित अनन्तानुबन्धी एक कषाय चौकडी के अभावपूर्वक स्वरुपाचरणचारित्र के धारक होते हैं।

पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का पालन करते हुए सम्यग्दर्शन सहित अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याखानावरणी दो कषाय चौकडी के अभावपूर्वक देशचारित्र के धारक होते हैं।

छठवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का पालन करते हुए सम्यग्दर्शन सहित अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याखानावरणी एवं प्रत्याख्यानावरणी इन तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक सकलचारित्र के धारक शुभोपयोगी मुनि होते हैं।

सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का पालन करते हुए सम्यग्दर्शन सहित अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याखानावरणी एवं प्रत्याख्यानावरणी इन तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक सकलचारित्र के धारक शुद्धोपयोगी मुनि होते हैं।

२०. बाईस परिषह एवं परिषहजयी साधु : रहस्य

तत्त्वार्थ सूत्र के नवमें अध्याय के नवमें सूत्र में बाईस परिषहों के नाम इसप्रकार लिखे हैं।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।।९-९।।

अर्थ : क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की निविकल्प अनुभूति के बल पर तीन कषाय चौकडी के उदय रहित सकल चारित्रवान साधु परिषह सहन करते हैं, यह व्यवहार की भाषा है। परि अर्थात् चारों ओर से और षह अर्थात् सहन करना या सहज रुप से जानना।

परिषह और उपसर्ग के बीच बहुत बडा अन्तर यह है कि जो संयोग मुनिधर्म में निश्चित ही होते हैं, ऐसे संयोगो को परिषह कहते हैं। परन्तु जो संयोग निर्धारित नहीं होते हैं, ऐसे संयोगो को उपसर्ग कहते हैं। जैसे कि सर्दी और गर्मी आदि का योग तो निर्धारित है, अतः उन्हें परिषह की श्रेणी में रखा है, जबकि मुनियों के उपर पत्थर की वर्षा होना आदि उपसर्ग की श्रेणी में आते हैं, इसका विशेष वर्णन आगे किया है।

वास्तव में साधु परिषहों को सहन नहीं करते, बल्कि चैतन्य स्वभाव की अनुभूति के फल में प्रकट होने वाली वीतरागता के बल पर साधु की द्रष्टि परिषहों पर जाती ही नहीं। कदाचित् परिषहों का ज्ञान हो भी जाये, तो भी वे सहज रुप से जान लेते हैं, परन्तु सहन नहीं करते। **सहन करने में कर्तापना है और सहज जानने में ज्ञातापना है। जो जीव दुःख को भोगता है वह साधु नहीं है, बल्कि आत्मा के सुख का रसपान करता है, वह साधु है।**

चैतन्य स्वभावी आत्मा के आश्रय से साधु को कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट भासित नहीं होता। बाह्य में दुःख के कारण मिलने पर भी वे दुःखी नहीं होते और सुख के कारण मिलने पर भी सुखी नहीं होते। बाईस परिषहों का सामान्य स्वरुप इसप्रकार है।

१. क्षुधा : चैतन्य का भजन ही साधु का भोजन है। भोजन करने से भूख मिट नहीं जाती बल्कि आगे बढती है, पोस्टपोन होती है। मुनि को कभी-कभी महिनों तक भी निर्दोष आहार नहीं मिलता है फिर भी वे निज शुद्धात्मा के बल पर आकुलित नहीं होते। कितने ही दिन तक भूखा रहना पडे फिर भी सदोष आहार कदापि ग्रहण नहीं करते। साधु अभक्ष्य और भक्ष्य वस्तुओं में भेद जानते हैं, परन्तु भक्ष्य वस्तुओं में भेद नहीं मानते हैं।

भोजन बिना जीवन जीने का नाम क्षुधा परिषह नहीं है, क्योंकि नारकी को हजारों वर्षों तक भोजन नहीं मिलता फिर भी वीतराग भाव के बिना परिषह सहन करना नहीं कहा जाता। भोजन मिलने या नहीं मिलने की योग्यता की यथार्थ श्रद्धा के कारण मुनि क्षुधा को सहजरुप से जान लेते हैं।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज

भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को क्षुधा परिषह का सहज स्वीकार होता है।

२. तृषा : चैतन्य रसपान करते साधु को तृषा परिषह का सहज स्वीकर होता है। पानी पीने से प्यास मिट नहीं जाती बल्कि आगे बढती है, पोस्टपोन होती है। साधु जब आहार लेते हैं, तब ही पानी पीते हैं।

डॉक्टर भोजन के बाद १ घण्टे तक पानी पीने का मना करते हैं। मुनि इतना आहार ही नहीं लेते कि जिससे मुनि को एक घण्टे के बाद पानी की जरुरत ही पडती। अज्ञानी भोजन ही इतना कर लेते हैं कि पेट में पानी की जगह नहीं रहती, तब एक घण्टे के बाद उसे पानी पीना ही पडता है। शरीर की प्यास के कारण गला सूख जायें फिर भी वे निज शुद्धात्मा के बल पर अमृत आत्मा के सुख का रस आत्मा के समस्त प्रदेशों से अनुभव में आता है। कितने ही दिन तक प्यासा रहना पडे फिर भी वन में नदी, तालाब, सरोवर, झरने आदि का पानी नहीं पी लेते और न ही पी सकते हैं।

हे तीन लोक के नाथ परमात्मा! तीन लोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को तृषा परिषह का सहज स्वीकार होता है।

३. शीत : स्वभाव से ही त्रिकाल सुरक्षित चैतन्य में स्थिरता के बल पर साधु को शीत परिषह का सहज स्वीकार होता है। प्रकृति का शीत स्वभाव प्रकृति में है, आत्मा का चैतन्य आत्मा मे है, पुदगल की पर्याय का चैतन्य स्वभाव में कदापि प्रवेश नहीं हो सकता।

निर्वस्त्र साधु को अतिशय शीतल हवा के स्पर्श के काल में भी शीतल हवा का नहीं चैतन्य की ज्ञानमात्र सत्ता का अनुभव होता है। सर्दी के दिनों में ठंड, गर्मी के दिनों में गर्मी, बरसात के दिनों में बारिस होती है। सर्दी में वायुकायिक, गर्मी में अग्निकायिक और पानी में जलकायिक जीव के रुप में अनन्त बार अनन्त दुःख भोगे हैं। चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से शीत और उष्ण परिषह सहन करते हैं।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज

भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को शीत परिषह का सहज स्वीकार होता है।

४. उष्ण : स्वभाव से ही त्रिकाल सुरक्षित चैतन्य में स्थिरता के बल पर साधु को उष्ण परिषह का सहज स्वीकार होता है। प्रकृति का उष्ण स्वभाव प्रकृति में है, आत्मा का चैतन्य आत्मा मे है, पुदगल की पर्याय का चैतन्य स्वभाव में कदापि प्रवेश नहीं हो सकता। शरीर नग्न होने के कारण गरम शिला पर आत्मसाधना में स्थिर साधु की चमडी जल भी जाये, तो भी देह की ओर द्रष्टि नहीं जाती है।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को उष्ण परिषह का सहज स्वीकार होता है।

५. दंशमशक : शरीर और चैतन्य के बीच सहज भेदविज्ञान के बल पर साधु को दंशमशक परिषह का सहज स्वीकार होता है। मच्छर, बिच्छु, सांप आदि जीव-जंतु काटते हैं, तब भी साधु समभाव में ही स्थित रहते हैं। अज्ञानी को एक मच्छर भी शरीर पर बैठने आता है, तो बैठने से पहले ही उसे उडा देता है। मलेरिया, डेन्यु आदि बिमारी होगी ऐसे विकल्पों के कारण उसे निरंतर भय बना रहता है। मच्छर तो दूर, एक मक्खी भी शरीर पर बैठती है, तो अरुचि होती है, चैतन्य स्वभाव याद नहीं आता है।

लाखो वर्षों से करोडों रुपये का कर्ज हो, कर्ज लेने वाला सामने हो, कर्ज चुकाने की शक्ति हो, तब कर्ज चुकाते वक्त पांचवें गुणस्थान में भी समभाव ही रहता है। जब गृहस्थ का आचरण भी इतना उत्कृष्ट होता है तो साधु का चारित्र अत्यंत उत्कृष्ट होता है। **साधु मानते हैं कि बिच्छु का जहर शरीर में कितना ही अन्दर चला जाये, परन्तु चैतन्य स्वभाव में जाने वाला नहीं है।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को दंशमशक परिषह का सहज स्वीकार होता है।

६. नाग्न्य : तीन कषाय चौकडी के अभाव से सकल चारित्रवान साधु को नाग्न्य परिषह का सहज स्वीकार होता है। शरीर नग्नता के कारण जगत के लोग क्या विचार करेंगे ऐसे विकल्प साधु को उत्पन्न नहीं होते। आत्मा में निर्दोषता प्रकट होने पर शरीर में नग्नता सहज ही होती है। साधु को गृहस्थों के साथ रहने का विकल्प नहीं आता, इसलिये साधु को वस्त्र पहिनने का विकल्प भी नहीं आता।

वस्त्र का मोह छूट जाये, तो फिर वस्त्र पहिनने में क्या दोष है? भाई! वस्त्र का मोह छूट जाये और फिर भी वस्त्र पहिनने का भाव आता है, उसे चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्द्रष्टी की दशा कही है। **चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्द्रष्टी और साधु में यही तो अन्तर है। सम्यग्द्रष्टी गृहस्थ को वस्त्र का मोह नहीं होता, परन्तु वस्त्र तो होते हैं। साधु को वस्त्र के प्रति मोह, राग और द्वेष नहीं होते और वस्त्र भी नहीं होते। जो आत्मा मिथ्यात्व के वस्त्र से रहित नहीं होता, उसे निर्वस्त्र साधु का स्वरुप समझ में भी नहीं आता।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को नाग्न्य परिषह का सहज स्वीकार होता है।

७. अरति : चैतन्य स्वभाव में रुचिवान साधु को अरतिभाव होने की सम्भावना के योग्य संयोगो में भी चित्त विचलित नहीं होता, अतः साधु को अरति परिषह का सहज स्वीकार होता है। जगत का कोई भी पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं होता। अतः किसी भी पदार्थ को इष्ट जानकर उसमें रतिभाव और अनिष्ट जानकर उसमें अरतिभाव नहीं होता। यदि कोई जीव साधु के मलिन शरीर को देखकर साधु के प्रति अरति करने वाले जीवों के प्रति भी साधु अरति नहीं करते। क्योंकि साधु को रति करने वाले जीवों के प्रति रति नहीं करते हैं। **चैतन्य स्वभाव के आश्रय से रति का स्वीकार करने वाले साधु ही अरति को सहज स्वीकार करते हैं।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को अरति परिषह का सहज स्वीकार होता है।

८. स्त्री : स्वयं को चैतन्य पुरुष मानने वाले साधु की द्रष्टि में समस्त अशुद्ध और शुद्ध पर्यायें स्त्री समान होने से अर्थात् साधु को स्त्री परिषह का सहज स्वीकार होता है। साधु स्वयं को पर्याय स्वरुप नहीं मानते। साधु की द्रष्टि में प्रत्येक आत्मा परमात्मा होने पर भी साधु स्त्री के स्पर्श से सदैव दूर ही रहते हैं। उत्कृष्ट चारित्र के धारक साधु स्त्री तो क्या स्त्री की परछांह पर भी द्रष्टि नहीं करते। **साधु की राग की पर्याय, जिस ज्ञान की पर्याय में प्रतिबिम्बित होती है, साधु उस ज्ञान पर्याय में भी एकत्व नहीं करते। वे पर्यायद्रष्टी नहीं होते, बल्कि द्रव्यद्रष्टी ही रहते हैं।**

साधु कदापि स्त्रियों के साथ चर्चा-वार्ता भी नहीं करते। क्योंकि वे १८००० प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। साधु की बात तो दूर, गृहस्थ भी एकांत में स्त्रियों से चर्चा नहीं करते हैं।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को स्त्री परिषह का सहज स्वीकार होता है।

९. चर्या : अचल एवं अटल चैतन्य में स्थिरता के बल पर साधु को चर्या परिषह का सहज स्वीकार होता है। शरीर गति करता है, तब भी आत्मा चैतन्यपने को छोडकर रागादि भावरुप गमन नहीं करता है। देह की अस्थिरता के काल में भी चैतन्य स्वभाव चैतन्यपने में ही स्थिर रहता है। चलना औदयिक भाव है और चैतन्य परम पारिणामिक भाव है।

साधु तो चलता भला, इस न्याय से साधु देह के साथ पींछी और कमंडल के अतिरिक्त लाठी आदि किसी भी वस्तु लेकर विहार नहीं करते। **हाथ में लाठी लेकर विहार करने में दोष मानने वाले भावलिंगी साधु चार पहिये वाली कुर्सी में कैसे बैठ सकते हैं? अतः साधु संयमभाव सहित साधु धर्म को लक्ष्य में रखकर विहार करना चाहिए।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को चर्या परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१०. निषद्या : साधु आत्मसाधना हेतु आसन लेकर नहीं बैठते। क्योंकि अपरिग्रही साधु शरीर को ढांकने के लिये एक धागा मात्र का परिग्रह नहीं रखते, तो फिर वे बैठने के लिये आसन कैसे रख सकते हैं? अरे भाई! चैतन्य स्वभाव के आश्रय से साधु को आत्मध्यान होता है। आत्मध्यान के पुरुषार्थी साधु को निषद्या परिषह का सहज स्वीकार होता है। अभी पूर्ण वीतरागी दशा प्रकट नहीं होने से साधु को निरंतर आत्मध्यान में लीन होने का पुरुषार्थ चलता ही रहता है। **आत्मध्यान की लीनता के आसन को छोडकर साधु विचलित नहीं होते। साधु हर अंतर्मुहूर्त में भगवान आत्मा के ध्यान में लीन होते हैं।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को निषद्या परिषह का सहज स्वीकार होता है।

११. शय्या : त्रिकाल जागृत चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से कठोर पत्थर, मिट्टी, कंकण, आदि विषम भूमि पर सोते हुए साधु को शय्या परिषह का सहज स्वीकार होता है। भूतकाल में मुलायम आसनों पर सो कर भी आकुलता के कारण सुख नहीं पाने वाले साधु कठोर विषम स्थान पर भी त्रिकाल जागृत निज परमात्मा के आश्रय से सुख का ही अनुभव करते हैं।

इन्द्रियों की अभिलाषा छूट जाने पर भावलिंगी साधु को विषम भूमि पर सोते हुए भी चैतन्य की ही स्पर्शना होती है। आत्मा की ज्ञान पर्याय भूमि और भूमि के विकल्पों को स्पर्श नहीं करके एक मात्र भगवान आत्मा त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक भाव का स्पर्श करती है अर्थात् उसी में लीन होती है। बाहर से दिखाई देने वाला साधु का सोना भी अंतरंग द्रष्टि से देखने पर जागना ही होता है।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को शय्या परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१२. आक्रोश : शांत स्वभावी चैतन्य स्वभाव के आश्रय से किसी व्यक्ति के द्वारा कहे गये कठोर शब्दो को सहज स्वीकार करने वाले साधु को आक्रोश परिषह का सहज स्वीकार होता है। **धैर्य के धारक साधु की परिणति ऐसी निर्मल होती है कि किसी के शब्दों का चैतन्य स्वभाव में प्रवेश हो ही नहीं सकता ऐसी द्रढ परिणति के बल पर दुष्टजनों द्वारा कहे गये शब्दों का स्वीकार होता है। शब्द ही नहीं, शब्द का विकल्प भी चैतन्य स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो सकता।**

कदाचित् नग्न साधु को देखकर कोई अज्ञानी साधु का वास्तविक स्वरुप नहीं समझने के कारण उनके उपर पत्थर भी मारे तो भी साधु आक्रोश नहीं करते हैं। उसके सामने यह स्पष्ट करने के लिये नहीं जाते हैं कि मैं साधु हूँ, तुम मुझे पत्थर मत मारो। इसप्रकार बाह्य संयोगो में प्रतिकूलता आने पर भी साधु आक्रोश नहीं करते।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को आक्रोश परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१३. वध : यदि कोई व्यक्ति साधु के शरीर का वध भी कर दे, तो भी साधु को आत्मा की नित्यता की जागृति है। साधु देह के अस्तित्व के कारण अपना अस्तित्व नहीं मानते, इसलिये साधु की परिणति ऐसी निर्मल होती है कि मृत्यु को महोत्सव समझकर मुनिदीक्षा का पालन करते हैं। मृत्यु इस जीवन को नष्ट करती है, परन्तु आत्मा को तो छू भी नहीं सकती।

अखण्ड चैतन्य स्वभावी आत्मा के आश्रय से किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रहारों को सहज स्वीकार करने वाले साधु को वध परिषह का सहज स्वीकार होता है। खण्ड-खण्ड रुप विकल्पों के कारण चैतन्य स्वभाव खण्डित नहीं होता, तो फिर शरीर के टुकडे होने पर आत्मा कैसे खण्डित हो सकता है?

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को वध परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१४. याचना : चैतन्य प्राण से ही आत्मा का जीवन है, आहारादि के कारण नहीं, ऐसे द्रढ निश्चय से प्रकट होने वाली परिणति के बल पर साधु को याचना परिषह का सहज स्वीकार होता है। **देह का मरण आने पर भी साधु किसी से आहार की याचना नहीं करते। यदि कोई श्रावक नवधा भक्तिपूर्वक आहार दान देने हेतु अपने घर तक लेकर जाता हो, तभी वे जाते हैं।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को याचना परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१५. अलाभ : चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा को बाह्य में किसी भी पदार्थों के कारण लाभ भी नहीं है और नुकसान भी नहीं है। ऐसी द्रढ निश्चय से और परिणति की निर्मलता के कारण साधु को अलाभ परिषह का सहज स्वीकार होता है।

साधु को लब्धि को प्राप्त करने का भाव नहीं है, पूर्ण विशुद्धि की प्राप्ति हेतु आकुलता उत्पन्न नहीं होती है। साधुपना को दीक्षा पालन करने के फल में किसी भी प्रकार के लाभ की आकांक्षा नहीं होती है क्योंकि लाभ होने की आकांक्षा के भावों को छोडकर ही तो साधु हुए है। याद रहे, **साधु को आहारादि पूर्व और पश्चात् चैतन्यपना चैतन्यरुप ही रहता है, साधु की द्रष्टि में चैतन्य स्वभाव ही टंकोत्कीर्ण हो चुका है।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को अलाभ परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१६. रोग : जब चैतन्य स्वभाव राग से भी भिन्न है, तो फिर शरीर का रोग तो चैतन्य स्वभाव से अतिदूर है, ऐसी द्रढता के बल पर साधु को रोग परिषह का सहज स्वीकार होता है। **साधु को भोजन करते वक्त रोटी ठंडी हो या गरम हो, सहज स्वीकार होता है, ऐसे ही जब बुखार आता है, तब शरीर के परमाणु का परिणमन ठंडेरुप में हो या गरमरुप में हो, उसका भी सहज स्वीकार होता है। क्योंकि दोनों ही परिणमन पुदगल का सहज**

परिणमन है, साधु को चैतन्य का स्वीकार होने शरीर की प्रत्येक अवस्था का सहज स्वीकार होता है।

मिथ्यात्वरुपी महारोग दूर होने के बाद आत्मा निश्चिंत हो जाता है। रोगी का मरण होता है। मिथ्यात्व की बिमारी से मुक्त आत्मा वीतराग परिणति के बल पर नित्य जीवंतपने को उपलब्ध हो जाता है, अशरीरी सिद्ध पद को पाता है। अज्ञानी स्वयं को शरीर ही मानता है, अतः शरीर की बिमारी को ही अपनी बिमारी मानता है। शरीर के उपचार के लिये करोडों रुपये खर्च करना चाहता है। परन्तु आत्मा के उपचार के लिये शास्त्रों के लिये दस रुपया भी खर्च करना पडे तो भी डिस्काउंट कब मिलेगा, इसका इंतज़ार करता है। आत्मा में अपनापन स्थापित होते ही शरीर की अवस्थाओं में से सुखबुद्धि एवं दुःखबुद्धि छूट जाती है। शरीर की बिमारी दूर करने का विकल्प ही आत्मा की बिमारी है। शरीर का योग तो क्षणिक है। अनित्य शरीर की बिमारी को दूर करने से पहले आत्मा की बिमारी दूर करने की खटक लगनी चाहिए।

वास्तव में तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को रोग परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१७. तृणस्पर्श : चैतन्य स्वभाव मिथ्यात्व, माया और निदान ऐसे शल्यों से भिन्न है, तो फिर शरीर चुभने वाले कांटे तो चैतन्य स्वभाव से अतिदूर है, ऐसी द्रढता के बल पर साधु को तृणस्पर्श परिषह का सहज स्वीकार होता है। जिस प्रकार किसी पुतले में लगने वाला कांटा दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु दर्पण में कांटा चुभता नहीं है। उसी प्रकार साधु के शरीर में जब कांटा चुभता है, तब वे जानते हैं कि **शरीररुपी पुतले में चुभने वाला कांटा आत्मा के ज्ञानरुपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, जानने में आता है, परन्तु ज्ञान में मिल नहीं जाता। घास के स्पर्श को और कांटे चुभने को, इन दोनों स्थितियों में समभाव रहता है, ऐसे भेदविज्ञान के बल पर साधु समभाव में स्थित रहते हैं।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज

भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को तृणस्पर्श परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१८. मल : निर्मल चैतन्य स्वभाव से मलिन शरीर के बीच निरंतर भेदविज्ञान के बल पर साधु को मल परिषह का सहज स्वीकार होता है। साधु को अस्नान व्रत के कारण शरीर की मलिनता देखकर भी ग्लानि उत्पन्न नहीं होती। **शरीर स्वभाव से ही मलिन है और आत्मा स्वभाव से ही निर्मल है। शरीर और आत्मा दोनों को अपने-अपने स्वभाव से देखने पर राग-द्वेष रहित वीतराग भाव प्रकट होता है।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को मल परिषह का सहज स्वीकार होता है।

१९. सत्कारपुरस्कार : चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में लीन साधु को चक्रवर्ती भी नमस्कार करे, फिर भी आशीर्वाद देने का विकल्प नहीं उठता। **कदाचित् विकल्पात्मक दशा के काल में आशीर्वाद देने का भाव आ जाये, तो भी चक्रवर्ती की भी महिमा नहीं आती ऐसे साधु का लोक में सत्कारपुरस्कार नहीं होने भी कोई असर नहीं होती अतः उन्हें सत्कारपुरस्कार परिषह का सहज स्वीकार होता है।**

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को सत्कारपुरस्कार परिषह का सहज स्वीकार होता है।

२०. प्रज्ञा : सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति के बाद तरंगरुप क्षयोपशम ज्ञान की महिमा नहीं आने से साधु को प्रज्ञा परिषह का सहज स्वीकार होता है। क्षयोपशमज्ञान और धन दोनों ही नदी के बहते प्रवाह जैसे ही हैं। अनित्य है, अशरण है। **समुद्र की तरंगो के प्रतिबिम्ब के कारण दर्पण हिलने-डोलने नहीं लगता, वह तो स्थिर ही रहता है। ऐसे ही क्षयोपशमज्ञान की तरंगो के काल में सामान्य ज्ञान तो एकरुप ही रहता है, तरंगरुप नहीं होता।**

याद रहे, क्षयोपशमज्ञान के कारण स्वयं को आत्मज्ञान प्रकट हो गया है, ऐसा मान लेना मिथ्यात्व है। साधु को ज्ञानावरण कर्म और मोहनीय कर्म के भेद का स्पष्ट ज्ञान होता है।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को प्रज्ञा परिषह का सहज स्वीकार होता है।

२१. अज्ञान : सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति के बाद तरंगरुप क्षयोपशम ज्ञान की महिमा नहीं आने से साधु को अज्ञान परिषह का सहज स्वीकार होता है। अज्ञान के काल में ज्ञान ही प्रकाशित होता है। अज्ञान का निर्णय करने वाला ज्ञान ही तो है। आत्मा कदापि अज्ञाने होकर जडरुप नहीं हो जाता। चैतन्य स्वभाव निरंतर नित्य चैतन्यरुप ही रहता है। **ज्ञानावरण कर्म के तीव्र क्षयोपशम के अभाव में साधु याद नहीं रहने पर भी साधु को दुःख नहीं होता है, वे उस स्थिति को भी सहन करते हैं।** याद नहीं रहता है, वह केवलज्ञान नहीं होने का सूचक है परन्तु याद नहीं रहता ऐसा विकल्प भी पूर्ण वीतरागता नहीं होने का कारण है। यदि याद नहीं रहता है, ऐसे विकल्पों से मुक्त होकर चैतन्य स्वभाव में लीन होने पर चैतन्यलोक में लोकालोक जाननें में आता है।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को अज्ञान परिषह का सहज स्वीकार होता है।

२२. अदर्शन : श्रद्धा स्वभावी भगवान आत्मा की उपलब्धि होने के बाद तप करके बाह्य में लब्धि प्रकट नहीं होने पर भी साधु को अदर्शन परिषह का सहज स्वीकार होता है। आत्मसाधना के लक्ष्य से साधु तप करते है, अतः तप करने पर भी चारणऋद्धि आदि प्राप्त नहीं होने पर भी साधु की श्रद्धा विचलित नहीं होती।

तीनलोक का नाथ त्रिकाल सुख से परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी निज भगवान आत्मा का स्वीकार करने के बाद साधु को अदर्शन परिषह का

सहज स्वीकार होता है।

इसप्रकार सास के बूरे शब्दों को सहन करना, पति की गुलामी सहन करना या बेटे की पराधीनता सहन करने का नाम परिषह सहन करना नहीं है। चैतन्य के आश्रय से वीतराग भावरुप सकल चारित्रवान आचार्य, उपाध्याय और साधु २२ परिषह सहन करते हैं। **२२ का अंक यह बताता है कि अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थिति एक समान वीतराग भावरुप ही रहते हैं।** श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्धि उपाय के पृष्ठ क्रमांक १६२ पर बाईस परिषहों के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है।

२१. उपसर्ग एवं उपसर्ग विजयी साधु : रहस्य

नरक गति के अलावा मनुष्य, देव और तिर्यंच इन तीन गतियों के जीव तीर्थंकर भगवान की वाणी सुनने के लिये समवसरण में आ सकते हैं, आते हैं। जिन तीन गतियों के जीव भगवान की वाणी सुनने के लिये आते हैं, उन तीन गतियों के जीव ही मुनिराज पर उपसर्ग करने के लिये भी आते हैं। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि सुनने के लिये नरक गति से नारकी नहीं आते, तो मुनि पर उपसर्ग करने के लिये भी वे नारकी यहाँ नहीं आते। रहस्य तो यह है कि **तीन गति के जीव भी उपसर्ग करके सुखी होने की योग्यता जिनकी हैं, ऐसे मुनि को दुःखी नहीं कर सकते। वहीं दूसरी ओर जिनकी दुःखी होने की योग्यता है कि ऐसे तीन गतियों के जीवों को तीर्थंकर भगवान भी सुखी नहीं कर सकते।**

१. देवकृत उपसर्ग : संवर नामक देव ने पूर्व भव के वेर के कारण पार्श्वनाथ मुनिराज पर आग की बरसात, पत्थर की बरसात करके उपसर्ग किया था। परन्तु पार्श्वनाथ मुनिराज आत्मा के ध्यान में ही लीन रहे। यद्यपि धरणेन्द्र और पद्मावती को उपसर्ग दूर करने का विकल्प उठा था और उन्होंने उपसर्ग दूर भी किया था, परन्तु जन्म से ही अतुल बल के धनी

पार्श्वनाथ मुनिराज को आत्मा के निर्विकल्प ध्यान के बल पर अंतर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

२. मनुष्यकृत उपसर्ग : श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डालकर उन पर उपसर्ग किया था। मरा हुआ सर्प डालने से पहिले उन्होंने मुनिराज पर शिकारी कुत्ते छोडे थे, परन्तु शिकारी कुत्ते भी मुनिराज की एकाग्र ध्यान दशा को देखकर शांत हो गये थे। मुनिराज को देखकर क्रुर कुत्ते भी शांत हो गये थे, परन्तु श्रेणिक राजा शांत नहीं हुए थे।

३. **तिर्यंचकृत उपसर्ग :** शियाली और उसके दो बच्चे ने मुनिराज का आधा पैर खा लिया, वह तिर्यंचकृत उपसर्ग था। ऐसी स्थिति में भी वे अपने आत्मा के ध्यान में से विचलित नहीं हुए।

जब किसी जीव पर उपसर्ग होता है, तब वे नियम से निज आत्मा के ध्यान में ही लीन होते हैं। अत: व्यापारादि में नुकसान हो जाये या शत्रु पक्ष के लोग कोर्ट में केस दाखिल करे, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उपसर्ग हुआ है। वास्तव में भावलिंगी मुनि ही उपसर्ग विजयी होते हैं।

२२. मुनि हैं चलतें-फिरतें सिद्ध परमात्मा

जिसप्रकार सिद्धक्षेत्र के पहाड की टोच तक जाने पहिले सिद्धक्षेत्र की तलहटी में पहुंचते हैं, उसीप्रकार मुनिपद को सिद्धपद की तलहटी कहा है। यह तो सर्वविदित ही है कि चौथेकाल में भी साधु का योग इतना सुलभ नहीं था। भरत चक्रवर्ती जैसे आत्मज्ञानी महापुरुष भी आहारदान देने हेतु साधु की खोज में निकलते थे। यह तो दुषम पंचमकाल है, जब सत्युग में साधु का योग दुर्लभ था तब कलियुग का तो कहना ही क्या? वर्तमान पंचम कलिकाल में घर से बाहर निकलते ही रास्ते में साधु का योग होता हो तो इस काल को तो भरत चक्रवर्ती के काल से भी उत्तम सत्युग कहना चाहिए। **सत्य तो यह है कि इस कलिकाल में भावलिंगी साधु तो दुर्लभ हो गये हैं साथ ही भावलिंगी साधु के खोजी श्रावक भी दुर्लभ हो गये हैं।**

जो अपने से अच्छे होते हैं वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्त नहीं होते। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में बाह्य निमित्त कहलाते हैं। **साधुजनों को पाकर विनय करना जितना आवश्यक है, उतना ही साधुजनों की खोज में विवेक का होना आवश्यक है। विनय का सम्बन्ध चारित्र के साथ है, जबकि विवेक का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है। सम्यग्द्रष्टी ही ज्ञान और चारित्रवान होते हैं, अतः सम्यग्द्रष्टी ही भावलिंगी मुनि की पहिचान कर सकते हैं।**

सच्चे गुरु की खोज करने के लिये सच्चा शिष्य होना अनिवार्य है। भावलिंगी साधु के दर्शन उन्हें ही होते हैं, जिन्हें एक मात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही रुचिकर लगता हैं। **साधु चारित्रवान होते हैं। इस कथन का आशय ऐसा नहीं है कि साधु क्रियाकांड को चारित्र मानकर उसके साथ ही उझलते रहते हैं। चारित्र गुण आत्मा का है, अतः चारित्र का संबंध भी आत्मा की परिणति के साथ है। आत्मा में सकल चारित्ररुप वीतराग परिणति का प्रकट होना ही साधु के चारित्र की सच्ची निशानी है।**

२३. जैन धर्म में बालदीक्षा का स्वरूप

बालक को दीक्षा देनी चाहिए या नहीं? **अरे भाई! दीक्षा कोई देने की चीज नहीं है, यदि ऐसे ही दीक्षा दी जाती होती, तो मुर्दे को भी दीक्षा दे जानी चाहिए। यदि बालक को पूर्व भव के सांसारिक भोगों के क्षणिकपने का बोध अभी-भी टिका हो, तो वह बालक जिनदीक्षा का अधिकारी है।** सम्यग्दर्शन के बिना सांसारिक भोगो के क्षणिकपने का असारपना श्रद्धान में स्थापित नहीं हो सकता।

आत्मा का जन्म नहीं है और मरण भी नहीं है। आत्मा अनादि-अनन्त है तो फिर बालक, युवान और वृद्ध ऐसे भेद भी आत्मा में कैसे हो सकते है? यदि वृद्ध व्यक्ति को इस भव के सांसारिक भोगों के असारपने का बोध नहीं हुआ हो और सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हुआ हो, तो वह वृद्ध भी दीक्षा का अधिकारी नहीं है। अतः बालक, युवान या वृद्ध इन अवस्थाओं के आधार पर दीक्षा निर्धारण जिनमत में नहीं माना गया, बल्कि त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाली आत्मा की परिणति की निर्मलता के आधार पर दीक्षा अंगीकार की जाती है।

यदि किसी जीव को बचपन में ही पूर्व भव से ही सांसारिक अनित्य विषयभोगों की असारता का बोध और नित्य त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो चुका है, अंतरंग में तीन कषाय चौकडी के अभावरुप वीतराग परिणति प्रकट हुई हो, तो वह जीव मुनिदीक्षा अंगीकार करने के लिये पात्र जीव है। परन्तु यदि किसी जीव को सत्तर साल तक भी इस भव में भोगे हुए भोग असार नहीं लगे हो, तो वह दीक्षा लेकर भी क्या करेगा? बस, वह तो अपने विकल्पों की पूर्ति में मुनिदीक्षा पालन करने का सुख मान लेगा। परन्तु भाई! ऐसे जीवों पर भी द्वेष करने योग्य नहीं है, जिनकी होनहार ही ऐसी होती है, उन्हें ऐसे ही विकल्प उठते हैं।

२४. शिथिलाचारी को भी द्रव्य स्वभाव से परमात्मा ही जानो

व्यक्ति दूसरों के दोषों को देखने के लिये सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश (जज) बनता है और अपने दोषों को ढांकने के लिये सर्वश्रेष्ठ वकील बनता है। यही कारण है कि उसे अदालत चक्कर काटने में ही अमूल्य मानव जीवन व्यर्थ गंवाना पडता है। भाई! प्रत्येक आत्मा को द्रव्य स्वभाव से परमात्मा ही जानो, मानो और उन पर राग-द्वेष मत करो।

लोग कहते हैं कि आज कल स्वयं को साधु मानने और मनाने वालें कहते हैं कि आपका मंत्री मंडल और मेरा कमंडल मिल जाये तो देश का उद्धार हो जायेगा। ऐसी स्थित में क्या करना चाहिए? **हे परमात्मा! चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा! देश के उद्धार के लिये पींछी और कमंडल और नग्नता ग्रहण नहीं करते हैं। आत्म हित करने केलिये मुनिदशा अंगीकार की जाती है।** फिर भी यदि कोई जीव शिथिलाचारी है, तो याद रखो कि मैंने भी भूतकाल में अज्ञानता के कारण इससे भी बडे-बडे अपराध किये हैं अत: शिथिलाचारी साधु द्वेष करने योग्य नहीं है। उनके प्रति द्वेष करने में स्वयं का ही संसार परिभ्रमण बढता है।

अभी जिस अज्ञानी जीव को भारत का मोह है, वह मानता है कि भारत मेरा देश है। दुसरे देशवालों से नफरत करते हैं, परन्तु आयुष्य का क्या भरोसा? अगले क्षण मरकर उसी देश में जन्म हो जाये, जिस देश में पहिले इतनी नफरत करते थे। अत: भारत या किसी भी देश में मोह करने योग्य नहीं है। निश्चय द्रष्टि से चैतन्य स्वभाव ही स्वदेश है और रागादि परभाव ही परदेश है। चैतन्य स्वभाव मे अपनापन करना ही सादि-अनन्त काल तक टिकने वाली देशभक्ति है।

भावलिंगी संतो ने हमारे दोषों को देखकर हमारे प्रति द्वेष नहीं किया,

उन्होंने सत्य का स्वीकार किया, परन्तु स्वयं को राग-द्वेष के तरंगो में डूबने नहीं दिया। हमें भी यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि किसी भी व्यक्ति के दोषों पर नजर नहीं करके निज आत्मा के अनन्त गुणों की महिमा जाने और अखण्ड, अभेद, एक, निज भगवान आत्मा में ही लीन हो।

आगमों में लिखा है कि भावलिंगी साधु को भी प्रमाद होता है। प्रमाद के पन्द्रह प्रकार के भेदों में राजकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा ये चार विकथा का वर्णन शास्त्रों में आता है। वहाँ प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री के साथ मंच पर बैठकर उनका गुणगान गाने का नाम राजकथा नहीं है। देश और देश की सरकार का प्रचार करना राष्ट्रकथा नामक प्रमाद नहीं है। भोजन के लिये आयोजन करना या करवाना भोजनकथा नहीं है। स्त्रियों की प्रशंसा या निंदा करने का नाम स्त्रीकथा नहीं है।

खास बात तो यह है कि भावलिंगी साधु ने प्रथमानुयोग के शास्त्रों में चक्रवर्ती के छह खण्डों का, खीर आदि भोजन का, छियानवे हजार रानियों का वर्णन करके कहा है कि चक्रवर्ती उस राज्य को, भोजन को, स्त्रियों को भोगकर उसे असार जानकर छोडते हैं तो स्वर्ग या मोक्ष को पाते हैं। यदि नहीं छोडते, तो नियम से सातवें नरक में जाते हैं। इसप्रकार राग से वीतरागता की ओर प्रेरित करने के लिये तत्त्वज्ञान सिद्धांतो का प्रतिपादन करने के लिये भी ६३ शलाका महापुरुषों की राजा, राष्ट्र, भोजन और स्त्रियों की चर्चा करते हैं, तो उसे भी प्रमाद कहते हैं।

विश्व की व्यवस्था में प्रत्येक जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही परिणमन करता है, प्रत्येक जीव को अपनी आगामी गति के अनुसार ही वर्तमान की मति होती है। अतः किसी भी जीव पर रागादि भाव करना व्यर्थ ही है।

अनेक लोग पूछते हैं कि स्वयं को साधु मानने वाले कोई जीव स्वयं के लिये महाराज साहब या महाराजा साहब शब्द का भी प्रयोग करे तो भी राग-द्वेष नहीं करना है। वास्तव में जैन परम्परा में साधु शब्द होता है, तो फिर ये महाराज साहेब और महाराजा साहेब जैसे शब्द कैसे जुड गये? यह समझ में नहीं आता है। भाई! सत्य तो यही है कि णमोकार महामंत्र में

आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे शब्दों का प्रयोग तो किया गया है, परन्तु महाराज साहेब, महाराजा साहेब आदि शब्दों के प्रयोग तो नहीं किये गये। साधु जैसे महान पद को महाराज साहब या महाराजा साहब जैसे शब्दों में बदल देना उचित नहीं है। फिर भी **आप किसी भी जीव को उनकी गलतियों के रुप में न देखकर शुद्ध आत्म द्रव्य स्वभाव के रुप में ही देखो। अन्य जीवों को पर्यायद्रष्टि से न देखकर अपना अहित मत करो। संसार अवस्था में किन-किन जीवों के दोषों को देखकर कषायवान होंगे? वास्तव में हम अपनी दशा के अनुसार ही जगत को देखते हैं। हमारी नजर में पर्याय होगी तो दूसरें जीवों की भी पर्याय ही नजर में आयेगी। स्वयं की नजर में एक मात्र भगवान आत्मा ही होगा तो प्रत्येक जीवों में परमात्मा ही नजर आयेंगे।**

एक बात खास याद रहे कि ज्ञानियों की पहिचान कपडे से नहीं होती। पश्चिमी देशों में व्यक्ति को टेइलर (दरजी) महान बनाता है, जबकि भारत में व्यक्ति को केरेक्टर (चारित्र) महान बनाता है। अधिकांशतः लोग मैले कपडे पहिनने वाले व्यक्तियों से अधिक प्रभावित होते हैं। वे सोचते हैं कि कपडे मैले होने पर भी बदलते नहीं है, अतः ये बडे ज्ञानी हैं। धूले हुए साफ कपडे पहिनकर स्वयं को पापी मानने वालें लोग मैले कपडे से व्यक्ति की पहिचान करके उन्हें धर्मी मानते हैं। **अहो! जीवों की मान्यता तो देखो! जितना मैला कपडा, उतना बडा ज्ञानी और हाँ यदि वोह हो गया नग्र, तो बस वह मुनि और संभोग जैसे महापाप से समाधि की ओर ले जाता हो वह भगवान!!! पंचमकाल... कलियुग...**

हे जीव! हे परमात्मा! हे शुद्धात्मा! यह पढकर जगत में धर्म के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, उसके लिये तुझे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यह बात अवश्य याद रखना कि वर्तमान कलियुग में इस जगत में स्वयं को ज्ञानी, मुनि और भगवान मानने और मनाने वाले जीवों के प्रति भी द्वेष मत करना, इर्ष्या मत करना। उनके भावों के कारण अपने भाव मलिन मत करना। तू उन्हें भी द्रव्य स्वभाव से परमात्मा देखना और उनकी पर्याय को द्रष्टि में मत लेना। क्योंकि पर्याय तो अनित्य है, क्षणिक है। वर्तमान का

अज्ञानी भविष्य में पर्याय में भी परमात्मा होने वाला है। आज का पापी कल मुनि होने वाला है। जो इस क्षण अधर्मी है, वह अगले क्षण धर्मी होने वाला है।

मुनि होकर भी संसार परिभ्रमण करने का कारण बताते हुए मुनिवर श्री रामसिंह जी ने पाहुड दोहा में कहा है।

जो मुणि छंडिवि विषयसुह पुणु अहिलासु करेइ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ।। १७ ।।

अर्थ : जो मुनि विषय सुखो को छोडकर फिर उनको प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, वह केशलोंचन तथा शरीर-शोषण के क्लेश सहता हुआ पुनः संसार में परिभ्रमण करता है।

उम्मूलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहिं विलग्ग।
वाण्णर जेम पलंबचुय बहुय पडेवेणु भग्ग।। २१ ।।

अर्थ : जो साधु मूलगुणों को खण्डित कर उत्तरगुणों से अलग हो जाता है, वह डाल से चुके हुए बन्दर के समान बहुत नीचे गिरकर घायल हो जाता है।

पण्डित श्री टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठवें अधिकार में पृष्ठ १८६ पर भी शिथिलाचार के दोष को इसप्रकार स्पष्ट किया है।

देखो! आदिनाथजी के साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर पुनः भ्रष्ट हुए, तब देव उनसे कहने लगे - जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दण्ड देंगे। जिनलिंग छोडकर जो तुम्हारी इच्छा हो सो तुम जानो। इसलिये जिनलिंगी कहलाकर अन्यथा प्रवर्ते, वे तो दण्डयोग्य हैं; वंदनादि - योग्य कैसे होंगे?

अब अधिक क्या कहे! जिनमत में कुवेश धारण करते हैं वे महापाप करते है; अन्य जीव जो उनकी सुश्रुषा आदि करते हैं, वे भी पापी होते हैं।

राजा ऋषभदेव के साथ जिन चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा ली थी। वे आम के पेड से गिर हुए आम खाने लगे, बहते हुए झरने का पानी पीने लगे। परिणाम यह आया कि वे चार हजार साधु मरकर नरक में गये।

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग ऐसे अभेद एक मोक्षमार्ग में भेद खडे करने पर शिथिलाचार प्रारम्भ हो गया। काया को वस्त्र से ढंकने का भाव और पैरों को कपडे के सफेद चप्पल से ढंकने का भाव, आदि शिथिलाचार ने आज भगवान महावीर द्वारा प्ररुपित मुनिधर्म के वास्तविक स्वरुप पर अज्ञानीजनों के सामने प्रश्नार्थ चिन्ह खडा कर दिया है।

याद रहे, पहले गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मिथ्याद्रष्टी से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी साधु का बाह्य चारित्र एक समान होता है, जबकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्द्रष्टी गृहस्थों के बाह्य चारित्र में भेद हो सकता है। साधु को शरीर की शिथिलता के कारण या किसी अन्य कारणवश अपने चारित्र में शिथिलता आने की सम्भावना हो, तो साधु दीक्षा छोडकर गृहस्थ हो जाते हैं, परन्तु वे साधु के मूलगुण में कदापि दोष नहीं लगने देते।

२५. जिसने मोह को खण्डित किया, वे ही सच्चे पण्डित है।

मुनिवर रामसिंह रचित पाहुड दोहा के निम्न दोहे क्षयोपशमज्ञान में नहीं अटककर चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय लेने की प्रेरणा के लिये द्रष्टव्य है।

वक्खाणडा करंतु बुहु अप्पि ण दिण्णा चितु।
कणहि जि रहिउ पयालु जिम पर संगहिउ बहुत्तु।। ८५ ।।

अर्थ : व्याख्यान करने वालें विद्वान ने यदि आत्मा में चित्त नहीं लगाया, तो यह उसी प्रकार से हुआ, जैसे उसने अन्न के कणों से रहित दाने रहित घास का संग्रह किया हो।

पंडियपंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि।। ८६ ।।

अर्थ : हे पण्डितों में श्रेष्ठ पण्डित! तुमने कण को छोड भूसे को ही कूटा है। तुम ग्रन्थ और उसके अर्थ में सन्तुष्ट हो, किन्तु परमार्थ को नहीं जानते, इसलिये मूढ हो।

बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरी गम्मइ जेण।। ९८ ।।

अर्थ : हे मूर्ख! बहुत पढा, जिससे रटते-रटते तालू सूख गया। लेकिन उस एक अक्षर को पढ ले, जिससे शिवपुरी में गमन हो सके।

जे पढिय जे पंडिया जाहि वि माणु मरट्ठु।
ते महिलाणहं पिडि पडिय भमियइ जेम घरट्ठु।। १५७ ।।

अर्थ : जो विद्वान है, पण्डित है, जिनके मान-मर्यादा बनी हुई है, वे भी जब महिलाओं के रुप-सौंदर्य पर मोहित हो जाते हैं, तब ऐसा समझना चाहिए कि वे देह-पिण्ड के पीछे पडकर ऐसे चक्कर काटते हैं, जैसे चक्की घूमती हो।

याद रहे, आत्महत्या करने से भी क्षयोपशमज्ञान में बढोतरी हो जाती है। यदि किसी पचास साल के आदमी को उसके बचपन के बारे में पूछा जाये तो उसे कुछ भी याद नहीं आता है। जब वह व्यक्ति अपने जीवन की प्रतिकूलता से परेशान होकर आत्महत्या कर लेता है और आत्महत्या करके उसका अगला जन्म नरक में होता है, तो वहाँ नरक में उसे पिछले भवों का भी ज्ञान हो जाता है।

कहने का आशय यह है कि क्षयोपशमज्ञान तो आत्महत्या करने से भी बढ जाता है, परन्तु सम्यग्ज्ञान तो आत्मज्ञान प्रकट होने पर ही होता है, सम्यग्ज्ञान ही मुक्ति का कारण है। शास्त्रों को याद करके इकठ्ठा किया हुआ बुद्धि के विलासरुप क्षयोपशमज्ञान मात्र से आत्मकल्याण नहीं होगा। **किसी व्यक्ति को सिर पर एक लकडी का फटका लगते ही उसका क्षयोपशमज्ञान विस्मृत हो सकता है, परन्तु सम्यग्दर्शन की महिमा ऐसी है कि देह परिवर्तन होने पर भी आत्मा में सम्यक्त्व कायम रहता है, ऐसा ही सम्यग्दर्शन का अद्‌भूत माहात्म्य है।**

चतुर्थ : धर्म अधिकार

१. धर्म का स्वरूप, पुण्य और धर्म में भेद : रहस्य

धर्म के सम्बन्ध में अनेक शाब्दिक व्याख्या की गई है। धर्म का स्वरुप इतना विराट है कि धर्म को समझाने के सीमित भाषा कैसे उपयोगी हो सकती है? फिर भी इशारे से ही सही, धर्म के सम्बन्ध में कुछ बातों पर विचार करना अपेक्षित है।

दंसण मूलो धम्मो अर्थात् धर्म का मूल दर्शन है। **चरितं खलु धम्मो** अर्थात् वास्तविक धर्म चारित्र है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा के गुणों की पर्याय के साथ है, शरीर की क्रियाओं के साथ नहीं। योगों के द्वारा होने वाली जीवों की हिंसा से कर्मो का बंध नहीं होता, बल्कि उपयोग का त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में स्थिर न होना ही हिंसा है। केवली भगवान पूर्ण निर्विकल्प होने से पूर्ण अहिंसक होते हैं।

खास याद रहे, **निश्चय से योगों का परिभ्रमण वास्तविक संसार परिभ्रमण नहीं है, बल्कि उपयोग का परिभ्रमण वास्तविक परिभ्रमण है। उपयोग का उपयोग में स्थिर होना ही संसार से मुक्ति है।**

आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी ने पुरुषार्थसिद्धिउपाय में भी कहा है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। ४४ ।।

अर्थ : निश्चय से रागादिभावों का प्रकट नहीं होना ही अहिंसा है और उन रागादिभावों का उत्पन्न होना हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

यहाँ समस्त प्रकार के राग को हिंसा कहा है। राग में कोई भेद नहीं

किया है। चाहे राग अप्रशस्त हो या प्रशस्त हो एवं राग तीव्र हो या राग मंद हो। ज्ञानियों को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार रागभाव होता है परंतु ज्ञानी कदापि उन रागादिभावों को धर्म नहीं मानते। त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाला शुद्ध परिणतिरुप वीतरागभाव ही धर्म है।

सूक्ष्मद्रष्टि से देखा जाये तो समझ में आ सकता है कि राग का भाव ही पांचो ही पाप की जड है, द्वेष का भाव नहीं। इस जगत में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप होते हैं, वे मुख्यरुप से राग के भाव के कारण ही होते हैं।

हिंसा नामक पाप का मूल कारण राग है। लोक में कहते हैं कि जर, जमीन और जोरु के कारण ही लडाई होती है। वह लडाई उनके राग के कारण होती है, द्वेष के कारण नहीं। राम और रावण के बीच युद्ध होने का मूल कारण राग था। राम को सीता के प्रति राग था और रावण को भी सीता के प्रति राग था। रामायण का मूल कारण राग ही तो था। पाण्डव और कौरव के बीच युद्ध होने का मूल कारण राग था। पाण्डव को जमीन का राग था और कौरव को भी जमीन का राग था। महाभारत का मूल कारण राग ही तो था। धन-सम्पत्ति के राग के कारण तो वर्तमान में प्रत्यक्ष ही लडाई देखी जाती है। उसके लिये पुराणों के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं है।

बिल्ली को चुहे का भोजन करने का राग है, अत: चुहे की हिंसा होती है। भारत को काश्मीर का राग है और पाकिस्तान को भी काश्मीर का राग है, राग के कारण ही दोनों युद्ध करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

झूठ नामक पाप का मूल कारण राग है। व्यापारी धन के राग के कारण ही तो झूठ बोलते हैं। सरकार को झूठी आमदनी बताकर टैक्स नहीं भरने के पीछे सरकार के प्रति द्वेष नहीं, बल्कि रुपये के प्रति राग है। एक बार झूठ बोलने के बाद उस झूठ को छुपाने का भाव आता है। वहाँ अपनी प्रतिष्ठा बचाने का राग का भाव ही अधिक झूठ बोलने के लिये प्रेरित करता है।

चोरी नामक पाप का मूल कारण राग है। कोई चोर किसी सेठ की

तिजोरी तोडकर चोरी करता है, उसके पीछे भी धन का राग है। उसे सेठ के प्रति कोई द्वेष नहीं है। यदि सेठ के प्रति द्वेष होता, तो सेठ की खोपडी फोडता। वह चोर तो सेठ को देखना भी नहीं चाहता। वह चाहता है कि सेठ भी उसे न देखे। आधी रात दूसरों के घर में घूसकर अपने घर जैसा वर्ताव करने का मूल कारण वस्तु का राग ही तो है। जिस वस्तु के प्रति हमें द्वेष का भाव होता है, उसे तो घर से बाहर कर देते हैं, चोरी करके घर पर नहीं लाते। अतः चोरी का मूल कारण राग है।

कुशील नामक पाप का मूल कारण राग है। जितनी भी माता-बहिनों इज्जत लूंटी जाती हैं, उसके पीछे मूल कारण राग ही तो है। वेद रुप नोकषाय को रागरुप कषाय कहा है, द्वेषरुप कषाय नहीं। आज पश्चिम के देशों में कामवासना रोग इतनी तीव्र होकर फैला है कि एक गाडी बेचने के लिये गाडी का पोस्टर लगता है, तो उस गाडी के साथ खूबसूरत लडकी को खडा करते हैं। राग के वशीभूत अज्ञानी एक पदार्थ के राग को दुसरे पदार्थ पर भी आरोपित कर देता है।

परिग्रह नामक पाप का मूल कारण राग है। अपने घर में जितनी वस्तुओं को इकठ्ठी करके रखी है, उसका कारण राग ही तो है। यहाँ तक वस्तुओं का राग पहले होता है और वस्तु बाद में घर में आती है। जो वस्तुयें हमें अधिक प्रिय लगती है, हम उन्हें ही अपने घर लेकर आते हैं। इसप्रकार राग ही परिग्रह ग्रहण करने का मूल कारण है।

जब किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति राग का भाव उत्पन्न होता है, उस समय राग इतना मधुर लगता है कि अज्ञानी को ज्ञानी का वीतराग होने का उपदेश भी रुचिकर नहीं लगता। वह क्षणिक राग के फल में मिलने वाले क्षणिक सुख को ही नित्य सुख मान लेता है। राग का विषय ही जगत में एक मात्र विषय है, उसे ऐसा लगता है। किसी भी परपदार्थ की पराधीनता से शान्ति प्रकट नहीं होती। हे जगतजनों! एक मात्र चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की जागृति के बल पर हम रागादि विकारी भावों से मुक्त हो सकते हैं।

आशय यह है कि राग के विषयों की पूर्ति नहीं होने पर द्वेष होता

है। अतः द्वेष का मूल राग है। भगवान को वीतरागी कहते हैं। वीतमोही और वीतद्वेषी नहीं। क्योंकि मोक्षमार्ग में सब से पहले मोह छूटता है, उसके बाद द्वेष और अन्त में राग। अतः भगवान को वीतरागी कहने में वीतमोही और वीतद्वेषी पद गर्भित ही है।

यद्यपि मोक्षमार्ग में मोह छूटने के बाद भी भूमिकानुसार राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं, परन्तु सम्यग्द्रष्टी ज्ञानी धर्मात्मा रागादि भावों को सदैव हेय ही मानते हैं। यदि बीसवीं मंझिल की छत पर दो साल का बच्चा किनारे पर आ गया हो, उसे बचाने के लिये किसी को आत्मा में राग का भाव उठे और वह बच्चे को नीचे गिरता हुआ बचाने के लिये जाये और बच्चा अपने भाग्य से बच भी जाये, तब बचाने वालें को बचाने का राग का भाव काला नाग लगता है या नहीं? यदि नहीं लगता है, तो समझ लो वह मिथ्याद्रष्टी है। कहने का आशय यह है कि सम्यग्द्रष्टी को तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के योग्य शुभराग भी काले नाग के समान खतरनाक और हेय लगता है। सम्यग्द्रष्टी को परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होने वालें किसी भी भावों में उपादेयबुद्धि नहीं होती।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर धर्म प्रारंभ होता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर ही रागादि भावों का अभाव होता है। मिथ्याद्रष्टी को कषाय की मंदता हो सकती है, परन्तु कषाय अभाव तो सम्यग्द्रष्टी को ही होता है। अतः आत्मार्थी जीवों को यह अवश्य समझना चाहिए कि निज शुद्धात्मा के आश्रय बिना धर्ममार्ग में एक कदम भी नहीं चल सकते।

पुण्य और धर्म में भेद एवं रहस्य

यदि कोई जीव हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचो पापों को करे, फिर भी वह जीव भी सम्यक्त्व का अधिकारी या सम्यग्द्रष्टी हो सकता है, परन्तु यदि कोई जीव पुण्य को धर्म मानता है, तो वह नियम से मिथ्याद्रष्टी ही होता है।

पाप करना चारित्र गुण सम्बन्धी कमजोरी है। परन्तु पुण्य में धर्म मानना श्रद्धा गुण सम्बन्धी कमजोरी है। चारित्र की कमजोरी से पहले श्रद्धा की कमजोरी दूर होती है।

पाप और पुण्य दोनों ही कर्म है। परन्तु अज्ञानी कर्म को धर्म मानता हैं। पुण्य के फल को भोगने की छूपी वासना जब तक आत्मा में से छूटती नहीं है, तब तक पुण्य करने में सुख बुद्धि भी छूटती नहीं है।

यदि वर्तमान में पुण्य बांधकर स्वर्ग में भोगने का भाव है, तो हे जीव! वर्तमान मिले हुए भोगों के साधनों को त्यागने से क्या लाभ हुआ? आत्म तत्त्व का स्वरुप समझने पर विषय भोगों की असारता समझ में आती है। एक मात्र चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा ही साधक की साधना का आधार है, आराधक की आराधना का आधार है।

आज तक तुझे ऐसे ही गुरु मिले जो कहे कि गुरु की सेवा करना ही धर्म है। यहाँ तो कहते हैं कि गुरु को शिष्य से एक गिलास पानी भी नहीं चाहिए। गुरु की शिष्य के लिये यही भावना होती है कि इस शिष्य को मेरे पास दूबारा नहीं आना पडे। वह अपने पुरुषार्थ के बल पर आत्मतत्त्व की अनुभूति के फल में इतना परिपक्व हो जाये, कि उसे गुरु के उपर भी आधीन होने की आवश्यकता न रहे।

गुरु को शिष्य की आँखो से बहने वाले भक्ति के आँसु नहीं दिखाई देते, बल्कि शिष्य का प्रयोग दिखाई देता है। गुरु कहते हैं कि हे जीव! मैं त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा हूँ, इस सत्य का चिन्तन-मनन-प्रयोग करेगा, तभी तुम्हारा हित होगा। तुम मेरे उपर द्रष्टि मत करो, बल्कि निज शुद्धात्मा पर द्रष्टि करो। हे चैतन्यस्वभावी परमात्मा! गुरु की बात तो अत्यंत दूर, जब तुझे आदिनाथ भगवान आदि पर परमात्मा से भी द्रष्टि हटाकर निज परमात्मा में केन्द्रित करना है, तब गुरु के उपर द्रष्टि करने की बात तो बहुत दूर है।

गुरु कहते हैं कि सारा जीवन आदिनाथ पर परमात्मा की पूजा-भक्ति-ध्यान करेगा, तो अनादिनाथ निज परमात्मा की ओर द्रष्टि, ज्ञान और ध्यान कब करेगा? तुझे आदिनाथ में रुचि है या अनादिनाथ मे? तुझे पर की रुचि है या स्व की? अब तो हे भगवान आत्मा! तुम अपना

निर्णय करो! तुम्हारा भावि तुम्हारे निर्णय से ही लिखा है। तुम ही अपने भाग्यविधाता हो।

आचार्य श्री कुंदकुंद जी ने भावपाहुड में कहा है।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अपण्णो धम्मो।। ८३ ।।

अर्थ : जैनशासन में जिनेन्द्रदेव ने यह कहा है कि पूजा आदि करने से और व्रत सहित होने से **पुण्य** होता है और मोह-क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को **धर्म** कहते हैं।

चौथे काल में अन्यमती भी बारहवें स्वर्ग तक पहुँच जाता है और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है। जबकि पंचमकाल में भावलिंगी साधु भी दुसरे (अपेक्षा से पाँचवें में भी) स्वर्ग से उपर नहीं जा सकते। यदि पुण्य के कारण ही धर्म की विशेषता होती, तो अन्यमती को धर्म अधिक मानना पडेगा।

अन्यमती लोग भी रागी देवी-देवताओं की भक्ति करके पुण्य बांधकर बारहवें स्वर्ग तक पहुंच जाते हैं। वे अपने गुरु को आहार देते हैं, अपने धर्म के शास्त्रों को पढते हैं। अरे! असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच भी शुभ परिणामों के फल में भवनवासी और व्यंतर देवों में जन्म ले लेते हैं। **निगोद के जीवों को भी हर अडतालीस मिनिट में अशुभभाव से शुभभाव आ जाते हैं। अतः शुभभाव से आत्मा की महानता नहीं है।**

मंद कषाय से पुण्य बांधकर स्वर्ग की प्राप्ति होना, वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान प्ररुपित धर्म की विशेषता नहीं है। एक मात्र वीतरागभाव की प्राप्ति होना ही केवली प्ररुपित धर्म का उद्देश्य है।

२. मिथ्यात्व ही अधर्म और सम्यक्त्व ही धर्म

शरीर की क्रिया अधर्म भी नहीं है और धर्म भी नहीं है। क्योंकि धर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ है, पौदगलिक शरीर के साथ नहीं। आत्मा की निर्मलता में वृद्धि होने पर शरीर की क्रियाओं में भी परिवर्तन आता जाता है, परन्तु शरीर की क्रिया को ही धर्म मान लेने से धर्म नहीं हो जाता, बल्कि मिथ्यात्व का पोषण होता है। **मिथ्यात्व ही सब से बडा अधर्म है।**

यदि शरीर से इधर-उधर घूमना-फिरना आदि काया की प्रवृत्ति, किसी व्यक्ति की निंदा करना आदि वचन की प्रवृत्ति, किसी के बारे में चित्र-विचित्र कल्पना करके बुरा सोचना आदि की मन की वृत्ति आदि क्रियाओं के कारण अधर्म होता तो पेड-पौधे एकेन्द्रिय जीव काया होने पर भी कहीं धूमते-फिरते नहीं है, वचन नहीं होने से औरों की निंदा करते नहीं, मन नहीं होने से चित्र-विचित्र विचार करते नहीं, फिर भी वे जीव वर्तमान में मिले वनस्पति के शरीर में मिथ्यात्व के कारण स्वयं को वनस्पति के रुप में मानते हैं, इसलिये अनन्त दुःख भोगते हैं। उन्हें ज्ञान अल्प होने से कर्मों का बंध भी अल्प होता होगा, ऐसा नहीं है।

जैसे - किसी व्यक्ति को पक्षघात (लकवा) बिमारी होने जाने से वह व्यक्ति पानी पीने के लिये एक स्थान से दुसरे स्थान जा नहीं सकता, किसी दूसरों से पानी माँगने पर भी पानी नहीं देने वाले को कुछ बोल नहीं सकता, फिर भी मिथ्यात्व और कषायभावों के कारण निरंतर कर्मों का बंध करता है। ऐसे ही एकेन्द्रिय जीव मिथ्यात्व और कषायभावों से कर्मों का बंध करते है और दुःख भोगते हैं। **अतः मिथ्यात्व को ही सबसे बडा अधर्म कहा है और सम्यक्त्व को ही सबसे बडा धर्म कहा है।**

दुकान में बैठकर पाप को पापरुप जानना और स्वयं को पुण्य-पाप से भिन्न शुद्धात्मा हूँ ऐसा श्रद्धा में माने वह ज्ञानी है। कोई गृहस्थदशा छोडकर पुण्य की क्रियाओं से भिन्न मैं त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा हूँ, ऐसा

नहीं माने तो वह भी अज्ञानी है। आशय यह है कि **निज शुद्धात्म तत्त्व की जागृति से ज्ञानी का ज्ञानीपना प्रसिद्ध है।**

औदारिक शरीरधारी छद्मस्थ जीवों के शरीर में अनन्त निगोदिया जीव भी रहते हैं। बारहवें क्षीणमोह में मुनि को औदारिक शरीर ही होता है, परन्तु बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही अनन्त बादर निगोदिया जीवों का शरीर में से मरकर बाहर निकलना प्रारम्भ हो जाता है, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सभी बादर निगोदिया जीवों का अभाव होने से अनन्तर समयवर्ती तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही मुनि परम औदारिक देहधारी अरिहंत परमात्मा हो जाते हैं। **शरीर की क्रिया मात्र से ही अधर्म होता तो अरिहंत परमात्मा को भी हिंसा के कारण अधर्म होना चाहिए, परन्तु लोकालोक को जानने वाले तीन लोक के नाथ अरिहंत परमात्मा जगत के धार्मिक जीवों के परम आदर्श एवं पूज्य हैं।**

३. निश्चय धर्म एवं व्यवहार धर्म

शरीर की क्रिया को व्यवहार धर्म और आत्मा के भावों को निश्चय धर्म मानने वाले जीवों को इस बात का ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि **निश्चय एवं व्यवहार एक ही समय में, एक ही द्रव्य पर घटित होता है। दो भिन्न द्रव्यों में निश्चय एवं व्यवहार घटित नहीं होता।** जैसे कि निश्चय से जिस गिलास को काँच का गिलास कहते हैं, व्यवहार से उसी गिलास को पानी के संयोग के कारण पानी का गिलास कहते हैं। गिलास दो नहीं, बल्कि एक ही है।

उसी प्रकार निश्चय धर्म एवं व्यवहार धर्म ये दोनों धर्म आत्मा के भावों पर ही घटित होते हैं। **आत्मा में प्रकट होने वाली वीतरागता ही निश्चय धर्म है और वीतरागता के साथ-साथ कषाय की मंदतारुप जो शुभभाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें व्यवहार धर्म कहा जाता है। याद रहे, कषाय की मंदतारुप शुभभावों को व्यवहार से धर्म तब ही कहा जाता है, जब वीतराग भावरुप निश्चय धर्म प्रकट हो चुका हो। क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार कदापि नहीं हो सकता।** शरीर की क्रिया तो साक्षात पुदगल की क्रिया है, परद्रव्य की क्रिया है। निश्चय धर्म स्वद्रव्य में और व्यवहार धर्म परद्रव्य में घटित नहीं होता है।

निश्चय के साथ व्यवहार करना चाहिए, ऐसा ज्ञानियों का उपदेश नहीं है। ज्ञानी कहते हैं कि निश्चय के साथ व्यवहार होता है। **व्यवहार करना चाहिए ऐसा कहने में व्यवहार में उपादेयबुद्धि की गंध आती है।**

जिसप्रकार किसान खेत में बीज बोता है, तब पौधा उगता है। परन्तु पौधे के आसपास घास उगाने के लिये बीज नहीं बोता, वह घास तो सहज ही उग जाता है। यहाँ तक कि किसान को पौधे के पास उगे हुए घास को निकालने के लिये भी पैसे चुकाने होते हैं, क्योंकि वही घास पाक को नुकसान पहुँचाने वाली होती है।

उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुष आत्मा में सम्यग्दर्शन का बीज बोते हैं, तब वीतराग परिणतिरुप चारित्र का पौधा उगता है। परन्तु याद रहे, ज्ञानी वीतराग भाव के साथ-साथ शुभभाव उत्पन्न करने का पुरुषार्थ नहीं करते, वे शुभभाव तो सहज ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि वीतराग परिणति के साथ जो राग का अंश आत्मा में उत्पन्न होता है, ज्ञानी उस राग से रहित होने के लिये भी निरंतर पुरुषार्थ करते हैं। **ज्ञानी का पुरुषार्थ भी सहज ही होता है।**

समस्त जीव मात्र में परदया को परमधर्म बतलाते हुए भगवती आराधना में लिखा है।

गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति जदि हवे परम धम्मो।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया।। ७९१ ।।

अर्थ : यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री का वध नहीं करना परम धर्म है, सर्व प्राणियों पर दया परमधर्म क्यों नहीं है?

कबुतर के उपर दया आती है, तो फिर कौएं आदि पक्षियों के उपर क्यों नही? गाय के उपर दया आती है, तो फिर बैल आदि प्राणियों के उपर क्यों नहीं? धर्म के क्षेत्र में पशुओं को बुलाकर पशुओं पर बैठना और झुलुस निकालना और नाचते हुए खुशियाँ मनाना, ये सब धर्म नहीं है, बल्कि धर्म के नाम पर इन्द्रियों के विषयों का पोषण करना ही है। आज के युग में जनता को नाच-गाना ही चाहिए और उसमें भी धर्म के नाम पर नाच-गाना मिल जाये, तो कौन नहीं चाहेगा? विषय-कषाय का पोषण करने के लिये धर्म को साधन बनाने वाले जीव तो ऐसा ही सोचते हैं कि हमारा तो धर्म भी हो जायेगा और नाचना-गाना भी हो जायेगा। **भाई! धर्म नाचने-गाने का नाम नहीं है। अधिक भीड इकठ्ठी नहीं हो सके तो कोई बात नहीं, परन्तु धर्म के स्वरुप को विकृत करने का फल तो नरक ही है।**

इन्द्रियों के विषयों में धर्म मानकर समाज में धर्म एवं चमत्कार के नाम पर विषय-भोगों को पोषण करने का सुख क्षणिक ही होता है। हे जीव! मनुष्य भव में इतने उत्कृष्ट संयोगो को पाकर भी तेरा चित्त ख्याति-लाभ-प्रसिद्धि में डूब रहा है, तो समझ ले संसार सागर में डूबना बहुत दूर नहीं है।

जो आत्मा में प्रकट हो, वह दर्शन है, शरीर में प्रकट हो, वह प्रदर्शन है। याद रहे, धर्म इतना सस्ता नहीं है कि बाल-दाढी का मुंडन कराने से ही धर्म प्रकट हो गया। **मुंडन कराने से सिर का बोझ हलका हो सकता है, परन्तु कर्तृत्वबुद्धि का बोझ नहीं दूर होता है। मिथ्यात्व का मुंडन होने पर ही कर्तृत्वबुद्धि के बोझ से मुक्ति मिलती है।**

मुनिवर श्री रामसिंह जी ने पाहुडदोहा में इसप्रकार कहा है।

मुंडियमुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तु न मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जेह कियउ संसारहं खंडणु ते कियउ।। १३६ ।।

अर्थ : हे मुंड मुंडाने वाले में श्रेष्ठ मुंडी! तुमने सिर मुंडा लिया है, लेकिन चित्त नहीं मुंडाया है। जिसने मन का मुंडन कर लिया, वास्तव में उसने संसार का खण्डन कर दिया।

किसी नाई के पास जाकर बाल-दाढी का मुंडन कराने में तो थोडा धन भी खर्च करना पडता है। परन्तु बाल-दाढी बढाने में एक रुपया भी खर्च नहीं करना पडता। इसलिये खास याद रहे कि बाल-दाढी बढाने का नाम भी धर्म नहीं है। वास्तव में शरीर की किसी भी प्रकार की क्रिया धर्म नहीं है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ है क्योंकि धर्म आत्मा का है। अतः मात्र बाह्याचरण के बल पर धर्म को धारण नहीं किया जा सकता।

एक जटाधारी गुरु हाथ में दीपक लेकर रास्ते पर चलते हुए जा रहे थे, किसी शिष्य ने पीछे से दूर से ही उन्हें देखा। उसने विचार किया कि मैं भी अपने गुरु की तरह जटा बढाकर इसी रास्ते पर चलूं। ऐसा सोचकर उसने जटा बढाई और रास्ते पर चलने लगा। रास्ते पर चलते-चलते वह बार-बार ठोकरे खाने लगा क्योंकि उसके पास गुरु जैसा दीपक नहीं था। यदि शिष्य के पास जटा नहीं भी होती तो भी वह दीपक के बल पर रास्ते पर चल सकता था। परन्तु उसने गुरु की पीछे से ही पहिचान की और निकट जाकर देखा ही नहीं कि रास्ते पर चलने के लिये जटा बढाने की नहीं बल्कि दीपक की आवश्यकता होती है।

उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की एकतारुप रत्नत्रय के दीपक के बल पर गुरु मोक्ष के मार्ग पर प्रयाण करते हैं। परन्तु मुमुक्षु जन ऐसा सोचता है कि मैं भी अपने गुरुदेव की तरह बाह्य में वेष परिवर्तन करके मोक्षमार्ग पर चलूँ। ऐसा सोचकर वह वस्त्रादि परिवर्तन करके मोक्षमार्ग पर चलने का प्रयास करता है, परन्तु आत्मज्ञान रहित अज्ञानरुपी अंधकार के कारण मोक्षमार्ग पर चल ही नहीं पाता। यदि मुमुक्षु ने वस्त्र परिवर्तन नहीं किया होता, तो भी वह मुमुक्षु रत्नत्रयरुपी दीपक के बल पर मोक्षमार्ग पर चल सकता था। परन्तु उसने गुरु की बाहर से ही पहिचान की और अंतरंग में जाकर देखा ही नहीं कि मोक्षमार्ग पर चलने के लिये मुमुक्षु को सब से पहले बाह्य में वेश परिवर्तन करने की नहीं बल्कि रत्नत्रयरुपी दीपक की आवश्यकता होती है।

जिस प्रकार शरीर से वस्त्र उतारने में धर्म नहीं है, उसी प्रकार गले में माला पहन लेने का नाम धर्म नहीं है। लोग गले में माला पहनते हैं क्योंकि माला पहनी होगी तो परमात्मा को भूलने पर वह माला हमें याद दिलायेगी। **परन्तु जो परमात्मा को भूल सकता है, वह माला को भी भूल सकता है। प्रमाण के विषयभूत द्रव्य की माला में क्रमबद्धपर्याय के मोती का आधार ऐसे त्रिकाली निज परमात्मा का दर्शन कर लेता है, वही धर्मी है।**

४. श्रावक-श्राविका का स्वरूप एवं धर्म

निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अणुव्रतरुप वीतराग परिणति से युक्त जीवों को ही श्रावक-श्राविका की श्रेणी में स्थान प्राप्त होता है। व्यवहार से मद्य, मांस, मधु एवं पांच उदम्बर फलों का त्याग करके अष्ट मूलगुण का पालन करता है वही श्रावक कहलाता है। लोक में सेठ की प्रत्नी को सेठानी कहते हैं, ऐसे श्रावक की पत्नी होने मात्र में कोई स्त्री श्राविका नहीं हो जाती। श्रावक और श्राविका आत्मा की अवस्था है। अत: जिस स्त्री शरीर रहने वाले आत्मा में निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अणुव्रतरुप वीतराग परिणति और व्यवहार से मद्य, मांस, मधु एवं पांच उदम्बर फलों का त्याग करके अष्ट मूलगुण का पालन करता है, उसे ही श्राविका कहते हैं।

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकडी अभाव से आत्मा में प्रकट होने वाली वीतराग के बल पर पंचमगुणस्थान वर्ती श्रावक-श्राविका १. अहिंसाणुव्रत, २. सत्याणुव्रत, ३. अचौर्याणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत, ५. परिग्रहपरिमाणव्रत, ६. दिग्व्रत, ७. देशव्रत, ८. अनर्थदण्डव्रत, ९. सामायिकव्रत, १०. प्रोषधोपवास, ११. भोगोपभोगपरिमाणव्रत १२. अतिथिसंविभागव्रत इन बारह प्रकार के व्रतों का निरतिचार पालन करते हैं।

यद्यपि सदाचार के कारण लोक में श्रावक-श्राविका की संज्ञा दी जाती है। फिर भी मात्र कुल परम्परा के कारण स्वयं या अन्य को श्रावक एवं श्राविका मानना मिथ्यात्व है। क्योंकि कुल का सम्बन्ध शरीर के साथ है और श्रावक एवं श्राविका आत्मा की शुद्ध अवस्था है। आत्मा की शुद्ध अवस्था को शरीर में मानना मिथ्यात्व है। सत्य जानने से जीव दूर ही रहना चाहता है, वहाँ जीव की विषयभोगों की वृत्ति एवं अहंकार का भाव ही बाधक बनता है। **कुल परम्परा से प्राप्त गृहित मिथ्यात्व छोडने के लिये तो**

लोहे के चने चबाने जैसी शक्ति और साहस होना चाहिए।

यदि किसी जीव में साधु होने का सामर्थ्य नहीं है, तो साधु पद अंगीकार नहीं करना चाहिए। आगम में मुनिधर्म और गृहस्थधर्म ऐसे दोनों स्थिति में धर्म करने का उपदेश है। दोनों प्रकार के धर्मों में अपनी-अपनी भूमिकानुसार संयमित जीवन जीना चाहिए।

श्रावक-श्राविका की दशा के योग्य वीतराग परिणति का प्रकट होना ही भाव आवश्यक है। द्रव्य आवश्यक का स्वरुप इसप्रकर है।

१. देवपूजा - द्रव्य से, गुण से और पर्याय से वीतरागी देव का स्वरुप समझकर उनके गुणों का स्तवनादि करना देवपूजा आवश्यक है।

२. गुरु की उपासना - आत्मज्ञानी एवं आंशिक वीतरागी आचार्य, उपाध्याय, साधु का यथार्थ स्वरुप समझकर उनकी उपासना करना गुरु उपासना आवश्यक है।

३. स्वाध्याय - वीतरागता पोषक जिनेन्द्र भगवान की वाणी का पठन, चिन्तवन, मनन आदि करना स्वाध्याय आवश्यक है।

४. संयम - वीतराग भाव सहित अपनी भूमिकानुसार हिंसादि पापों से विरति और इन्द्रियों का निग्रह करना संयम आवश्यक है।

५. तप - वीतराग भाव सहित अपनी भूमिकानुसार अनशनादि तप करना तप आवश्यक है।

६. दान - अपनी शक्ति अनुसार आगम में निरुपित दान के उत्तम क्षेत्रों में अपना धनादि देना दान आवश्यक है।

श्रावक को श्रावक के प्रति वात्सल्य अवश्य होना चाहिए। परन्तु सर्वप्रथम वात्सल्य की परिभाषा समझ लेनी चाहिए। **निज भगवान आत्मा तीन लोक का स्वामी है, जब स्वामी के प्रति ऐसा वात्सल्य आता है कि भोजन करने या कराने का भाव भी नहीं आता, उसे स्वामी वात्सल्य कहते हैं।**

५. रात्रिभोजनत्याग

जैनधर्म में समस्त प्रकार के यम और नियम के पालन करने का मूल प्रयोजन निज आत्मा का हित हो, यही है। रात्रिभोजन के त्याग में मूल रहस्य यही है कि प्रत्येक आत्मा रात्रिभोजन का त्याग करके आत्महित करे। रात्रि में वातावरण में ओक्सीजन का प्रमाण कम मात्रा में होने से रात्रि में किये गये भोजन को पचने में बाधा पहुँचती है। शरीर में गया हुआ भोजन यदि पचता नहीं है, तो प्रमाद का कारण बनता है। वह प्रमाद आत्महित में बाधक होता है। क्योंकि यदि शास्त्र पढने के लिये, प्रवचन सुनने के लिये, आत्मतत्त्व के स्वरुप का विचार करने लिये प्रमाद बाधक बनता है, अतः रात्रिभोजन के त्याग का उपदेश इसलिये दिया है कि आत्मा के स्वरुप में स्थिर होने के लिये प्रमाद न हो।

आज तो विज्ञान भी सूर्यास्त होने से पहले ही भोजन करने को प्रमाद से बचने का उपाय बताता है। कुछ लोग शारीरिक स्वास्थ्य की द्रष्टि से रात्रिभोजन का त्याग करते हैं, परन्तु जहाँ प्रयोजन ही देह को पुष्ट करने का हो, ऐसा त्याग आत्मा के लिये हितकारी सिद्ध नहीं होता।

वास्तव में सूर्यास्त के अडतालीस मिनिट के पूर्व भोजनादि क्रियाओं से निवृत्त हो जाना चाहिए और सूर्योदय के अडतालीस मिनिट पश्चात् ही भोजनादि क्रिया होनी चाहिए। याद रहे, रात्रिभोजन के त्यागी को रात्रि में पानी या दवा आदि की छूट भी जिनागम में नहीं लिखी है। **वास्तव में स्वयं को रात्रिभोजन का त्यागी बताने से पहले त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रकट कर लेना चाहिए।**

किसी सम्यग्द्रष्टी महिला का दो महिने का बच्चा रात्रि में दूध पीने के लिये रोता है। यदि वह महिला उस बच्चे को रात्रि में दूध पीलायेगी तो क्या उसका सम्यग्दर्शन छूट जायेगा? नहीं, कदापि नहीं। अब सोचिए, जिनागम में कृत, कारित, अनुमोदना का पाप बताया है या नहीं? अतः रात्रिभोजन

से भी बडा पाप मिथ्यात्व है, ऐसा जानकर मिथ्यात्व से मुक्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। इस कथन का आशय ऐसा मत ग्रहण करना कि यहाँ रात्रिभोजन करने के लिये प्रेरणा दी है। आशय यह है कि सदाचार की द्रष्टि से जितना भी त्याग हो सके, ऐसा सदाचार सदैव पालने योग्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि देखो! जैन होकर रात्रिभोजन कर रहा है, जैन होकर अनछना पानी पी रहा है, जैन होकर वह ऐसा काम कैसे कर सकता है? अरे भाई! उस व्यक्ति की तरह तुम भी अपराध ही तो कर रहे हो। क्योंकि तुमने उसे जन्म से ही जैन मान लिया है, इसलिये तुम्हारे भाव बिगड रहे हैं। याद रखो, **जो जिनआज्ञा को मानता है, वही जैन है। इस बात को याद रखोगे तो यदि अपना बेटा भी जिनआज्ञा के विपरीत कार्य करेगा तो भी आपके भाव नहीं बिगडेंगे, प्रत्येक घटना का तुरन्त स्वीकार हो जायेगा। किसी भी आत्मा को पर्याय द्रष्टि से देखना ही अधर्म है। जिसे द्रव्यद्रष्टि प्रकट हुई है, वही सच्चा जैन है।**

६. सामायिक-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना

१) सामायिक : आचार्य अमितगति ने सामायिक की परिभाषा इसप्रकार लिखी है। समय अर्थात् आत्मा। आत्मा में स्थिर होने का नाम सामायिक है, शरीर की क्रियाओं में अटकने का नाम सामायिक नहीं है।

समय शब्द में सम् उपसर्ग अय धातु है। जो जानता है, गमन करता है तथा परिणमन करता है, उसे समय कहते हैं। समय के आश्रय से आत्मा में प्रकट होने वाली निर्मल परिणति को सामायिक कहते हैं। आत्मा की अनुभूति के बिना बाह्य में आजीवन द्रव्यलिंगी मुनिदीक्षा का पालन करने पर भी एक क्षण के लिये सामायिक नहीं होता है। **सम्यग्द्रष्टी को ही वास्तविक सामायिक होता है। वहाँ भी मुख्यरुप से मुनि को गौणरुप से सम्यग्द्रष्टी को सामायिक होता है। रागादि विकारी भाव पुदगल के परिणाम**

होने से उसे सामायिक नहीं कहते हैं।

सामायिक करने का राग भी वास्तविक सामायिक नहीं है। वीतराग भाव ही निश्चय सामायिक है। रागादिभाव को पुदगल के परिणाम कहे है क्योंकि रागादिभाव पुदगल द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से तथा पौदगलिक नोकर्म के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। **पुदगल कर्म के अभाव के निमित्त से तथा पुदगल संयोगों का आश्रय छोडकर त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा के आश्रय से वीतराग भाव प्रकट होता है, इसलिये वीतरागभाव ही वास्तविक सामायिक है।**

अज्ञानी पुदगल क्रिया करने में जागृत है, इसलिये चेतन की क्रिया में अर्थात् शुद्ध परिणति प्रकट करने में प्रमादी बनता है। आत्मा का अस्तित्व अनादि-अनन्त होने से आत्मा को अनन्तकाल तक सामायिक में रहने का पुरुषार्थ करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ३६८ में कहा है कि स्वयं ज्ञायक और स्वयं ज्ञेयरुप होकर निजात्मा के अतिरिक्त सर्व परद्रव्यों से अपना उपयोग हटाकर स्वयं का ज्ञाता स्वरुप में ही एकरुप होकर आत्मा को अपना उपयोग का विषय बनाना अथवा राग-द्वेष को हटाकर समभाव प्राप्त करके माध्यस्थ भावरुप आत्मा में लीन होकर उपयोग की प्रवृत्ति में समा जाना ऐसा जिसका प्रयोजन है, वही सामायिक है।

सामायिक के दो प्रकार है। १. निश्चय सामायिक २. व्यवहार सामायिक।

१. निश्चय सामायिक : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव वाले परमार्थभूत (आत्मा का) ज्ञान का भवन (परिणमन) मात्र अर्थात् एकाग्रता लक्षणरुप शुद्धात्मा की शुद्ध पर्याय निश्चय सामायिक है।

२. व्यवहार सामायिक : सम्यग्द्रष्टी आत्मा जब अपने शुद्धोपयोग में स्थिर रह नहीं सकते, तब उनका पुरुषार्थ राग-द्वेष दूर करने की ओर झूकता है, फिर भी उसमें अशुभभाव मिटे और शुभभाव रह जाते हैं, ऐसा पुरुषार्थ दो घडी या अधिक समय तक रखने का पुरुषार्थ करना व्यवहार सामायिक है।

जिस जीव ने सम्यग्दर्शन प्रकट करने के बाद आंशिक वीतराग में वृद्धि के बल पर व्रत धारण किया हो, वह जीव सामायिक व्रत करने के लिये योग्य जीव है। ऐसे जीव पंचम गुणस्थानवर्ती होते हैं। त्रिकाली शुद्ध निज आत्मा ही ध्यान करने योग्य है और उसका फल मुक्ति है। प्रथम शुद्धात्मा का स्वरुप जाने बिना शुद्धात्मा का ध्यान नहीं हो सकता है। **आत्मा की पहिचान किये बिना आत्मा का ध्यान खरगोश के सिंग का ध्यान करने समान मिथ्या है।**

सामायिक के श्लोक मुख से ही नहीं बोलना चाहिए। परन्तु उनके अर्थ समझकर भावभासन होना चाहिए। याद रहे, निश्चय सामायिक ही मुक्ति का कारण है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा को समय कहते हैं और व्यवहार काल का सबसे छोटे अंश को भी समय कहते हैं। **वास्तव में शुद्धात्मा को लक्ष्य में रखकर सामायिक होता है, घडी के समय को देखकर नहीं।** भोग भोगते समय घडी को सामने नहीं रखते हैं, तो फिर धर्म करते समय घडी की क्या आवश्यता है? जब चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की रुचि होती है, तब ही शुद्धात्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, वास्तविक सामायिक होता है।

२) प्रतिक्रमण : श्री कुन्दकुन्द आचार्य जी ने समयसार में प्रतिक्रमण की परिभाषा इसप्रकार लिखी है।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।। ३८३ ।।

अर्थ : भूतकाल में क़िये गये अनेक प्रकार के विस्तार वाले शुभाशुभ कर्मो से जो आत्मा को निर्वताता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

भूतकाल में किये गये भूल और अपराध बदले में प्रतिक्रमण किया जाता है। अनजाने से हो जाये उसे भूल कहते हैं और जानकर भी हो उसे अपराध कहते हैं। लोक में ऐसा ही भूल के बदले में माफी होती है, परन्तु अपराध के बदले में सजा होती है। अध्यात्म में दोनों ही के बदले में सजा

है। **चैतन्यस्वभावी निजशुद्धात्मा का आश्रय ही भूल, अपराध और सजा से मुक्त होने का उपाय है।**

श्री कुन्दकुन्द आचार्य जी ने समयसार में प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है और अमृतकुम्भ भी कहा है। इस कथन का आशय यह है कि प्रतिक्रमण करना पडे, यह हमारे लिये शोभा की बात नहीं है। जीवनभर प्रतिक्रमण करने का नियम लेने वाले जीव जीवनभर भूल करते ही रहेंगे ऐसा संकल्प लेकर ही बैठे है। भाई! अंतर की भावना तो ऐसी होनी चाहिए कि जीवन में कभी भूल ही न हो, कि जिससे प्रतिक्रमण करना पडे। **भूल से भिन्न निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही भूल छूट सकती है, भूल से बचा जा सकता है। निश्चय द्रष्टि से भूल न होना अर्थात् शुद्धोपयोग ही प्रतिक्रमण है।**

मात्र क्रिया से प्रतिक्रमण करने से ही प्रतिक्रमण नहीं हो जाता। जल्दी-जल्दी प्रतिक्रमण समाप्त हो जाये इसके लक्ष्य से प्रतिक्रमण के सूत्र ऐसे मानकर तीव्र वेग से बोले जाते हैं कि जल्दी-जल्दी प्रतिक्रमण बोलने से अधिक धर्म होता होगा। शब्दों के भावों को जाने बिना, प्राकृत और संस्कृत की गाथाओं और श्लोकों का पाठ करने से प्रतिक्रमण नहीं हो जाता। हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस भाषा में हमें भाव आते हो, उसी भाषा में पाठ-जाप करना चाहिए। क्योंकि शास्त्रों में शब्द तो होते हैं, परन्तु भाव नहीं होते। भाव सहित प्रतिक्रमण हो, वही वास्तविक प्रतिक्रमण है। **शुद्धभाव ही वास्तविक प्रतिक्रमण है।**

भूल होना भी औदयिकभाव और भूल होने के बाद आने वाला प्रतिक्रमण करने का भाव भी औदयिकभाव है। **आतंकवाद में अनेकांतवाद में लिखा है कि आग को आग से नहीं बुझाया जा सकता, आग को बुझाने के लिये पानी चाहिए। कषाय से कषाय को शान्त नहीं किया जा सकता। निश्चय द्रष्टि से चैतन्य स्वभावी निज शुद्धात्मा में स्थिर होने पर ही वीतराग भाव प्रकट होता है। वीतराग भावरुपी जल से ही रागादि भावों की आग को बुझाया जा सकता है।**

अज्ञानी ने बाह्य क्रिया को ही प्रतिक्रमण माना है, अज्ञानी जिसे

प्रतिक्रमण मानता है, वह भी अज्ञानी का अपराध है। खास बात तो यह है कि अज्ञानी को प्रतिक्रमणाभास का भी प्रतिक्रमण करना चाहिए।

अज्ञानी मानता है कि मैंने एकेन्द्रियादि छह काय के जीवों की हिंसा की, इसलिये मैं छह काय के जीवों से क्षमा चाहता हूँ। निश्चय से आत्मा ने किसी भी जीवों की हिंसा नहीं की है, परन्तु श्रद्धान में ऐसा माना है कि मैंने जीवों की हिंसा की है, अज्ञानी की मिथ्या मान्यता से ही निज आत्मा की हिंसा होती है। सम्यग्दर्शन होने पर ही मिथ्यात्व छूटता है, तब ही वास्तविक प्रतिक्रमण होता है।

मैंने इस निज भगवान आत्मा को एकेन्द्रियादि पर्यायों में परिभ्रमण कराया है, इसलिये निज भगवान आत्मा से ही क्षमा चाहता हूँ। वास्तव में त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ने किसी भी देह को ग्रहण भी नहीं किया और त्याग भी नहीं किया। फिर भी स्वयं को देहरुप माना, इस अपराध के बदल प्रतिक्रमण करना चाहिए। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को देह से भिन्न शुद्धात्मा मानते हैं, अतः सम्यग्द्रष्टी को ही वास्तविक प्रतिक्रमण होता है। निज शुद्धात्मा का यथार्थ स्वरुप समझकर उसी में अपनापन स्थापित कर स्थिर हो जाना ही प्रतिक्रमण है।

३) प्रत्याख्यान (पच्चखाण) : श्री कुन्दकुन्द आचार्य जी ने समयसार में प्रत्याख्यान की परिभाषा इसप्रकार लिखी है।

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।। ३८४।।

अर्थ : जिस भाव में भविष्यकाल का शुभ और अशुभ कर्म बंधता है, उस भाव से जो आत्मा निवर्तता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है।

भविष्य में होने वाले पापों को नहीं करने के संकल्प को प्रत्याख्यान कहते हैं। ऐसे ही पापों को नहीं करने का संकल्प करना चाहिए, जिसका पालन करने की शक्ति हो, क्योंकि जिनधर्म में पाप करने से अधिक दोष प्रतिज्ञा तोडकर पाप करने का बताया है। यह जानकर प्रतिज्ञा लेने से ही

दूर नहीं भागना चाहिए। आत्मा में निरंतर संयमित जीवन जीने की ही भावना होनी चाहिए।

यदि एक दिन के अनशन का पच्चखाण लेने के बाद अनशन नहीं पाला जायें, तो दोष उत्पन्न होता है, अब जरा सोचिए! मुनिधर्म पालन करने का पच्चखाण लेने के बाद यदि किसी जीव का मुनिधर्म दोषित होता हो, तो वह घोर अपराध है। अतः पच्चखाण का स्वरुप समझकर ही पच्चखाण लेना चाहिए। प्राकृत भाषा में लिये गये पच्चखाण का अर्थ न जानने से अच्छा तो यह होगा कि आपको समझ में आये ऐसी भाषा में प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। भाषा पर जोर न देकर, भाषा का आग्रह न रखकर, संकल्प के भावों पर जोर देना चाहिए।

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ही लीन होने की प्रतिज्ञा किसी भी अज्ञानी ने आजतक नहीं ली है। मिथ्यात्व का पोषण नहीं करने का पच्चखाण कभी-भी नहीं लिया है। वास्तव में आत्मा में होने वाले विकल्पों में से अपनापन छूटकर ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित हो, तभी वास्तविक पच्चखाण होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द जी ने समयसार की ३४ वीं गाथा में ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है। वहाँ इसप्रकार लिखा है।

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।। ३४।।

अर्थ : निज शुद्धात्मा के अलावा समस्त भाव परभाव है, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है, इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

उक्त कथन का आशय यह है कि ज्ञान में त्यागरुप अवस्था जानने में आना ही प्रत्याख्यान है। उपयोग में उपयोग का स्थिर होना ही प्रत्याख्यान है। अतः याद रहे, सम्यग्द्रष्टी को ही प्रत्याख्यान होता है।

४) आलोचना : श्री कुन्दकुन्द आचार्य जी ने समयसार में आलोचना की परिभाषा इसप्रकार लिखी है।

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा।। ३८५ ।।

अर्थ : वर्तमान काल में उदय में आने वाले अनेक प्रकार के विस्तार वाले शुभ और अशुभ कर्मो के दोषों को जो आत्मा ज्ञाताभाव से जान लेता है, वह आत्मा वास्तविक आलोचना है।

वर्तमान में आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भावरुप दोषों का खेद होना आलोचना है। वीतरागी देव और गुरु के सामने अपने द्वारा किये गये पापों का स्वीकार करके उन दोषों से मुक्त होकर निज शुद्धात्मा में लीन हो जाना ही वास्तविक आलोचना है। **पाप होना और पाप का खेद न होना बहुत बडा पाप है। शरीरादि क्रियाओं में अपनापन करके शरीर को पुष्ट करने में खेद होना चाहिए।** आत्मा की वर्तमान पर्याय में अशुद्धता है, द्रव्य स्वभाव त्रिकाल शुद्ध होने पर भी वर्तमान में पर्याय की अशुद्धता जानकर उसे दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

हे भगवान! मैंने एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवों के प्रति करुणा न करके निर्दयतापूर्वक घात किया है, मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदना से समरंभ, समारंभ और आरंभ किये हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ करके अनेक पाप किये हैं, मैं उन पापों की आलोचना करता हूँ। एकांत, विपरीत, संशय, अज्ञान और विनय इन पांच प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन किया है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप किये है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा अनेक कर्मों का बन्ध किया है। मैंने मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों का भक्षण करके श्रावक के अष्ट मूलगुण का सेवन नहीं किया है। भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार किये बिना ही मैंने बाईस प्रकार के अभक्ष्य का सेवन करके अनेक पाप किये हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय और हास्यादि ९ नोकषाय से अनेक पाप किये हैं। मात्र जागते समय ही नहीं, नींद में भी स्वप्न में भी अनेक पाप किये हैं। मैंने आहार, निहार और विहार में भी विवेक रहित प्रवर्तन किया

है। मैंने जमीनकंद और हरितकाय वनस्पति का भक्षण करके बहुत ही आनन्द मनाया है। मैंने जब भी अग्नि जलाई, तब बिना देखे ही लकडी उठाई और जला दी, उसमें जो भी जीव थे, उनके प्रति करुणा का भाव ही नहीं आया। झाडू लगाते समय चींटी-चींटा आदि जीवों का घात किया। अनछना पानी पीकर भी जीवों का घात किया है। जब नदी में कपडे धोते हैं, तब मलिन पानी में अनेक जीव मरते हैं और अनेक किलोमीटर तक वह पानी आगे बढता है और हिंसा आगे बढती जाती है, मैंने ऐसी हिंसा भी की है। धन कमाने के लिये अनेक पाप किये हैं। कमाये हुए धन को भोगने में भी अनेक पाप किये हैं। इसप्रकार मैंने अनगिनत पाप करके अपने में दोष उत्पन्न किये हैं।

उपरोक्त समस्त पापों का मूल कारण यही है कि मैंने स्वयं को त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा नहीं माना है, स्वयं को शरीर के रुप में माना। **इन समस्त दोषों से मुक्त होने का उपाय यही है कि पापों को पर्याय में स्वीकार करके द्रव्य स्वभाव में त्रिकालवर्ती किसी पाप या पुण्या का प्रवेश हो ही नहीं सकता, ऐसे निज शुद्धात्मा में स्थिर होने वाली परिणति ही वास्तविक आलोचना है।**

इसप्रकार जैन कुल में जन्म लेकर जन्म से ही सामायिक, प्रतिक्रमण, पच्चखाण और आलोचना करने वाले जीवों को भी इनके यथार्थ स्वरुप का ज्ञान न होने से शरीरादि की क्रिया में ही धर्म मानते हैं, जगत के क्षणिक भोगों से विरक्त होकर अनित्य की असारता के बोध के बल पर नित्य निज शुद्धात्मा में ही स्थिर हो जाना धर्म है। **जैसे तैरना ही, तैरना सीखना का उपाय है, ऐसे ही ज्ञाता रहने का अभ्यास ही, ज्ञाता रहने का उपाय है।**

७. तीर्थ एवं तीर्थयात्रा का स्वरूप एवं फल : रहस्य

तीर्थंकरों ने तीर्थ की स्थापना की थी इस कथन का आशय ऐसा नहीं है कि उन्हों ने श्री सम्मेदशिखर जी, श्री गिरनार जी, श्री शत्रुंजय तीर्थ आदि पहाडों को बनाया था। वे पहाड तो ऐसी भूमि हैं, जहाँ तीर्थंकरों ने तीर्थ की स्थापना की थी। भगवान के द्वारा समझाया हुआ तत्त्वज्ञान ही वास्तविक तीर्थ है। अज्ञानी को तत्त्वज्ञानरुपी तीर्थ की महिमा ही नहीं आती, परन्तु जिस भूमि पर भगवान ने तत्त्वज्ञान दिया था, उस भूमि की ही महिमा आती है।

यद्यपि उस पावन भूमि की महिमा अवश्य आनी चाहिए और तीर्थ भूमि की यात्रा भी अवश्य करनी चाहिए परन्तु तीर्थभूमि की यात्रा करने में ही मनुष्य भव व्यतीत हो जायें और तीर्थंकरो के तत्त्वज्ञानरुपी असली तीर्थ को जानने का समय ही नहीं रहे तो जिस प्रकार भूतकाल में अनन्त भवों में आत्मा का असली स्वरुप समझें बिना ही संसार परिभ्रमण किया था, ऐसे ही भविष्य में आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना अनन्त संसार परिभ्रमण ही होगा।

कोई भी आत्मा अपने निर्वाण से सीधे ही उपर लोक के अग्रभाग पर विराजमान होते हैं। सिद्धशिला पर विराजमान होने के बाद अनन्तकाल तक एक स्थान पर ही स्थित होते हैं। महावीर भगवान आज भी पावापुरी के उपर विराजमान है। जब तीर्थयात्रा करने जाते हैं, तब सिद्धक्षेत्र पर उपर देखकर सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करते हैं। यद्यपि सिद्ध भगवान उपर दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु वहाँ भी हमारे भावों की ही प्रधानता हैं।

तीर्थयात्रा करने का उद्देश तो यही है कि तीर्थंकरादि महापुरुषों की तीर्थभूमि पर जाकर जिनदेव के दर्शन करके हम निजदेव के दर्शन करें। सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर ही तीर्थयात्रा सफल होती है।

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर लिखा हैं कि सम्मेदशिखर आदि तीर्थो की तीर्थयात्रा करने वाले जीवों को नरक आयु एवं तिर्यंच आयु का बंध

नहीं होता है। इस वाक्य को पढकर अधिकांश लोग तीर्थयात्रा करने की भावना जताते हैं। परन्तु शास्त्रों में स्पष्ट लिखा हैं कि **भाव** सहित वन्दना करने वाले जीवों को नरक आयु एवं तिर्यंच आयु का बंध नहीं होता है।

भाव शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारुप रत्नत्रय है। सम्यग्द्रष्टी जीवों को सम्यग्दर्शन प्रकट होने के बाद नरक एवं तिर्यंच आयु का बंध नहीं होता है। सम्यग्द्रष्टी को ४१ कर्म प्रकृतियों का आश्रव एवं बंध नहीं होता है, उनमें नरक गति, तिर्यंच गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी भी सम्मिलित है, अतः वहाँ भाव सहित यात्रा करने वालें सम्यग्द्रष्टी ही समझना चाहिए।

व्यवहार से देखा जायें तो भी यदि भाव का महत्व नहीं होता तो भाव रहित जीवों की भी सुगति हो जानी चाहिए। परन्तु मात्र क्रिया करने से ही दुर्गति से नहीं बचा जा सकता। चींटी, मच्छर, आदि अनेकानेक जीव ऐसे हैं जो कि इन तीर्थों पर ही जन्म लेते हैं, सारा जीवन वहीं जीते हैं और वहीं मर जाते हैं। तीर्थ की पवित्र भूमि पर सारा जीवन जीने पर भी उनका कल्याण नहीं होता। क्योंकि जब तक तीर्थंकर एवं उनके द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञानरुपी तीर्थ को जानेंगे नहीं, तब तक तीर्थंकर एवं तीर्थ के प्रति महिमा का भाव ही नहीं आयेगा।

भाव के बिना मात्र क्रिया करने से ही मुक्ति मिल जाती, तो पशुओं को भी नग्रता आदि अपरिग्रही होनेरुप क्रिया के कारण मुक्ति मिल जानी चाहिए। और हाँ, निर्धन लोगों का भी धन रहित होने के कारण मात्र क्रिया से उनका आत्महित हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा तो कदापि होता नहीं है।

यदि तीर्थयात्रा से ही मोक्ष मान लेंगे तो आदिनाथ भगवान आदि परमात्माओं ने आत्मा का ध्यान क्यों किया? आत्मा के ध्यान से पहले आत्मा का ज्ञान क्यों किया? **आत्मा को बार-बार जानने का नाम ही आत्मध्यान है। जिस आत्मा को हमें बार-बार जानना है, उस आत्मा को एक बार तो अवश्य जानना होगा।** अतः आत्मा का यथार्थ स्वरुप जाने बिना, समझें बिना तीर्थयात्रा सफल नहीं होती हैं।

जब हम अपने जीवन के पाप का हिसाब नहीं रखते हैं तो फिर पुण्य का हिसाब भी क्यों रखते हैं? हम इस बात का प्रदर्शन करना क्यों चाहते हैं कि हमने गिरनार जी की इतनी बार यात्रा की या हमने शत्रुंजय की निन्यानवें बार यात्रा की। चाहे कितनी बार भी पहाड चढकर नीचे उतर जायें और फिर पहाड चढ जायें, परन्तु जब तक आत्मा में से क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारी भावों का अभाव नहीं होगा, तब तक संसार परिभ्रमण से मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। निज आत्मा की यथार्थ पहिचान किये बिना क्रोधादि भावों का अभाव कदापि सम्भव नहीं है।

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि तीर्थों की यात्रा करने से पाप धूल जाते है, नष्ट हो जाते हैं। वे मानते हैं कि अनेक भवों में बांधे हुए कर्म भी तीर्थों की यात्रा करने मात्र से धूल जाते हैं। ज्ञानी अत्यंत करुणाभाव से समझाते हैं कि **भाई! तीर्थों की यात्रा करने से भूतकाल में किये गये पाप नष्ट हो जाते हो, तो सारा जीवन पाप करके एक बार तीर्थयात्रा कर लें तो महावीर भगवान ने मुनि दीक्षा अंगीकार करके बारह वर्षों तक एकांत में आत्मसाधना क्यों की थी?** वास्तव में तीर्थयात्रा करके पाप को धोने की मान्यता ही अज्ञानी जीव को पाप से मुक्त नहीं होने देती।

एक कवि ने व्यंग्य में कहा है कि हे गंगा मैया! सारा जगत तुझे पाप को धोने वाली मानता है, परन्तु मैं मानता हूँ कि तू पाप की नाशक नहीं है, बल्कि पाप की प्रचारक है। लोग मानते हैं कि बडे से बडे पाप भी गंगा में डूबकी लगाने से धूल जायेंगे इसलिये पाप करने से डरने की कोई जरुरत नहीं है। आज वे पाप करते जाते हैं और गंगा में स्नान करते जाते हैं। उनकी इस मान्यता के कारण ही उन्हें पाप से छूटने का विचार भी नहीं आता। इसीप्रकार गिरनार एवं शत्रुंजय की तीर्थयात्रा करने से पाप धूल जायेंगे ऐसा मानकर तीर्थयात्री पाप करने से रंचमात्र भी नहीं डरते हैं।

धर्म के क्षेत्र में तीर्थ एवं तीर्थों की सुरक्षा के नाम पर होने वाले विवाद का मूल कारण अहंकार ही तो है। कुछ पल के लिये ही यह मनुष्य जीवन मिला है और ऐसे अमूल्य मानव जीवन में भी लोग धर्म के नाम पर कर्म

बांधते है। करोडों रुपये खर्च करते हैं। उसमें भी चक्रवर्तियों के उदाहरण दिये जाते हैं। वे कहते हैं कि भरत चक्रव्रर्ती आदि आत्मज्ञानी सम्यग्द्रष्टी थे, फिर भी उन्होंने युद्ध किया था। ऐसा कहकर वे अपने दोषों को छुपाने का प्रयास करते हैं। साधक जीवों को कोर्ट-कचहरी आदि से दूर रहना ही उचित है। **भाई! अदालत में इतनी अधिक रुचि है तो ज्ञान की अदालत में श्रद्धा को खडी करके पूछ कि वह किसके ओर झुक रही है?** श्रद्धा में इन्द्रियों के भोग रुचिकर लगते है या चैतन्य स्वभाव का अमृत प्रिय लगता है?

लोग तीर्थयात्रा करने तो जाते हैं, परन्तु जब तक इन्द्रिय विषयों की रुचि मंद भी न होवे, तो फिर तीर्थयात्रा करने का क्या प्रयोजन है? कदाचित् भूखा भी रहे, परन्तु मैं शरीर से भिन्न भगवान आत्मा हूँ, ऐसा भेद नहीं जानें, तब तक शरीर के भूखा रहने से अहंकार का बोझ ही बढता है। हे जीव! शरीर की क्रिया को जड की क्रिया जानकर निरंतर नित्य प्रकट चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित कर, तब ही तेरा कल्याण होगा।

लोक में दश दिशा मानी जाती है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, इशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, उर्ध्व एवं अधो। अध्यात्म में कहते हैं कि **ग्यारहवीं दिशा ज्ञायक की दिशा है।** अज्ञानी ने आजतक दशों दिशाओं की यात्रा की परन्तु ग्यारहवीं ज्ञायक की दिशा की यात्रा आजतक कभी नहीं की। **ज्ञायक की यात्रा ही वास्तविक यात्रा है। यही एक मात्र यात्रा है, जो जीव को मोक्ष पहुँचाती है, शेष सब यात्रा कहीं पहुँचाती नहीं, बल्कि संसार में ही भटकाती है।**

मुनिवर श्री रामसिंह जी ने पाहुड दोह में लिखा है।

आराहिज्जइ काइं देउ परमेसरु कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ ।। ५१ ।।

अर्थ : क्या देव कहीं बाहर चला गया है जो उसकी आराधना की जाए? जो भगवान आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, उसका विस्मरण कैसे किया जा सकता है?

देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्धु गवेसहि भेउ।। ५४ ।।

अर्थ : देहरुपी देवालय में जो शक्तियों से सहित देव बसता है; हे जोगी! वह शक्तिमान शिव कौन है? इस रहस्य की शीघ्र ही खोज कर।

तित्थइं तित्थं भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसिं तुहुं मइलउ पावमलेण।। १६४ ।।

अर्थ : हे मूर्ख तुमने एक तीर्थ से दुसरे तीर्थ भ्रमण किया है और शरीर के चमडे को जल से धोया है। किन्तु जो मन पापरुपी मल से मैला है, उसे किस प्रकार धोयेगा?

देहादेवलि सिउ वसइ तुहु देवलइं णिएहि।
हासउ मउ मणि अत्थि इहु सिद्धें भिक्ख भमेहि।। १८७ ।।

अर्थ : देहरुपी मन्दिर में शिव निवास करता है, किन्तु तुम मन्दिरों में उसे खोजते हो। मुझे मन-ही-मन हँसी आती है कि सिद्ध भगवान से भीख माँगने के लिये भटक रहे हो।

लोहाणुवेक्खा में भी कहा है।

हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहिं सिव संतु मुणेइ।
मूढा देवलि देव णवि, भुल्लवु काइं भमेइ।। ३८ ।।

अर्थ : साढे तीन हाथ के देवालय में शिव परमात्मा विराजमान है- ऐसा समझ। हे मूढ! देवालय में देव नहीं है। भूला हुआ कहाँ भटक रहा है?

आचार्य श्री योगीन्दु जी ने योगसार में लिखा है।

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्दु वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु।। १०५ ।।

अर्थ : वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म है, वही अनन्त है और वही सिद्ध है।

आचार्य श्री कुलभद्र जी ने सार समुच्चय के ३११ श्लोक में भी लिखा है। जब यह आत्मा शान्तभाव में तिष्ठता है, तब यही महान तीर्थ है। यदि आत्मा में शान्ति नहीं है, तो तीर्थयात्रा निरर्थक है।

परमात्म प्रकाश में कहा है।

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ निरंजणु णाणमउ सिउ सथिजु सम चित्ति।। १-१२३ ।।

अर्थ : परमात्मा देवालय में नहीं है, पत्थर की मूर्ति में भी नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्राम की मूर्ति में भी नहीं है। वह देव अविनाशी है, कर्म अंजन से रहित है, केवलज्ञान से पूर्ण है, ऐसा निज परमात्मा समभाव में स्थित है।

मुनिवर श्री रामसिंह जी ने पाहुड दोहा में कहा है।

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोडेहि तुहु सो सिउ एत्थु चडाहि।। १६१ ।।

अर्थ : हे जोगी! पत्ते मत तोडो और फलों को भी हाथ मत लगाओ। जिस कारण से तुम उनको तोडते हो सो वह शिव यहाँ है। अतः यहीं चढा दे।

भावार्थ : साधु महाव्रत के धारक होते हैं। उनके जीवन में अहिंसा महाव्रत होता है, जिसमें त्रस और स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग होता है। जब पाक्षिक श्रावक पर्व के दिनों में शाक-पत्ते, फूल व फल आदि को नहीं छू सकता है, तब भोजन में कैसे खा सकता है? इसलिये जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है कि मुनि को पत्ती नहीं तोडनी चाहिए, फलों को हाथ नहीं लगाना चाहिए।

इस जीव ने आज तक परमात्मा को चलकर पाने की कोशिश बहुत बार की थी, परन्तु विकल्पों के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगा। जब एक बार स्थिर होकर अंतर्मुख होकर अन्दर देखा परमात्मा यहीं विराजमान पाया। कुछ लोग महाविदेहक्षेत्र जाकर विहरमान बीस तीर्थंकरों के दर्शन करना चाहते हैं। परन्तु वे जानते नहीं है कि बीस तीर्थंकरों के

दर्शन ऐसे नहीं होते हैं। यदि मन को विश्राम मिले, तो एक राम नहीं **वीस+राम=विश्राम** मिल जाते हैं। महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान वीस तीर्थंकर के दर्शन यहीं हो जाते है। आशय यह है कि निर्विकल्प आत्मानुभूति के फल में आतमराम की अवश्य प्राप्ति होगी। **एक आतमराम का अनुभव होने से ज्ञानी अनन्त सिद्धों को जान लेते हैं।**

८. प्रार्थना-पूजा-भक्ति : रहस्य

पर परमात्मा के प्रति निज परमात्मा में उत्पन्न होने वाले स्तवनादि शुभभाव के फल में परमात्मा के प्रति अत्यंत अहोभाव व्यक्त होते-होते निज परमात्मा के स्वरुप चिन्तवन के बल पर परमात्मा से द्रष्टि हटकर निज परमात्मा के ध्यान में लीन होने का नाम ही वास्तविक प्रार्थना-पूजा-भक्ति हैं। हिंसादिक अशुभ भावों से ही नहीं, चैतन्य स्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रार्थना-पूजा-भक्ति आदि शुभभावों से भी मुक्त होकर शुद्धभाव की प्राप्ति होना ही प्रार्थना-पूजा-भक्ति का मूल हेतु है।

१) प्रार्थना : पर परमात्मा के प्रति निज परमात्मा में उत्पन्न होने वाले स्तवनादि के शुभभावों को प्रार्थना कहते हैं। वैसे तो प्रत्येक आत्मार्थी जीवों को सुबह उठकर और रात को सोने से पहले नव बार णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। निश्चय से णमोकार मंत्र में किसी पराये आत्मा की निर्मल पर्याय को नमस्कार नहीं किया है, परन्तु निज आत्मा की भावि निर्मल पर्याय को लक्ष्य में रखकर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि इन पाँचों परमेष्ठी पर्यायों से भी भिन्न त्रिकाल चैतन्य स्वभावी निज शुद्धात्मा ही द्रष्टि का विषय है। आत्मस्वरुप का चिन्तन करके निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रकट होना प्रार्थना करने का रहस्य है।

सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय होने वाली प्रार्थना का रहस्य यह है कि सूर्योदय के समय प्रकृति में रात से दिन में परिवर्तन होता है और सूर्यास्त

के समय प्रकृति में दिन से रात में परिवर्तन होता है। बाह्य प्रकृतिओं के परिवर्तन के काल में अपने आत्मा में भी रागादिभावों से वीतरागभाव में परिवर्तन आये, यह प्रातःकाल और संध्याकाल प्रार्थना करने का रहस्य है।

प्रार्थना करने में अधिकांशतः लोग परमात्मा से फरियाद ही करते हैं। प्रार्थना में भी निज चैतन्य स्वभाव की अनुभूति तक ले जायें, ऐसी ही होनी चाहिए। परमात्मा की याद आती है, तो लोग परमात्मा को फरियाद करते हैं, ज्ञानी कहते हैं कि **जब हमें परमात्मा की याद आती हैं, तब हम परमात्मा से फरियाद नहीं करते, बल्कि हमें तो सहज ही निजात्मा ही याद आती है।**

यदि प्रार्थना भाव से करेंगे तो परमात्मा प्रसन्न नहीं होते, प्रार्थना से तो निजात्मा का स्मरण होता है, जिससे निजात्मा ही प्रसन्न होता है। स्वयं की प्रार्थना का फल स्वयं को ही मिलता है, स्वयं की प्रार्थना का फल परमात्मा को नहीं मिलता। अतीन्द्रिय सुख एवं शान्ति की प्राप्ति ही प्रार्थना करने का यथार्थ फल है।

२) पूजा : सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति पूज्यता भाव ही पूजा है। लोक में विद्यागुरु-माता-पिता आदि को भी पूज्य या परम पूज्य लिखा जाता है। परन्तु वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के समान पूजा करने योग्य नहीं हैं। विद्यागुरु-माता-पिता का यथोचित आदर अवश्य होना चाहिए। देव और गुरु हमारे आदर्श है और आदर्श देव-गुरु की वाणी ही शास्त्र है, अतः देव-शास्त्र-गुरु को पूज्य कहा है। किसी बच्चे को क्रिकेटर होना हो, तो दुनिया का ख्यातिप्राप्त क्रिकेटर उसके लिये आदर्श है, परन्तु उसे सुबह-शाम क्रिकेट सीखाने वाले गुरु उस बच्चे के लिये आदरणीय है। ऐसे धर्मगुरु हमारे आदर्श है और विद्यागुरु आदरणीय है।

सच्चे देव ही परमात्मा है। वे पर परमात्मा है। निज शुद्धात्मा ही निज परमात्मा है। पर परमात्मा की पूजा परद्रव्य से होती है, निज परमात्मा की पूजा निज द्रव्य से होती है। क्योंकि पर परमात्मा की पूजा करना व्यवहार है और व्यवहार में पर साधन की आवश्यकता होती है। यदि आत्मद्रव्य की भी अष्टद्रव्यों से पूजन करने लगेंगे अर्थात् निज आत्मा के साथ भी

व्यवहार करेंगे, उसे भी पराई श्रेणी रखेंगे तो एकत्व करने योग्य रहा ही क्या? किसके बल मुक्ति की प्राप्ति होगी? **निज भगवान आत्मा के श्रद्धान से, निज भगवान आत्मा के ज्ञान से, निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही निज भगवान आत्मा की निश्चय पूजा होती है।**

अज्ञानी जीवों को इस बात की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती है कि बाह्य में होने वाले समस्त संयोग-वियोग अपने ही पूर्वकर्मो का फल है, वह संयोग-वियोग तो क्षणिक है और मैं भगवान आत्मा उन कर्मो से और उन कर्मो के फल से भिन्न नित्य शुद्ध चैतन्य स्वभावी हूँ। ऐसी श्रद्धा के अभाव के कारण ही, वे संसार की प्रतिकूलताओं को दूर करने के लिये वेदनीय कर्म, नव ग्रह, पद्मावती देवी, भैरव देव आदि की पूजा करते और कराते हैं। चैतन्य स्वभाव की रुचि होने पर गृहित मिथ्यात्व में कारणभूत समस्त रागी देवी-देवताओं को पूजने का या नमस्कारादि करने का भाव ही नहीं आता है।

ज्ञानी महापुरुष कर्मो की या कर्मो को भोगने वालें रागी देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते हैं, न ही कराते हैं और न तो ऐसी पूजा की अनुमोदना करते हैं। वे तो वीतरागी धर्म की और वीतरागी धर्म को प्रकट करने वाले वीतरागी देव और गुरु की पूजा करते हैं। वीतरागी देव और गुरु की पूजा करने वाले महापुरुष को सहज ही वीतरागता की पोषक ऐसी जिनवाणीरुपी शास्त्र की पूजा करने के भाव भी सहज ही आते हैं। इसप्रकार **वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की पूजा करने वाले साधक को प्रतिक्षण इस बात की जागृति रहती है कि निज भगवान आत्मा ही साधना का साध्य है, आराधना का आराध्य है, ध्यान का ध्येय है।**

३) भक्ति : भक्त को भगवान से जोडनेवाली ज़ंजीर को भक्ति कहते हैं। भक्ति से मुक्ति नहीं मिलती फिर भी जब तक जीव की दशा अपूर्ण है अर्थात् राग का भाव विद्यमान है, तब तक साधक को वीतरागी भगवान की भक्ति का भाव आता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पूजा की तरह उन्हीं की भक्ति की जाती है, विद्यागुरु या माता-पिता की नहीं। वे यथोचित आदर-सम्मान करने योग्य अवश्य है, परन्तु भक्ति करने योग्य नहीं।

श्री मांनतुंग आचार्य जी द्वारा रचित भक्तामर स्तोत्र भी श्री आदिनाथ भगवान की भक्ति ही तो है। राग से वीतरागता और अल्पज्ञता से सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिये भक्तामर स्तोत्र का पाठ किया जाना चाहिए, परन्तु अज्ञानी भक्तामर स्तोत्र को चमत्कारिक स्तोत्र मानकर अपने सांसारिक प्रयोजनों को सिद्ध करना चाहते हैं।

भक्त को इस बात का खयाल रखना चाहिए कि भक्ति तो भावप्रधान होती है, अतः भावों की निर्मलता की कारणभूत भक्ति ही आत्महित में सहायक होती है। भक्ति शब्दों के साथ-साथ भक्ति गाने का लय भी विषेश महत्त्वपूर्ण है। अधिकांशतः फिल्मी ट्युन पर गाई जाने वाली भक्ति में तो फिल्म के गीतों का ही भाव आता है। स्वयं को बडे विद्वान मानने वाले और मनाने वाले लोगों को भी फिल्मी ट्युन पर भक्ति की रचना करने का विकल्प उठता है।

कुछ लोग ऐसी भक्ति भी गाते हैं कि जिनवाणी.. जिनवाणी.., जाना नहीं, मुझे छोडके, मुझे छोडके। ऐसी भक्ति गाने में तो परदेसी.. परदेसी.., जाना नहीं, मुझे छोडके, मुझे छोडके, इसीप्रकार के भाव ही उत्पन्न होते हैं। **अरे भाई! परदेसी जा रहा है, तो जाने दे। राग-द्वेष के भाव परदेसी ही है। अनादिकाल से निज आत्मा के स्वदेश में रहकर तुझे गुलाम ही बना रहे थे। अब तो राग-द्वेष से स्वतंत्र होकर वीतरागी होने का अवसर आया है।**

भक्ति गाते वक्त याद रहना चाहिए कि भक्ति का आनन्द आ रहा है या भक्ति के साथ बजने वालें संगीत का आनन्द आ रहा है? कहीं ऐसा न हो जायें कि कर्णेन्द्रिय के विषयों की पुष्टि को ही हम भगवान की भक्ति मान रहे हो।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्षप्राप्ति के दो मार्ग है। पहिला ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग। वे ज्ञानमार्ग को कठिन और भक्तिमार्ग को सरल मानते हैं। कोई ऐसा मानते हैं कि बचपन तो खेलने-कुदने के लिये ही होता है, इसलिये बाल्यावस्था में मोक्ष प्राप्ति का उपाय खोजने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। वे आगे कहते हैं कि युवावस्था और वृद्धावस्था

में मोक्षप्राप्ति के अलग-अलग मार्ग है। युवावस्था में स्मरणशक्ति अधिक होने के कारण ज्ञानमार्ग ही अधिक श्रेयस्कर है एवं वृद्धावस्था में शारीरिक शिथिलता के कारण भक्तिमार्ग ही अधिक कार्यकारी है।

ज्ञानमार्ग में ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम की प्रधानता है जबकि भक्तिमार्ग में चारित्र मोहनीयकर्म के उदय की प्रधानता है। अन्यमत में भी माया को आत्मा की अहितकर्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि माया ही जीव का अमूल्य समय लूंट रही है। **जिस पुरुष के साथ भक्तिरुपी स्त्री होगी, उस पुरुष पर मायारुपी स्त्री निगाह भी नहीं डालेगी।** अन्यमत में भी भक्ति के द्वारा ही माया का नाश कहा है।

ज्ञानमार्ग में भगवान वक्ता होते हैं और भक्त श्रोता। भक्तिमार्ग में भक्त वक्ता होते हैं और भगवान श्रोता। जरा सोचिए! भगवान को सुनना श्रेष्ठ है या भगवान को सुनाना? भगवान तो केवली है इसलिये हम जो भगवान सुनाना चाहते हैं, वह सब भगवान जानते हैं, लेकिन भगवान ने जो कहा है, वह सब हम नहीं जानते हैं। **वास्तव में भगवान के उपदेश को अपने जीवन में अपनाकर वीतरागता के पथ पर चलना ही भगवान की भक्ति है।** भक्ति के शब्द, संगीत, राग का विकल्प आदि सब ज्ञान के ज्ञेय ही हैं, मैं चैतन्य स्वभावी आत्मा पर और पर्याय से भिन्न त्रिकाल हूँ, ऐसे तत्त्वविचार के बल पर निर्विकल्प अनुभूति होना ही भगवान के उपदेश को जीवन में अपनाने का रहस्य है।

९. सत्संग की महिमा

जब तक जीव की निमित्ताधीन द्रष्टि है, तब तक उस भूमिका में तो जिज्ञासु जीवों को आत्मा में धर्म धारण करने हेतु निरन्तर सत्संग करना चाहिए। मात्र गृहस्थ ही नहीं, मुनि भी आहार ग्रहण करने हेतु वचन से मौन होकर अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त के लिये गृहस्थ की संगति में आते हैं, तो भी ऐसा जानते हैं कि अरे! अभी कैसे कर्मोदय है कि जिस गृहस्थदशा को त्याग चुके, उस गृहस्थ के घर पर काजल जैसी काल कोठरी में जाना पड रहा है। फिर वह घर गृहस्थ का महल भी क्यों न हो? मुनि के लिये तो महल भी कालकोठरी ही है। महलों को छोडकर रास्ते पर चलने वालें मुनिराज का स्वरुप जानकर भी अज्ञानी बोध ग्रहण नहीं करता, वह रास्ते से महलों में जाने के सपने ही देखता है और उसे पूरा करना चाहता है। **जब छठवें-सातवें गुणस्थान में हर अंतर्मुहूर्त में झुलने वाले भावलिंगी मुनि भी विषय लोलुपी अज्ञानीजनों के संगति के निमित्त से बचने का प्रयास करते हैं, तो अज्ञानीजनों को असत्संग से हटकर सत्संग में रहने की कितनी आवश्यकता है, आत्महित करने की जिसकी भावना है, वे जीव इसका विचार कर सकते हैं।**

यद्यपि इस काल में सत्संग प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। क्योंकि हम सत्संग का अर्थ भी पर का संग समझते है। सत् अर्थात् त्रिकाली, ध्रुव, निज भगवान आत्मा। **जब पर्याय त्रिकाली, ध्रुव भगवान आत्मा का संग करती है, द्रव्य के साथ पर्याय अभेद होती है, तब वास्तविक सत्संग होता है।** वह सत्संग किसी भी परद्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता है। वास्तव में ज्ञानियों के पास टिकना अति दुर्लभ है। जौहरी की दुकान पर भीड नहीं होती। सब्जी की दुकान पर अधिक भीड होती है। याद रहे, **सद्गुरु का योग पुण्य के उदय से और धर्म का प्रयोग पुरुषार्थ से होता है।**

आचार्य श्री पूज्यपाद जी ने मुनियों के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा हैं।

जनेभ्योः वाक् ततः स्पन्दो मनसरित्तत्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।।

अर्थ : मनुष्यों से अनेक प्रकार की बातें सुनने को मिलती हैं। उन बातों को सुनने से आत्मा के परिणामों में हलन-चलन होता है। उससे मन में विविध प्रकार के क्षोभ या चित्तविक्षेप होते हैं। इस कारण से आत्मध्यान करने वाले मुनि को अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

आचार्य श्री शुभचन्द्र जी ने ज्ञानार्णव (१५-८६) में लिखा है।

महापुरुषों का संग करना कल्पवृक्ष के समान समस्त प्रकार के मनोवांछित फल को देने में समर्थ है, अतः सत्पुरुषों की संगति अवश्य करनी चाहिए। (१५-८६)

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने भी वचनामृत पत्र क्रमांक ३१ में सत्संग की महिमा बताते हुए लिखा है कि **क्षणभंगुण दुनिया में सत्पुरुष का समागम यही अनुपम और अमूल्य लाभ है।**

प्रत्यक्ष गुरु की संगति की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीमद् जी ने आत्मसिद्धि शास्त्र में लिखा है।

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं परोक्ष जिन उपकार।
एवो लक्ष्य थया विना, उगे न आत्मविचार।। ११ ।।

अर्थ : प्रत्यक्ष सद्गुरु के समान परोक्ष जिनेन्द्र भगवान का उपकार नहीं है। ऐसा लक्ष्य हुए बिना आत्मविचार प्रकट नहीं होता है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष देव और गुरु के भेद के कारण सम्यक्त्व के भी दो भेद तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के दुसरे तथा तीसरे सूत्र में लिखे हैं।

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।। २ ।।

तथा

तन्निसर्गादधिगमाद्वा।। ३ ।।

अर्थ : तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा वह नैसर्गिक अथवा अधिगमज होता है।

प्रत्यक्ष देव या गुरु के योग में अधिगमज सम्यग्दर्शन होता है और प्रत्यक्ष देव या गुरु के योग बिना पूर्व संस्कार के स्मरण से नैसर्गिक सम्यग्दर्शन होता है। याद रहे, अधिगमज सम्यग्दर्शन देव या गुरु नहीं करा देते, वे तो मात्र प्रत्यक्ष निमित्त होते हैं। अतः अधिगमज सम्यग्दर्शन भी नैसर्गिक होता है। उसीप्रकार नैसर्गिक सम्यग्दर्शन देव या गुरु के निमित्त बिना नहीं होता, भूतकाल में जिन देव या गुरु की वाणी सुनी थी, वे देव या गुरु निमित्त होते हैं, अतः नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी अधिगमज होता है।

खास बात तो यह है कि मिथ्याद्रष्टी विद्वानों के प्रवचन सुनने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जो दीपक स्वयं नहीं प्रज्ज्वलित हो वह अन्य दीपक को कैसे प्रज्ज्वलित कर सकता है? फिर भी **आगम प्रमाण से** मिथ्याद्रष्टी विद्वान का उपदेश सुनने योग्य है। यद्यपि मिथ्याद्रष्टी का उपदेश सम्यग्दर्शन का कारण नहीं होगा, परन्तु मिथ्याद्रष्टी का आगम प्रमाणित उपदेश सुनकर भूतकाल में पूर्व भवों में सुने हुए वीतरागी देव या गुरु के उपदेश का स्मरण हो सकता है। तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में वे वीतरागी देव या गुरु निमित्त होते हैं। याद रहे, **आपका असली गुरु आपका आत्मा ही है।**

१०. जैन पर्वो के रहस्य

यद्यपि भगवान में स्वभाव से ही सर्वज्ञत्व शक्तियुक्त और रागादि भावों से भिन्न शुद्ध ही है अतः स्वभाव की द्रष्टि से प्रत्येक दिन पर्व है, प्रत्येक क्षण पर्व है। **वास्तव में निजात्मा में आत्मज्ञान और वीतरातगा प्रकट होना ही पर्व है।** आत्मज्ञान और वीतरागता को प्राप्त आत्मा ही सच्चा जैन है।

जैन पर्वो में इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होने का प्रयोजन नहीं है, बल्कि आह्लाद स्वरुप अतीन्द्रिय सुख प्रकट होना ही जैन पर्वों को मनाने का मूल हेतु है। इन्द्रियज्ञान से भिन्न चैतन्य स्वभाव को जानकर जितेन्द्रिय पद को प्राप्त जीव ही जैन हैं। इन्द्रियज्ञान से अतीन्द्रियज्ञान, इन्द्रियसुख से अतीन्द्रियसुख प्रकट होना ही अजैन से जैन होना है। वास्तव में इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान में ध्रुव नित्य ज्ञान स्वभाव है। इन्द्रियसुख और अतीन्द्रियसुख में ध्रुव नित्य सुख स्वभाव है। अजैन और जैन में ध्रुव नित्य भगवान आत्मा है। इसप्रकार ज्ञान और सुख स्वभावी भगवान आत्मा ही जगत में सारभूत है। जि+ज्ञा+सु=जिज्ञासु, जिस जीव को ज्ञान स्वभाव के माध्यम से सुख प्राप्ति का लक्ष्य हो वही जिज्ञासु है। **जिज्ञासु की द्रष्टि में सहज चिदानन्द स्वभावी, सच्चिदानंद स्वभावी भगवान आत्मा ही जगत में परम तत्त्व है। वास्तव में ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय ही वास्तविक पर्व है।**

बाह्य जगत में विषय कषाय का सेवन करके पर्वो को मनाते हैं। परन्तु अध्यात्म जगत में विषय कषाय से छूटने के लिये संयम-तप-त्याग के मार्ग पर चलकर पर्व मनाये जाते हैं। चैतन्य स्वभाव के आश्रय से आध्यात्मिक पर्व मनाने का शुभभाव भी छूट जाये और शुद्धभाव प्रकट हो, यही निजात्मा का वास्तविक पर्व है।

११. पर्युषण महापर्व एवं धर्म के दस लक्षण : रहस्य

पर्युषण महापर्व आत्मा का पर्व है। आत्मा अनादि-अनन्त है, अतः आत्मा का पर्युषण पर्व भी अनादि-अनन्त है। पर्युषण महापर्व में आत्मा की साधना करके आत्मशुद्धि प्रकट होना चाहिए। जैन समाज में पर्युषण पर्व के दिनों में एक धार्मिक वातावरण हो जाता है। एक वर्ष में एक बार पर्युषण के दिनों में कुलधारी जैन पाप से बचने का उपाय करते हैं और पुण्य को ही धर्म मानकर पुण्य में ही प्रवर्तने का प्रयास करते हैं। पाप और पुण्य से भिन्न निज शुद्धात्मा का आश्रय तो बहुत दूर, भगवान आत्मा की बात सुनने को मिलना भी बहुत दुर्लभ हो गया है। अतः पर्युषण महापर्व आत्मिक पर्व है, आत्मा की साधना एवं आराधना का पर्व है। राग-द्वेष से छूटकर वीतरागी होना ही पर्युषण पर्व मनाने का मूल उद्देश्य है।

पर्युषण पर्व को यंत्र की तरह नहीं मनाना चाहिए, अपने विचारों को जोडकर भाव सहित प्रत्येक कार्य करना चाहिए। मात्र कुल परम्परा के कारण ही इस पर्व को मनाने वाले लोग मरकर यदि किसी अन्य कुल में पैदा हुए जहां मांस, दारु का भक्षण जन्म से ही होता है, तो वहां जन्म लेने के बाद उस कुल की परम्परा को अपनाकर उस कुल में जिस अधर्म का पालन होता होगा, वह करने लगेगा। अतः इस भव में यहाँ होने वाली प्रत्येक क्रिया कुल परम्परा से नहीं, बल्कि समझपूर्वक भाव सहित विवेक से होनी चाहिए।

अज्ञानीजनों के लिये तो काल के ही कारण मनाया जाने वाला पर्व काल समाप्त होते ही धर्म का रस भी मंद होने लगता है। व्यापारादि पापों में प्रवर्तन उसी गति से पुनः प्रारम्भ हो जाता है। **प्रतिवर्ष पर्युषण मनाने पर भी जब तक चैतन्य स्वभाव की नित्यता को लक्ष्य में रखकर विषयभोगों की अनित्यता और असारता का बोध नहीं होता है, तब तक एक पर्युषण पर्व भी सार्थक नहीं होता है। चैतन्य स्वभाव का आश्रय ही पर्युषण पर्व मनाने की सार्थकता है।**

पर्युषण के अन्त में क्षमावाणी पर्व मनाया जाता है। तब एक जीव दूसरें जीवों से क्षमा चाहता है। क्रोध का भाव बैर में रुपांतरित हो जाने पर बैर के कारण भव-भव तक जीव कषाय भाव का पोषण करके अनन्त दुःखी होता है। क्षमा मांगने का भाव आता है, तब अंतरंग में जीव का अभिप्राय क्या है, इस पर विचार करना चाहिए। समाज के भय, सांसारिक सम्बन्धों के राग से, भोगों की आसक्ति की पूर्ति के कारण या किसी न किसी बाह्य में स्वच्छंदता के कारण क्षमा मांग लेना अलग बात है और चैतन्य स्वभावी निज शुद्धात्मा को द्रष्टि में लेने पर अन्य जीवों के प्रति बैर का भाव समाप्त होने लगता है।

धर्म के दस लक्षण : तत्त्वार्थसूत्र के नवमें अध्याय के छठवें सूत्र में धर्म के दस लक्षण के नाम और क्रम इसप्रकार बताया है।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम
तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।।९-६।।

अर्थ : उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्म है।

धर्म दस प्रकार के नहीं है, बल्कि धर्म के लक्षण दस है। यद्यपि धर्म के लक्षण भी अनेक हैं, फिर भी धर्म के मुख्य दस लक्षण ज्ञानियों ने आगम में बताये हैं। धर्म के उन दस लक्षणों का स्वरुप संक्षिप्त में इसप्रकार है। दस लाक्षणिक धर्म चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से परिणति में प्रकट होने वाली निर्मलता है अर्थात् प्रकट होने वाली वीतरागता के ही ये दस विभिन्न स्वरुप हैं। दसों धर्मों के नाम के आगे उत्तम शब्द का प्रयोग हुआ है। वह उत्तम शब्द चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय होने को सूचित करते हैं।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, धर्म के दस लक्षणों में से प्रथम चार धर्मों का क्रम भी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों के अभावपूर्वक प्रकट होने वाली वीतरागता के सूचक हैं।

१२. उत्तम क्षमा : रहस्य

१. उत्तम क्षमा : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय के सहज अभाव से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक क्रोध कषाय के अभाव से प्रकट होने वाली वीतरागता को उत्तम क्षमा कहते हैं।

अज्ञानी ने आजतक परजीवों के सामने दो हाथ जोडकर अनेक बार क्षमायाचना की परन्तु जब हाथ पर हाथ धरकर ध्यान मुद्रा में बैठकर आत्मा स्वयं को क्रोधादि विकारी की पर्याय से भिन्न मानता है, तब निज भगवान को क्षमा मांगी ऐसा कहा जाता है। क्रोध की उष्णता के कारण भगवान आत्मा कदापि उष्ण नहीं हो जाता है।

वास्तव में क्रोध का भाव अनन्त दुःख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक क्रोध स्वरुप मानना अनन्त दुःख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, क्रोधादि पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

अनेक जीवों को ऐसे प्रश्न होते हैं कि क्षायिक सम्यग्द्रष्टी भरत चक्रवर्ती को अनन्तानुबन्धी क्रोध का नाश हो गया था, फिर भी उन्हें छह खण्ड को जीतने के लिये हिंसादि करने हेतु तीव्र क्रोध का भाव आया, यहाँ तक अपने भाई बाहुबली पर भी चक्र छोडने का भाव आया, तो फिर अनन्तानुबन्धी क्रोध छूटने से आत्मा में शुद्धता प्रकट होने का फल तो दिखाई ही नहीं देता। ज्ञानी कहते हैं कि त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा न करने का नाम क्रोध का अभाव नहीं है। चौथे गुणस्थान में अविरत सम्यग्द्रष्टी को अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते हैं। अतः युद्ध करके जीवों की हिंसा करने पर भी सम्यग्दर्शन विचलित नहीं होता। भरत चक्रवर्ती को अनन्तानुबन्धी क्रोध के अभाव के कारण युद्ध करते हुए भी निजात्मा के प्रति क्रोध का भाव नहीं था।

किसी एक व्यक्ति के प्रति क्रोध आने पर उस व्यक्ति से सम्बन्धी किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु, नाम, विचार आदि पर भी क्रोध का भाव आना अनुबन्धी क्रोध है। ऐसा अनुबन्धी क्रोध जब निज आत्मा पर आता है, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध कहते हैं।

जिस पर क्रोध होता है, उसे हम देखना नहीं चाहते, उसकी प्रशंसा करने वाले अन्य व्यक्तियों को देखना-सुनना नहीं चाहते, उस व्यक्ति का नाम भी कहीं लिखा तो उसे पढना नहीं चाहते, यहाँ तक कि उसके विचार भी करना नहीं चाहते।

प्रत्येक मिथ्याद्रष्टी को अनादिकाल से निज आत्मा पर ऐसा क्रोध का भाव है कि उसने अनादिकाल से आज तक निज आत्मा को देखा नहीं, उसे आत्मा के गुणगान गाने वाले देव और गुरु भी रुचिकर लगे नहीं, आत्मा का वर्णन करने वाले शास्त्र भी रुचिकर लगे नहीं, यहाँ तक कि आत्मा के विचार भी कष्टदायक भासित हुए। ऐसा अनन्तानुबन्धी क्रोध भरत चक्रवर्ती को नहीं होने से वे युद्ध के मैदान में भी ज्ञानी हैं।

१३. उत्तम मार्दव : रहस्य

२. उत्तम मार्दव : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्तानुबन्धी मान कषाय के सहज अभाव से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम मार्दव कहते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक मान कषाय के अभाव से प्रकट होने वाली वीतरागता को उत्तम मार्दव कहते हैं।

जब आत्मा में क्रोध का भाव उत्पन्न होता है, तब दूसरों को नष्ट कर देने का भाव आता है, परन्तु जब मान का भाव उत्पन्न होता है, तब दूसरों को नष्ट करने का भाव नहीं, बल्कि मात्र दबाकर रखने का भाव आता है। यदि जड मूल से दूसरो को नष्ट कर देंगे तो मान मिलेगा कहाँ से? मान कषाय को सबसे खतरनाक कषाय कहा है। श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा है कि **यदि मनुष्य में मान नहीं होता, यहीं मोक्ष होता।** अज्ञानी को कभी-कभी क्रोध तो छोडने जैसा लगता भी है, परन्तु मान छोडने जैसा नहीं लगता। लोग अपने गुरु के पास जाकर पूछते हैं कि हमें बहुत क्रोध आता है, उसे दूर करने का कुछ उपाय बताईये, परन्तु ऐसा कोई नहीं पूछता कि मुझे मान बहुत हो जाता है, उसका उपाय बताईए। वास्तव में जिसे प्रेम करते हो, उसे मारना बहुत कठिन होता है, अज्ञानी मान-सम्मान को अत्यंत प्रेम करता है, अतः उसे छोडने के लिये चैतन्य स्वभाव के आश्रय से होने वाला पुरुषार्थ ही एक मात्र आधार है।

रुपया धूल है, मिट्टी है, राख है, ऐसा सुनने मात्र से ही जिसके अहंकार को चोट लगती हो, वह व्यक्ति कहाँ नित्य प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव करेगा? अहंकार तीव्र कषाय हो या मंद कषाय हो, त्रिकाली शुद्धात्मा में अहंकार का भाव मिलता नहीं है, मिल सकता नहीं है। अतः साधक जीव को निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

धन के अहंकार का नशा समझ के स्वामी मनुष्य को विवेक भूला

देता है। जो व्यक्ति पहले झोंपडी में रहता था, तब घर में प्रवेश करने से पहले ही घर के बाहर चप्पल उतार देता था। वही व्यक्ति धन पाने के बाद अहंकार के वशीभूत होकर घर के अन्दर शयनकक्ष तक जूते पहिने हुए रौफ से प्रवेश करता है। अपने घर दरवाजे पर दो-तीन-चार चाहे जितनी घण्टी बजाओं, अपने घर में उसे अपना अधिकार लगता है। परन्तु वही व्यक्ति दूसरों के घर जायेगा तो आज भी दरवाजे पर जूते उतारेगा, दरवाजे पर एक ही घण्टी बजायेगा। क्योंकि दूसरों के घर में अपना अहंकार बाहर निकाल नहीं सक्ते। **भाई! इन्द्रियों के विषयभोग तो दो दिन के लिये है, अतः किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को विवेक नहीं भूलना चाहिए।**

प्रवचन सभा में यदि विद्वान श्रोता को कहे कि जूते-चप्पल निकाल दीजिये, प्रवचन में बैठे तब तो अनेक प्रश्न करते हैं, परन्तु डॉक्टर पूरे कपडे निकालने के लिये कहते हैं, तो भी प्रश्न नहीं होते हैं। यह क्या हमारी जिनवाणी माता की अपेक्षा मांस, खून, हड्डी, चमडे से बने शरीर की तीव्र आसक्ति नहीं है? याद रहे, **जहाँ विवेक नहीं होता है, वहाँ मनुष्य का पतन होना निश्चित है। विवेक ही आत्मज्ञान की प्राप्ति का प्राथमिक चरण है।**

तीव्र अहंकार के भाव के कारण ही एक जीव अन्य जीवों को अहंकारी देखता है। ज्ञानी की द्रष्टि में अहंकारी जीव भी अहंकारी नहीं है, बल्कि अहंकार की अनित्यता से भिन्न नित्य शुद्धात्मा है। मान की शीतलता के कारण भगवान आत्मा कदापि शीतल नहीं होता है।

वास्तव में मान का भाव अनन्त दुःख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक मान स्वरुप मानना अनन्त दुःख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, मानादि पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

१४. उत्तम आर्जव : रहस्य

३. उत्तम आर्जव : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्तानुबन्धी माया कषाय के सहज अभाव से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम आर्जव कहते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक माया कषाय के अभाव से प्रकट होने वाली वीतरागता को उत्तम आर्जव कहते हैं।

निश्चय से ही मन-वचन-काया की एकरुपता को सरलता कहेंगे तो अशरीरी निकल सिद्ध परमात्मा उत्तम आर्जव धर्म रहित सिद्ध होंगे। एकेन्द्रिय जीवों को वचन और मन न होने से उन्हें भी कुटिलता का अभाव मानना पडेगा। जब बाहुबली बारह महिने तक आत्मसाधना में लीन थे, तब वे बोले ही नहीं थे, फिर भी उत्तम आर्जव धर्म के धारक थे। अत: मन-वचन-काया की एकरुपता के कारण ही उत्तम आर्जव धर्म नहीं मानना चाहिए।

यद्यपि आर्जव धर्म आत्मा का धर्म है, आत्मा में प्रकट होता है, फिर भी आर्जव धर्म को समझाने वाले और समझने वाले दोनों ही मन-वचन-काया वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, इसलिये मन-वचन-काया की एकरुपता को आर्जव धर्म बताकर उत्तम आर्जव धर्म का स्वरुप स्पष्ट किया है।

द्रव्य स्वभाव से भगवान आत्मा अंतरंग में निर्मल होने पर भी बाह्य में पर्याय में मलिनता दिखा रहा है, जैसा स्वरुप अंतरंग है, ऐसा ही बाह्य में प्रकट नहीं करता है, यह माया है। सम्यग्द्रष्टी को आंशिक माया के अभाव में आंशिक वीतरागता प्रकट होती है।

वास्तव में माया का भाव अनन्त दु:ख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक माया स्वरुप मानना अनन्त दु:ख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, मायादि पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

१५. उत्तम शौच : रहस्य

४. उत्तम शौच : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्तानुबन्धी लोभ कषाय के सहज अभाव से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम शौच कहते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक लोभ के अभाव से प्रकट होने वाली वीतरागता को उत्तम शौच कहते हैं।

स्थूलरुप से देखा जाये तो क्रोध कषाय तो प्रासंगिक है, परन्तु लोभ तो निरंतर बना रहता है। कदाचित् जीव को धन का लोभ छूटता है, परन्तु मान का लोभ नहीं छूटता। लोभ के कारण ही तो देवगति के देव मरण के पूर्व छह माह तक तडपते हैं। कहा जाता है कि उनके गले में जो मंदारमाला होती है, वह माला मुरझाने से उन्हें अत्यंत आकुलता होती है कि अब मैं मर जाऊंगा और अन्य देव यहां देवियों का भोग करेंगे। खास याद रहे कि देवताओं के गले में मणियों की माला होती है, कोई फूलों की माला नहीं होती, जो मरण के छह महिने पहले मुरझा जाये। जरा सोचिये! आपके बुढापे में आपके घर में रखे हीरे की चमक कम होती है या आपकी आँखों की रोशनी कम होती है? वास्तव में देवों की आँख की रोशनी मरण के छह महिने पहले कम हो जाती है, जिससे मणियों की माला भी मुरझाई हुई लगती है और उन्हें मरण के विकल्पों में इन्द्रियों के भोगों के लोभ का भाव दु:खरुप लगता है।

वास्तव में लोभ का भाव अनन्त दु:ख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक लोभ स्वरुप मानना अनन्त दु:ख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, लोभादि पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

१६. उत्तम सत्य : रहस्य

५. उत्तम सत्य : त्रिकाल सत्ता स्वरुपी चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम सत्य कहते हैं। भगवान आत्मा ही जगत में परम सत्य है।

सत्यधर्म को पाने के लिये कुल परम्परा छोडना अनिवार्य है। तीर्थंकरो ने कुल परम्परा छोड दी, युद्ध करना और लडाई लडना उनकी कुल परम्परा थी, परन्तु सत्य धर्म की पहिचान होते ही कुल परम्परा छोडकर पूर्ण अहिंसक आचरण के बल पर परमात्म पद को प्राप्त हुए। सत्य मार्ग पर चलने के लिये कुल परम्परा से प्राप्त समस्त मिथ्या मार्ग को छोडने का साहस कुछ ही सत्य के खोजी में होता है।

याद रहे, असत्य का जन्म आत्मा में हो जाने के बाद बाहर नहीं निकले और अन्दर ही समाप्त हो जाये, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि असत्य का पाप नहीं लगता। अतः साधक की साधना के बल पर साधक को आत्मा में ही विकल्पों का उत्पन्न होना रुकने लगता है।

पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है। पर्याय क्षणिक सत् है, द्रव्य त्रिकाल सत् है। जिसका एक समय से पहले भूतकाल के अनन्त समयों में होना नहीं हो और एक समय के बाद भविष्य के अनन्त समयों में होना नहीं हो, ऐसी एक समय की पर्याय त्रिकाली ध्रुव नित्य भगवान आत्मा की द्रष्टि से असत् है।

वास्तव में क्षणिक पर्याय अनन्त दुःख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक पर्याय स्वरुप मानना अनन्त दुःख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, क्षणिक पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

सत्यवचन बोलने का नाम सत्य धर्म नहीं है। क्योंकि सिद्ध भगवान

सत्य धर्म के धारक है, परन्तु बोलते नहीं हैं। न बोलकर मौन रहने का नाम भी सत्य धर्म नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीव बोलते ही नहीं हैं, तो उन्हें भी सत्य धर्म मानना पडेगा। सत्यधर्म आत्मा का धर्म है, अतः आत्मा पर ही घटित होता है। **त्रिकाल सत् स्वरुप निज शुद्धात्म द्रव्य और क्षणिक सत् स्वरुप निज शुद्धात्मा की पर्याय का अभेद होना, त्रिकाल सत् में क्षणिक सत् का अभेद होना ही उत्तम सत्य धर्म है।**

सत्य धर्म अनेकांत स्वरुप है और सत्य वचन स्याद्वाद स्वरुप है। द्रव्य और गुण त्रिकाल सत् है तथा पर्याय क्षणिक सत् है। द्रव्य के समूहरुप विश्व सत् स्वरुपी है। जब आत्मा सत् स्वरुपी जगत को समझता है, सत्यधर्म प्रकट होता है, ऐसा व्यवहार है। वास्तव में सत् स्वरुपी निज आत्मा का अनुभव होना और वीतराग भाव प्रकट होना निश्चय सत्यधर्म है। सत्य समझने के बाद सत्य का वचन के द्वारा प्रकट होना ही वास्तविक सत्य वचन है। सत्य धर्म आत्मा की शुद्ध पर्याय है और सत्य वचन पुदगल की स्कंधरुप अशुद्ध पर्याय है। सत्य वचन बोलने का भाव आत्मा की शुभरागरुप अशुद्ध पर्याय है। सत्य धर्म और सत्य वचन के बीच अत्यंताभाव है फिर भी इन दोनों को बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे-जैसे आत्मा में निर्मलता प्रकट होती है, वैसे-वैसे असत्य वचन दूर होने लगते हैं। निगोद के जीवों को रागादि भाव हैं, परन्तु उन्हें सत्यवचन नहीं है। तीर्थंकर भगवान को रागादिभाव नहीं है, परन्तु सत्यवचन है। सिद्ध भगवान को रागादिभाव और वचन भी नहीं है। अज्ञानी मनुष्य को रागादिभाव भी है और वचन भी है। मात्र न बोलने से सत्यधर्म प्रकट हो जाता तो निगोदिया जीवों को सत्यधर्म के धारक मानना पडेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। जब उपयोग स्वभाव में स्थिर होता है, तब सहजरुप से वचनगुप्ति होती है। सत्यधर्म प्रकट करना आत्मार्थी का ध्येय होता है।

१७. उत्तम संयम : रहस्य

६. उत्तम संयम : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से आत्मा उपयोग का उपयोग में संयमित होकर रहने से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम संयम कहते हैं।

मुनि जीवन में संयम अनिवार्य है, परन्तु तप की निश्चितता नहीं होती, तप तो मुनि की शक्ति अनुसार होते हैं। छह प्रकार के प्राणी संयम और छह प्रकार के इन्द्रिय संयम होते हैं। मुनिराज इन बारह प्रकार के संयम का नियम से पालन करते हैं।

वास्तव में पांच पापरुप असंयम का भाव अनन्त दु:ख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर असंयम स्वरुप मानना अनन्त दु:ख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, असंयम की पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

साधु दशा में से यदि साधु को अकेला रहने पर विकार उत्पन्न हो जाता हो और उसी विकार को रोकने के लिये किसी दुसरे साधु को उनके साथ में रहना पडे, तो फिर जगत में ऐसी कौन-सी दशा होगी जब जीव अकेला रहेगा? दुसरे साधु की उपस्थिति से यदि विकार नहीं होता है, तो उसे **दमन** समझना चाहिए और किसी अन्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति की ओर द्रष्टि ही न जाकर चैतन्य स्वभाव के बल विकार पर विजय पाने का नाम **संयम** है।

मुनिधर्म में तो मुनि मोक्षमार्ग पर अकेला ही चलता है। आशय यह है कि मुनि एक मात्र निज शुद्धात्मा के बल पर ही मोक्षमार्ग पर चलते हैं। सारे जगत के बीच रहकर भी साधु स्वयं को एकरुप ही अनुभव करते हैं। इसी अपेक्षा से मुनिधर्म के पथ पर अकेला चलने का उपदेश दिया है।

मुनिधर्म में संयम अनिवार्य है, परन्तु याद रहे, जब गृहस्थधर्म में

इन्द्रियों का दमन नहीं करने का उपदेश दिया गया है, तो मुनिधर्म में इन्द्रियों का दमन कैसे किया जा सकता है? गृहस्थावस्था में जो भाव पाप बन्ध का कारण होता है, वही पाप के भाव मुनियों को आते हो, तो उन्हें गृहस्थों से भी अधिक पाप के बन्ध का कारण होता है।

१८. उत्तम तप : रहस्य

७. उत्तम तप : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से तप की अग्नि में रागादि भावों के जल जाने पर आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम तप कहते हैं।

तपश्चर्या : स्वरुप, महत्त्व एवं फल : एक रहस्य

इच्छानिरोधोस्तप : अर्थात् इच्छा का अभाव होना ही तप है। निज भगवान आत्मा के आश्रय से भगवान आत्मा में एकत्वपने के बल पर परद्रव्य सम्बन्धी रागादि कषाय भाव सहज ही विलय को प्राप्त होने लगते हैं। जितने अंशो में आत्मा में से कषाय भावों का अभाव होता है, उतने अंशो में आत्मा में तप धर्म प्रकट होता है। आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी जीवों को बालतप होता है, वास्तविक तप नहीं।

नियमसार गाथा ५५ की टीका में तप की व्याख्या करते हुए लिखा है कि -

सहजनिश्चयनयात्मकपरस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपनं तपः

अर्थ : सहज निश्चयनयरुप परमस्वभावमय परमात्मा का प्रतपन तप है।

नियमसार टीका गाथा १८८ के पूर्व तप का स्वरुप इसप्रकार स्पष्ट किया है।

प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपन यत्तत्तपः

अर्थ : प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अंतर्मुखपने प्रतपन तप है।

प्रवचनसार गाथा १४ की टीका में तप की परिभाषा इसप्रकार कही है।

स्वरुपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनात् तपः

अर्थ : स्वरुप की स्थिरतारुप निस्तरंग चैतन्य का प्रतपन तप है।

मुनिराज ऋषभदेव ने अक्षय तृतिया के पारणा होगा यह जानकर वर्षीतप नहीं किया था। भोजन नहीं मिलने पर भी वे अपने निजात्मा की श्रद्धा और सकल संयम के बल पर साम्यभाव को ही धारण किये हुए थे। अचौर्य महाव्रत के धारक मुनिराज वन में उगे हुए फलादि को उठाकर खा लेते नहीं।

अज्ञानी को मुनिराज ऋषभदेव की आंतरिक साधना द्रष्टि में आती नहीं। उसका ध्यान कभी उस बात की ओर नहीं जाता है कि मुनिराज ऋषभदेव हर अंतर्मूहुर्त में निज आत्मा के ध्यान में सहज ही लीन होते थे। परन्तु अज्ञानी को बाह्य में इतना ही दिखाई देता है कि मुनिराज ऋषभदेव ने एक वर्ष तक आहार नहीं लिया था। इसलिये गृहस्थ भी बाह्य में वर्षीतप करने का आयोजन करते हैं। **हे भाई! चैतन्य स्वभाव के प्रयोजन के बिना आयोजन से क्या प्राप्त होगा?**

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि अज्ञानियों को वर्षीतप होता भी कहाँ है? एक दिन आहार और एक दिन अनशन, एक दिन आहार और एक दिन अनशन, इस प्रकार ३६५ दिन में से लगभग १८३ दिन के अनशन का वर्षीतप नहीं है। लगभग १८३ दिन अनशन करके ३६५ दिन अर्थात् वर्षीतप का नाम देना भी आश्चर्यकारक लगता है!

एकासन तप तो आगम में लिखा है, परन्तु बेसणा नाम का कोई भी तप आगम में कहीं पर भी नहीं लिखा है। बेसणा तप नहीं है, तो वर्षीतप भी कैसे होगा?

आगम में स्पष्ट लिखा है कि मोक्षार्थी जीवों को संयमपूर्वक जीवन ही जीना चाहिए, परन्तु तप तो अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिए। याद रखना कि जब भोजन की थाली पारणा करने के लिये बैठते हैं, तभी अनशन छूटता है, ऐसा नहीं है। बल्कि भोजन करने का भाव आता है,

तभी अनशन छूट जाता है। जब आत्मा में जो भोजन के विकल्प उठते हैं, तब शरीर के पास भोजन पहुँचे, उसके पहले ही मन भोजन के पास पहुँच जाता है।

आगम में अनशन करने में जब पानी पीने तक की छूट नहीं लिखी है। तब जब अनशन में, अट्ठाई में अणाहारी गोली की लेन-देन जिन परम्परा में कैसे मिल गई? यह जानकर अत्यंत खेद होता है कि वीतरागी भगवान द्वारा प्ररुपित तपश्चर्या का स्वरुप ही पलट गया है। **भाई! यदि तप करने की शक्ति नहीं है, तो मत करो। परन्तु जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताये गये तपश्चर्या के स्वरुप में अपने मन के विकल्पों को जोडकर जिनशासन में काल्पनिक मान्यताओं को मिलाने से तो घोर पाप का बंध ही होता है।**

अट्ठाई करते तो हैं, परन्तु जब आखरी एक-दो दिन शरीर में शक्ति नहीं रहती, तब डॉक्टर को बुलाकर अलग-अलग विटामीन के इंजेक्शन लेना, यह सब तपश्चर्या है? मुँह से भोजन लिया या इंजेक्शन से भोजन लिया, बात तो एक ही है। इन्द्रियों का दमन करने से तो आत्मा के भाव अधिक मलिन होते हैं। तपश्चर्या होती तो नहीं है, परन्तु स्वयं को तपस्वी मान लेने के कारण कर्तृत्वबुद्धि और अहंकार का भाव भी पुष्ट होता है। स्वयं को तपस्वी मानकर और अन्य लोगों तपस्वी न मानकर स्वयं का बडापना भासित होता है।

ज्ञानी ने शरीर को शत्रु भी नहीं कहा है और परिवारजन भी नहीं कहा है। वे कहते हैं कि शरीर को पडौसी जानों। यदि पडौसी के घर में आग लगती हैं, तो हम आग बुझाने जाते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि पडौसी के घर में आग नहीं बुझायेंगे तो आग अपने घर में लग सकती है। इसप्रकार शरीर में भूख की आग लगी हो, तो भोजन करके भूख की आग बुझा देना चाहिए। यदि शरीर को भोजन नहीं दिया, तो आत्मा में कषायभावों की आग लग सकती है। **निजात्मा के घर में विकल्पों की आग न लगने के उदेश्य से ज्ञानीजन भी शरीर की भूख की आग को बुझा देते हैं।**

हे भव्य आत्मा! निज चैतन्यस्वभावी आत्मा में अपनापन स्थापित

करके अपने परिणाम और शरीर की शक्ति को लक्ष्य में रखकर जैसी तपश्चर्या हो सके, ऐसी तपश्चर्या करनी चाहिए। इन्द्रियों के दमन से मन को शान्ति मिलेगी, परन्तु वह शान्ति तो इन्द्रियों के भोगों से मिलने वाली शान्ति के समान क्षणभंगुर ही होगी। आत्मा नित्य है अतः आत्मा के आश्रय से मिलने वाली शान्ति भी नित्य टिककर रहेगी।

आयंबिल में कडु-करियातु का पानी पहले पी लेते हैं। वे कहते हैं कि यदि कडवा-कडवा स्वाद पहले चख लेंवे तो फिर बाद में बिना रस का भोजन भी अच्छा लगता है। चैतन्य का रसपान किये बिना रसनेन्द्रिय के विषयों के रसों का त्याग कैसे हो सकता है? रसनेन्द्रिय ही नहीं, किसी भी इन्द्रिय के विषयों का त्याग नहीं हो सकता। अतः साधक को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये प्रतिसमय त्रिकाली ध्रुव चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा का चिन्तन-मनन करना चाहिए।

तप और त्याग में क्रम होता है। पहिले गाडी छूटती है, बाद में चप्पल छूटते हैं। चप्पल का त्याग करके गाडी या स्कूटर का उपयोग करना तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कोई व्यक्ति आलू-प्याज तो नहीं खाता है, परन्तु मांस खाता हैं।

जब कोई व्यक्ति थाली धोकर पीता है, तब उसे पहले थाली में रखी हुई मीठाई का स्वाद और थाली धोने के बाद बाकी बचे थोडे दाने-पानी और थाली धोने से पहिले के मीठाई के दाने का एक-सा स्वाद आता है क्या? उक्त कथन का आशय ऐसा नहीं है कि धोई हुई थाली में जो मीठाई के दाने रह गये है, उसका स्वाद भी पहले खाई हुई मीठाई जैसा ही आये। वास्तव में थाली धोकर पीने से स्वाद नहीं आता, उसीप्रकार भोजन करते समय में स्वाद नहीं आये, तब तपस्या कहलाती है। एक मात्र चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से ही ऐसी अपूर्व तपश्चर्या हो सकती है। याद रहे, **थाली धोकर पीने की क्रिया कुल परम्परा से सीखी हुई क्रियाओं के समान मशीन की तरह आदती नहीं होनी चाहिए।**

भोजन से पूर्व और पश्चात् हाथ जोडकर णमोकार मंत्र बोलते हैं,

किसलिये? भोजन मिला इसके बदले में क्या पंच परमेष्ठी का उपकार मानते हैं जैसा उपकार अन्यमती मानते हैं। नहीं, बिलकुल नहीं। खास बात तो यह है कि भोजन से पूर्व चिन्तन होना चाहिए कि चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा भोजन से पूर्व बिना भोजन भी चैतन्यरुप ही है और भोजन के पश्चात् भी यह जागृति रहे कि **आहार-पानी का चैतन्य स्वभाव में प्रवेश नहीं हुआ है, आहार-पानी जड से चेतनरुप परिणमित नहीं होते और चेतन भगवान आत्मा चैतन्यपने को छोडकर जड आहार-पानीरुप परिणमित नहीं होता।** जिस जीव को भोजन के पूर्व और पश्चात् चैतन्य स्वभाव की जागृति रह सकती है, उस जीव को निश्चितरुप से भोजन के काल में भी चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा की जागृति रहेगी। **चैतन्य का भजन ही ज्ञानी का भोजन होता है। ज्ञानी ही मुक्तिपुरी लक्ष्मी के भाजन होते हैं।**

आपने देखा होगा कि लिफ्ट से उपर जाने के लिये बाहर का और अन्दर का दोनों ही दरवाजे बन्द करने जरुरी हैं, दोनों दरवाजे बन्द होने पर ही लिफ्ट उपर जा सकती हैं। ऐसे ही संसार से मोक्ष की ओर उर्ध्वगमन करने हेतु बाह्य और अभ्यंतर इन दोनों प्रकार के तप अनिवार्य हैं।

इच्छा के अभाव को तप कहा है। वास्तव में इच्छा का विकल्प अनन्त दुःख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक इच्छारुप विकल्प स्वरुप मानना अनन्त दुःख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, इच्छारुप विकल्प स्वरुप नहीं मानते।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ के १९ और २० वें सूत्र में बाह्य एवं अभ्यंतर तप के भेद बताये है, वे इसप्रकार हैं।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त
शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।। ९-१९ ।।

अर्थ : अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये बाह्य तप हैं।

प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।। २० ।।

अर्थ : प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान उत्तर तप है।

छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अंतरंग इसप्रकार बारह प्रकार के उपरोक्त तपों के रहस्य के सम्बन्ध में विचार करते हैं। सर्वप्रथम छह प्रकार के बाह्य तपों का स्वरुप बताते हैं। वहाँ पहले तप से दूसरा तप श्रेष्ठ है और दुसरे तप से तीसरा तप श्रेष्ठ है, इसप्रकार आगे-आगे के तपों को श्रेष्टतर समझने चाहिए।

बाह्य तप के सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार दूध को गरम करने के लिये पात्र में दूध डालकर पात्र को गरम किया जाता है, सीधा दूध गरम नहीं किया जाता, उसी प्रकार आत्मा का तप शरीर के माध्यम से होता है। यदि शरीर के माध्यम से ही तप माना जाय तो अशरीरी सिद्ध भगवान को तप धर्म रहित मानने का प्रसंग आयेगा। वास्तव में बाह्य तप के छह भेद और अंतरंग तप के छह भेद व्यवहार है। **एक मात्र अभेद चैतन्य स्वभाव के आश्रय से प्रकट होने वाली वीतरागता ही उत्तम तप है, तप से कर्मो का नाश होता है अर्थात् उसी वीतराग परिणति के कारण पूर्व कर्मो की निर्जरा होती है।**

१. अनशन : अधिकांश लोग अनशन और उपवास को एक ही मानते हैं। चैतन्य स्वभावी आत्मा में स्थिर होने का नाम उपवास है। आहार-पानी ग्रहण नहीं करने का नाम अनशन है। जिन्हें उपवास होता है, उन्हें अनशन होता ही है। परन्तु जिन्हें अनशन होता है, उन्हें उपवास हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

अनशन करने से अनेक विकल्पों से बचने की सम्भावना हैं। घर में दोपहर का भोजन लेते हैं, तभी महिलाओं में चर्चा चलती रहती है कि आज शाम को भोजन में क्या बनायेंगे? महिलाओं का पूरा दिन भोजन बनाने में व्यतीत होता है। ऐसे ही पुरुषों को पूछते हैं कि व्यापारादि क्यों करते हो? वे कहते हैं कि क्या करे? पापी पेट को भरने के लिये पाप करना पडता है। यदि एक दिन भोजन नहीं करना है, तो एक दिन व्यापारादि

करने से निवृत्ति मिल जायेगी। इसप्रकार घर में पति-पत्नी दोनों ही अनशन करेंगे, तो दोनों ही का समय बचेगा। बचे हुए समय को व्यर्थ में न गंवाकर स्वाध्याय आदि करना चाहिए। स्वरुप का चिन्तन-मनन करना चाहिए। आत्मा और शरीर के बीच भेदविज्ञान करना चाहिए।

२. अवमौदर्य (एकासन) : अधिकांश लोग ऐसा मानते हैं कि पूरे दिन भर भोजन नहीं करने का नाम अनशन है और दिन में एक बार भोजन करने का नाम एकासन नामक तप है। यदि पहला तप भोजन नहीं करने का नाम है, तो दूसरा तप भी भोजन नहीं करने से सम्बन्धित होना चाहिए। आशय यह है कि एक समय भोजन करने का नाम अवमोदर्य (एकासन) नहीं है, बल्कि एक समय से अधिक समय भोजन नहीं करने का नाम एकासन है। भोजन करना तो पाप है, भोजन नहीं करना तप है। यदि दोपहर में भोजन किया और शाम के भोजन का त्याग किया, मुख्यरुप से तो वही एकासन है। इस तप को उनोदर भी कहते हैं। जिस दिन एकासन किया हो, उस दिन भूख से कम भोजन करना चाहिए। ऐसा नहीं हो कि शाम को भोजन नहीं करना है, इसलिये दोपहर में ही तीनों समय का भोजन पेट भर कर करते रहे। उस दिन होने वाला भोजन भी अडतालीस मिनिट में ही समाप्त हो जाना चाहिए। **जिस प्रकार दवाई खुशी से नहीं ली जाती, मन चाहे नहीं ली जाती, आवश्यतानुसार ही ली जाती है, उसी प्रकार ज्ञानी सुखबुद्धि से भोजन नहीं करते, वे तो आवश्यकतानुसार आहार को भी दवाई समझकर लेते हैं, वे ही सच्चे तपस्वी हैं।**

एकासन को अनशन से भी श्रेष्ठ तप कहा है, क्योंकि बिलकुल ही भोजन नहीं करने से आलस या एक समय से अधिक भोजन करने से प्रमाद होने की सम्भावना है, ऐसी स्थिति में आत्मसाधना में चित्त का एकाग्र रहना कठिन हो जाता है।

३. वृत्तिपरिसंख्यान : वस्तुओं की गिनती करके मर्यादित मात्रा में खाने का नाम वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप नहीं है। एकासन की तरह इस तप का स्वरुप भी समझना चाहिए। वस्तुओं की मर्यादा रखकर भोजन

की जो अन्य चीजवस्तुओं का त्याग किया है, मूलतः उसे वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप कहते हैं।

भोजन हेतु अनेक वस्तुओं को ग्रहण करने में अनेक प्रकार के विकल्प होने की सम्भावना होती है। **अमर्यादित अनन्त गुणाधिपति एक भगवान आत्मा की अनुभूति के पश्चात् ज्ञानी को विषयभोग मर्यादित होने लगते हैं, छूटने भी लगते हैं।**

४. रसपरित्याग : चैतन्य स्वभाव की स्थिरता के बल पर ज्ञानियों को भोजन के रस की ओर लक्ष्य ही नहीं जाता। वे भोजन के पौदगलिक रसों को सुखरुप नहीं मानते। चैतन्यस्वभावी अमृत आत्मा का रसपान करने के बाद पुदगल के रस से ज्ञानी को क्या प्रयोजन? रस को छोडकर भोजन करने से पहले ही वस्तुओं की गिनती करके भोजन करने का नियम रखा है। आयंबिल करने पर भी भोजन चालीस-पचास और कहीं-कहीं तो सौ-सौ वस्तुयें बनाकर खाई-खिलाई जाती हैं। वहाँ वीतराग भाव सहित तप का उद्देश्य नहीं होने से तप में भी मन तृप्त नहीं होता है। आयंबिल में मिर्ची नहीं खाना चाहते, परन्तु मरी का पावडर करके भोजन करते हैं और तीखा भोजन बनाकर आयंबिल समझकर खा लेते हैं। ऐसी स्थिति में रसपरित्याग तप होना सम्भव नहीं है। कदाचित् बिना रस का भोजन भी लेते हैं, परन्तु ढोसा, रोटी तो गरम-गरम ही चाहिए, एक रसनेन्द्रिय का राग का रस स्पर्शनेन्द्रिय में परिवर्तित हो जाता है।

जैसा कि हम जानते हैं कि चन्द्रमा का पानी के साथ अनोखा संगम है, इसलिये प्रतिमाह दो दिन शुक्ल पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी एवं दो दिन कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन समुद्र में बडी-बडी लहरें उठती है। वैज्ञानिक द्रष्टि से मनुष्य के शरीर में लगभग ७० प्रतिशत तरल पदार्थ होते हैं, साथ ही खनिज पदार्थ और नमक की मात्रा भी होती है। एक तरह से चन्द्रमा और समुद्र की तरह चन्द्रमा और मनुष्य शरीर के बीच में भी गहरा सम्बन्ध है। हरी वनस्पति में भी तरल तत्त्व और नमक की मात्रा विशेष पाई जाती है। उपरोक्त पर्वों के दिनों में जब शरीर में पहिले

से ही तरल पदार्थों की तेज लहरें उठ रही हो, उन दिनों में हरी वनस्पति खाने से शरीर में पाचनकार्य में कठिनाई होती है। जब भोजन पचता नहीं है, तब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण विचार भी चंचल होते हैं। वर्षाकाल में भी हरी वनस्पति के त्याग उपदेश देने का कारण भी यही है। खास याद रहे, जैनधर्म में प्रत्येक त्याग और तपश्चर्या निज शुद्धात्मा की साधना के लक्ष्य से ही बताई है। **सार यह है कि पर्व के दिनों में हरी वनस्पति का त्याग तो चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के चिन्तन-मनन के लक्ष्य से ही होना चाहिए।**

याद रहे, जीवन जीने के लिये हमें पेट की जरुरत की पूर्ति करना है, परन्तु जीभ की जरुरत की पूर्ति की नहीं। वास्तव में चैतन्यप्राणों से ही आत्मा का जीवन है, आहार-पानी से भी नही और आयु कर्म के उदय से भी नहीं। सार यही है कि चैतन्य स्वभावी निज आत्मा का रसपान करने से वीतरागता प्रकट होने पर ही समस्त इन्द्रियों के विषयों से उदासीनता प्रकट हो सकती है और वास्तविक तप हो सकते हैं।

५. विविक्तशय्यासन : ज्ञानी सोते हुए भी जागते हैं, अज्ञानी जागता हुआ भी सोता है। जागने का अर्थ यह है कि ज्ञानी को नींद में भी चैतन्य स्वभावी भगवान में ही एकत्व होता है, ज्ञानी नींद में भी स्वयं को आत्मा ही मानते हैं। अज्ञानी जब जागता है, तब भी स्वयं को शरीर ही मानता है, शरीर की क्रियाओं को अपनी क्रिया मानता है, इस अपेक्षा से अज्ञानी जागता हुआ भी होता है।

६. कायक्लेश : आत्मस्थिरता के बल पर ज्ञानियों को देह पर द्रष्टि नहीं होने से जो काया का कृष होना सहज होता है, उसे कायक्लेश कहते हैं। जान-बूझकर शरीर को ही लक्ष्य में रखकर शरीर जलाना, काटना, क्षीण करने का नाम कायक्लेश नामक तप नहीं है। वास्तव में साधु दोपहर में दो बजे कडी धूप में पत्थर पर बैठकर आत्मसाधना करते हैं, वह कायक्लेश तप है। परन्तु यह देखकर अज्ञानी भी दोपहर में दो बजे गरम पत्थर की खोज करके उस बैठकर आत्मा का रटण करता है, वह

कायक्लेश तप नहीं है। साधु तो सुबह से ही आत्मसाधना में एकाग्र थे कि दोपहर की धूप होने पर भी उनकी द्रष्टि गरम पत्थर पर नहीं गई जबकि अज्ञानी गरम पत्थर में राग करके उस पर बैठना चाहता है, इसी का नाम शरीर के प्रति द्वेष है। देह पर उपयोग नहीं जाने से ज्ञानी को देह का क्षीण होना द्रष्टि में ही नहीं आता, वह कायक्लेश तप का रहस्य है।

उपरोक्त छह प्रकार के बाह्य तप में चार तप रसनेन्द्रिय से सम्बन्धित है। क्योंकि रसनेन्द्रिय पर विजय लेने से अन्य चारों इन्द्रियाँ भी सहज संयमित रहती है। अन्य इन्द्रियों के भोग तो सीमित काल तक ही होते हैं, परन्तु रसनेन्द्रिय सम्बन्धी भोग जन्म से मरण पर्यंत रहता है, अतः अनशन, उनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग ये चारों ही तप रसनेन्द्रिय से सम्बन्धित हैं।

१. प्रायश्चित : पश्चाताप करने का नाम प्रायश्चित तप नहीं है। पश्चात्=पीछे से, ताप=जलना। कोई भी घटना होने के पश्चात् विकल्पों से दुःखी होकर जलने का नाम प्रायश्चित नहीं है। किसी भी प्रकार भी भूल होने का मूल कारण बाह्य संयोग नहीं है, बल्कि आत्मस्थिरता का अभाव ही है। अतः किसी भी भूल का पुनरावर्तन न करने का एक मात्र उपाय निज स्वरुप की स्थिरता ही है, ऐसी अपूर्व स्थिरता के लिये अज्ञानी जीवों को किसी घटना में कषायभावों की तरंगो को जानकर निराश नहीं होना चाहिए बल्कि निज शुद्धात्मा का चिन्तन-मनन और भेदविज्ञान का अभ्यास ही करना चाहिए।

२. विनय : विनय पाप भी है, पुण्य भी है और धर्म भी है। कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का विनय पाप है, वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का विनय पुण्य है, **निज शुद्धात्मा का विनय ही धर्म है।**

याद रहे, सम्यग्दर्शन रहित होने पर भी मान कषाय में डूबा हुआ व्यक्ति स्वयं को सद्गुरु मानकर अन्य जीवों को आशीर्वाद देता है, उसके फल में अगले भव में लूले होते हैं, कोई शिष्य उसका पैर छूता है, तब छूपे अहंकार के पोषण के फल में लंगडे बनते हैं। ऐसा आगमों में जगह-जगह पर लिखा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रहित इन्द्रियों के विषयों में धर्म

बताने वाले जीव को गुरु मानने से शिष्य और गुरु दोनों ही अपनी-अपनी मिथ्यात्व और मानादि कषायों की पूर्ति के कारण अधोगति में जन्म-मरण करते हैं। परन्तु भाई! पंचम काल में इस जगत में ऐसा ही बाह्य आडम्बर चलेगा फिर भी आप अपने चित्त को एक क्षण के लिये भी विचलित मन करना। उन्हें पर्यायद्रष्टि से मत देखना। वे भूले हुए भगवान है। सभी जीव द्रव्य स्वभाव से परमात्मा है, फिर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय होकर प्राप्त आत्मकल्याण के लिये प्राप्त सुअवसर को गंवा रहे है।

आत्मसिद्धि अनुशीलन के पृष्ठ ८४ पर विनय का स्वरुप इसप्रकार स्पष्ट किया है।

विनय करना जितना आवश्यक है, उससे पहले यह जानना आवश्यक है कि किसको, किसका, कहाँ, कितना, कब और कैसे विनय करना। विनय का सम्बन्ध आत्मा के साथ होने से दो हाथ जोड देने मात्र से देव-शास्त्र-गुरु का विनय नहीं हो जाता। ज्ञानी द्वारा प्ररुपित विनय का स्वरुप निराला है। वे कहते हैं कि यदि कोई अज्ञानी, ज्ञानी का अनादर भी करे, ज्ञानियों के सम्बन्ध में अनुचित वाणी का प्रयोग भी करे, तो भी उनके प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, मन में गांठ भी नहीं बांधनी चाहिए, दुराचरण करने वाले जीवों को भी क्षमा कर देना ज्ञानियों का यथार्थ विनय है। **क्षमाभाव प्रकट हुए बिना विनयभाव प्रकट नहीं होता है। वीतरागी भगवान के द्वारा बताया हुआ धर्म विनयमय है।**

३. वैयावृत्य : वैयावृत्य नामक तप को अधिकांश लोग बाह्य तप समझते हैं, वास्तव में साधु की सेवा करने का नाम वैयावृत्य तप नहीं है, सेवा करके जो परिणति में निर्मलता होती है, वह वैयावृत्य नामक तप है।

एक साधु किसी दुसरे साधु का सिर दबाते हैं, तब जगत में सिर दबाने वाले बडे तपस्वी दिखते है, परन्तु हो सकता है, जिस साधु का सिर दबाया जा रहा हो, वे शुद्धोपयोग में लीन हो गये हो और सिर दबा रहे है ऐसे साधु का शुभोपयोग ही हो। इसलिये वैयावृत्य तप को बाह्य तप न कहकर अंतरंग तप कहा है।

४. स्वाध्याय : स्वाध्याय को परम तप कहा है। यद्यपि साधु को स्वाध्याय की अटक नहीं होती फिर भी साधु नित्य स्वाध्याय करते हैं। जैसे किसी करोडपति को धन कमाने की अटक नहीं होती अर्थात् धन न कमाने पर भी उसका कार्य अटकता नहीं है, फिर भी वह धन कमाता है, ऐसे ही साधु भी स्वाध्याय करना छोड नहीं देते।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि प्रवचन करने वाले वक्ता को शुभभाव ही हो, परन्तु प्रवचन सुनने वाला श्रोता प्रवचन सुनते-सुनते वक्ता से भी श्रेष्ठ निर्विकल्प ध्यान में लीन हो गया हो। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि श्रोता को अशुभ भी आ गये हो और वक्ता को शुभभाव हो। इसप्रकार बाह्य क्रियाओं के आधार पर स्वाध्याय का स्वरुप नहीं समझना चाहिए।

१. बांचना, २. पृच्छना, ३. आम्नाय, ४. अनुप्रेक्षा, ५. धर्मोपदेश इसप्रकार स्वाध्याय पांच प्रकार है। आद्योपांत ग्रंथ पठना या प्रवचन सुनना **बांचना** है। शास्त्र या गुरु को पढकर या सुनकर आत्मा में होने वाली आशंका को विनयवान होकर पूछना **पृच्छना** है। गुरु के वचनों को ध्यान से सुनने वाले शिष्यों को आशंका होना स्वाभाविक है। तप के भेदों की तरह यहाँ भी पहले प्रकार के स्वाध्याय से दुसरे प्रकार का स्वाध्याय श्रेष्ठतर है। इसप्रकार पांचो प्रकार में क्रमशः श्रेष्ठतर समझना चाहिए। भक्ति-स्तुति आदि स्तोत्रों का पाठ करना **आम्नाय** है। वीतरागी और सर्वज्ञ भगवान प्ररुपित तत्त्वज्ञान और उसका केन्द्रबिन्दु भगवान आत्मा के सम्बन्ध में बार-बार चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है। आत्मानुभूति प्रमाण से और ज्ञान की विशेषता से भव्य जीवों प्रति राग का भाव उठने पर आत्मा के हितकारी धर्म का उपदेश देना **धर्मोपदेश** है। खास याद रहे, धर्मोपदेश भी स्वाध्याय है। गुरु धर्मोपदेश देते समय भी अपना स्वाध्याय करते हैं। श्रोता मौन रहकर स्वाध्याय करते हैं, जबकि वक्ता उच्चे स्वर में स्वाध्याय करते हैं। अंतरद्रष्टि से देखा जाये तो उच्चे स्वर में बोलने वाले वक्ता भी मिथ्यात्व छूटने से मौन होते हैं, जबकि श्रोता मौन होने पर भी मिथ्यात्व के प्रभाव में मन ही मन बोलते हो, ऐसा हो सकता है।

५. व्युत्सर्ग : शरीर से द्रष्टि छोडकर अंतर्मुख होना व्युत्सर्ग है। जिस शरीर के परमाणुओं के योग में रहकर भी चैतन्यपना शरीररुप नहीं ज्ञानी उस देह पर द्रष्टि नहीं करते। जिस विषय का स्वाध्याय किया हो, उसी विषय पर चिन्तन-मनन करने पर शरीर की ओर द्रष्टि ही नहीं जाना व्युत्सर्ग है।

शुद्धात्मा के तत्त्वविचारों के कारण यदि बाह्य में जगत के भौतिक पदार्थों की विस्मृति हो जाये, तो वह आत्मा के हित के लिये सहायक ही है। ज्ञानियों को स्वरुप की स्थिरता के कारण ऐसी स्थिरदशा प्रकट होती है कि भोजन, निद्रा, आदि कार्यो का स्मरण भी नहीं होता है। चैतन्य स्वभाव की स्थिरता के बल पर अस्थिर देह में उपयोग का विचलित नहीं होना ही ज्ञानियों की निराली साधना है।

६. ध्यान : एकाग्रचिंतानिरोधोध्यानम् अर्थात् एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का निरोध ध्यान है। उपयोग की एकाग्रता का नाम ध्यान है। जानने का नाम ज्ञान है और बार-बार जानने का नाम ध्यान है। ज्ञान का पुनरावर्तन होने का नाम ध्यान है। जानते रहने का नाम ध्यान है। इसप्रकार ध्यान के स्वरुप अनेक अपेक्षा से परिभाषित कर सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति ध्यान करना जानता है फिर भी ध्यान करने की विधि पूछता है? वास्तव में ध्यान नहीं सीखना है, बल्कि ध्यान के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को समझना है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति ध्यान करना जानता है, पति पत्नी का ध्यान, दुकानदार ग्राहक का ध्यान, डॉक्टर मरीज का ध्यान आदि ध्यान होता ही है, परन्तु ध्यान का ध्येय चैतन्य स्वभावी शुद्धात्मा नहीं होने से इस जीव ने अनन्त दुःख भोगे हैं। जिस विषय में रुचि होती है, वह विषय हमारे ज्ञान में आये बिना नहीं रहता है, हमारे ध्यान में आये बिना नहीं रहता है। भगवान आत्मा का यथार्थ स्वरुप जानकर भगवान आत्मा की महिमा आने पर भगवान आत्मा का सहज ध्यान होता है। वास्तव में ध्याता, ध्यान और ध्येय के भेद समाप्त होने का नाम ही निर्विकल्प आत्मानुभूति है। यही आध्यात्मिक ध्यान है।

ध्यान के भेद : एक रहस्य

सैद्धातिंक द्रष्टि से तत्त्वार्थ सूत्र के नवमें अध्याय के २८ वें सूत्र में ध्यान के विधिवत् चार भेद बताये हैं। वे भेद एवं भेदों का स्वरुप इसप्रकार है।

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।। २८ ।।

अर्थ : आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार भेद हैं।

आर्त्तध्यान :

१. अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान : अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये बार-बार विचार करना, उसे अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान है।

असाता वेदनीय के उदय से प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं, तब उन संयोगो को अपने से दूर करने के अथवा स्वयं को उन संयोगो से दूर करने का विकल्प उठते हैं। ज्ञानी मानते हैं कि किसी भी संयोग का आत्मा में प्रवेश हो ही नहीं सकता, अतः राग-द्वेष के भाव व्यर्थ है। भगवान आत्मा तो चैतन्य स्वभावी है। कोई भी व्यक्ति मेरा कुछ भी बिगाड नहीं सकता, तब यह अनुभूति होनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति चैतन्य स्वभाव का बिगाड नहीं कर सकता, अतः कोई भी व्यक्ति मेरा बिगाड नहीं सकता। **मैं** शब्द पढते या सुनते ही **चैतन्य स्वभाव** ही द्रष्टि में आना चाहिए।

२. इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान : इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उसे पाने के लिये बार-बार विचार करना, वह इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है।

ज्ञानी मानते हैं कि जिन इष्ट संयोगो का वियोग होता है, वे संयोग चैतन्य में से हुआ ही नहीं। उन संयोगो का चैतन्य में प्रवेश ही नहीं हुआ था, अतः चैतन्य में से उन संयोगो का वियोग हुआ ही नहीं है।

वास्तव में जगत में कुछ भी इष्ट और अनिष्ट नहीं है, अतः अनिष्ट के संयोग या इष्ट के वियोग में ज्ञानी स्वयं को दुःखी या सुखी नहीं मानते। संयोग तो इष्ट और अनिष्ट होते नहीं, परन्तु इष्ट और अनिष्ट के विकल्प भी चैतन्य स्वभाव में मिलते नहीं हैं, मिथ्यात्वरुपी कैंसर की गांठ भी चैतन्य स्वभाव में मिली नहीं है, ऐसा चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्ध है।

३. वेदनाजन्य आर्त्तध्यान : शरीर में रोग से पीडा उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिये बार-बार विचार करना वेदनाजन्य आर्त्तध्यान है।

अज्ञानी को शरीर में एकत्वबुद्धि होने से वह शरीर के परिणमन में अपना परिणमन मानता है। जब बुखार आता है, तब शरीर गरम होता है। परन्तु ज्ञानी मानते हैं कि शरीर के जल जाने पर भी चैतन्य स्वभावी आत्मा जल नहीं जाता। ऐसी द्रढ श्रद्धा के बल पर ज्ञानी को शरीर का जलना ऐसा ही नजर में आता है, जैसे अज्ञानी को कचरापेटी के डिब्बे में कचरा जलता दिखता है।

ज्ञानी देहरुपी पात्र के कारण स्वयं का अस्तित्व नहीं मानते। ज्ञानी जानते हैं कि भूतकाल में अनन्त देह में से एक देह भी बच नहीं सका, तो यह देह कैसे बच सकता है? ऐसी प्रतीति के बल पर ज्ञानी को इस देह को बचाने की मिथ्या मान्यता छूट जाती है। ज्ञानी स्वयं को देह की राखरुप नहीं मानते। सम्यग्द्रष्टी सप्त भयों से रहित होते हैं, सात भयों में वेदना नाम का भी एक भय है।

याद रहे, यदि वेदना स्वभाव से ही दु:खरुप होती तो नारकी को सम्यग्दर्शन ही नहीं होता। सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि वेदना तो नारकी जीवों को सम्यग्दर्शन में निमित्त होती है। मात्र वेदना होना ही सम्यग्दर्शन का कारण नहीं बनती बल्कि जब नारकी जीव भेदज्ञान करता है कि यह वेदना मेरा स्वरुप नहीं, वेदना से भिन्न मैं चैतन्य स्वभावी आत्मा ही हूँ, तब वेदना को सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण कहते हैं।

मनुष्य जन्म लेते समय माँ को जितनी वेदना होती है, उससे हजारों गुनी वेदना जन्म लेने वाले बच्चे को होती है, ऐसे अनन्त दु:ख को भोगने के बाद भी जीव वेदना को भूल गया और इन्द्रियों के विषयों में सुख मानकर अनन्त काल व्यर्थ में ही बीत गया। ज्ञानी तो कहते हैं कि वेदना अभिशाप नहीं है, वरदान है। धन्य है यह घडी कि भेदज्ञान करने का अवसर मिला। चैतन्य स्वभाव के आश्रय से इस देह की वेदना ही नहीं बल्कि अनन्त काल की विकल्पों की वेदना भी छूट जाती है।

४. निदानज आर्त्तध्यान : भविष्यकाल के सम्बन्ध में विषयों की प्राप्ति में चित्त की लीनता निदानज आर्त्तध्यान है।

अज्ञानी निरंतर भविष्य की कल्पनाओं में डूबा रहता है। इन्द्रिय विषयों से सुख की आशा रख कर अपने वर्तमान सुअवसर को बरबाद करता है। वह भविष्य के सम्बन्ध में आशा रखता है कि यदि शादी करुंग तो शान्ति मिलेगी, शादी करके अनुभव होता है कि बिना शादी के ही अधिक शान्ति थी, शादी करके तो अशान्ति बढ गई। ऐसा सोचकर वह बेटे को जन्म देने की चाह करता है। उसे आशा है कि भविष्य में बेटा मुझे सुखी करेगा। वहाँ भी अज्ञानी कल्पना करता है कि बेटा तो तब तक ही मेरा बेटा है, जब तक उसकी पत्नी नहीं आई, परन्तु बेटी तो आजीवन मेरी बेटी है। कभी-कभी ऐसा कल्पना करता है कि बेटा अपना होता है, बेटे की बहु अपनी नहीं होती। ज्ञानी कहते हैं कि बेटा हो, बेटी हो या बेटे की बहु हो, ये सब लूटेरे ही है। तुम्हारे मनुष्य जीवन को लूटने वाले हैं।

भूतकाल के अनुभव को भूलकर जीव भविष्य की आशा में ही बहता जाता है। चित्र-विचित्र आर्त्तध्यान में भी चैतन्य स्वभावी भगवान के चैतन्यपने को कोई असर नहीं होता है। चैतन्य स्वभाव नित्य सुख स्वरुप ही है।

रौद्रध्यान :

१. हिंसानंदी रौद्रध्यान : हिंसा करने में आनन्द मानकर उसी का चिन्तन करना हिंसानंदी रौद्रध्यान है।

ज्ञानी मानते हैं कि चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा ने एक भी जीव की हिंसा नहीं की। चींटी पर पैर रखने से आत्मा का मरण हो जाता तो मुझे धर्म करने से कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मैं भी आत्मा हूँ, कोई जीव मुझे भी मार देंगे तो मेरा धर्म भी मर जायेगा। वास्तव में आत्मा ने किसी भी जीव की आजतक हिंसा नहीं की फिर भी स्वयं को हिंसक माना है, यह मिथ्या मान्यता ही निजात्मा की हिंसा है।

जिसप्रकार दर्पण में चींटी के मरण का प्रतिबिम्ब होता है, परन्तु

दर्पण ने चींटी की हिंसा नहीं की। उसीप्रकार चैतन्य स्वभावी भगवान के ज्ञान में चींटी के देह परिवर्तन की क्रिया जानने में आती है, परन्तु चैतन्य स्वभाव हिंसा का कर्ता नहीं है। स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर ही यह सत्य समझ में आ सकता है। विकल्पों से निज आत्मा का घात होता है, फिर भी उसमें आनंद मानना हिंसानंदी रौद्रध्यान है।

अज्ञानी मात्र क्रिया से सामायिक लेकर बैठे हो, तब कोई पंखा चालू कर दे, तो मन ही मन चंचल विकल्प उठते हैं, तब सामायिक भंग होता है, ऐसे सामायिक करने वाले जीवों की निन्दा करना भी निज आत्मा की हिंसा है। ऐसा होने पर भी, ऐसी स्थिति में भी चैतन्य स्वभावी आत्मा नित्य शुद्ध आनन्द स्वभावी है।

२. मृषानंदी रौद्रध्यान : असत्य बोलने में आनंद मानकर उसी का चिन्तन करना मृषानंदी रौद्रध्यान है।

झूठ बोलना इतना बडा पाप नहीं है, परन्तु झूठ बोलकर उसमें आनंद मानना बडा पाप है। सत्य का स्वीकार नहीं करना अधर्म है। इस जीवन से मृत्यु निश्चित ही है, इस सत्य की अरुचि भी मृषानंद है। जिन्दगी एक सपना है, मृत्यु है सपने का छूट जाना। इस भव में मेरा शरीर, मेरा बेटा, मेरी बेटी, मेरा धन, मेरा घर, ऐसे सपने देखता है, परन्तु मृत्यु होने पर अगले भव में पूर्व भवों का कुछ भी नहीं दिखाई देता। लोक में भी सपना समाप्त होने के बाद दूबारा वही सपना नहीं आता है। अज्ञानी सपने में से बाहर आने की कोशिश करता है, वास्तव में सपने को नहीं छोडना है, जागना ही सपने से छूटने का उपाय है।

बुढापे में ८०-९० साल की आयु में शरीर में हड्डी दिखाई देती है, फिर भी शरीर का श्रंगार करके अच्छे-अच्छे वस्त्रों से शरीर को ढंकने का भाव आता है। जिस शरीर में श्रंगार किया है, उस शरीर को छोडकर अगले भव में जन्म होने के बाद इस शरीर को दिखाया जाये, तो पहिचानेगा भी नहीं। ऐसे क्षणिक सत् स्वरुप असत् देह में सुख मानना मृषानंदी रौद्रध्यान है।

३. चौर्यानंदी रौद्रध्यान : चोरी करने में आनंद मानकर उसी का चिन्तन करना चौर्यानंदी रौद्रध्यान है।

पराई चीज को लेने का नाम ही चोरी नहीं है। मिथ्यात्व के उदय से शीत हवा में से सुख लेने का भाव भी चोरी है। सम्यग्द्रष्टी परपदार्थों में सुख नहीं मानते अतः उन्हें चोरी नामक व्यसन नहीं होता है। जिनके पास समृद्धि नहीं होती है, उन्हें चोरी करने का भाव आता है। चोर हमेशा दूसरों की जेब की तपास करता है। परिणाम यह आता है कि वह चोर सजा भोगता है। लोक में तो हो सकता है कि कोई चोर पकडे जाने से बच भी जाये, परन्तु अध्यात्म में मिथ्याद्रष्टी भोगो में सुख मानकर परद्रव्य में से चोरी करने के विकल्प से तत्क्षण ही दुःख भोगता है। ज्ञानी को चैतन्य तत्त्व की परिपूर्णता का अनुभव होने के बाद परद्रव्य में सुख लेने का भाव ही नहीं आता। आत्मा अगले भव में कुछ लेकर नहीं जाता है, क्योंकि वह स्वभाव से ही परिपूर्ण है, उसमें परद्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। चैतन्य स्वभाव में से अनन्त सुख का अनुभव करने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल है। स्वभाव के लक्ष्य से ही चोरी छूट सकती है।

४. परिग्रहानंदी रौद्रध्यान : परिग्रह ग्रहण करने में आनंद मानकर उसी का चिन्तन करना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है।

परिग्रह को नरकायु बंध का कारण कहा है। वस्तु की उपयोगिता न होने पर भी परिग्रह को एकत्रित करने का भाव ही परिग्रह है। सारे जीवनभर परिग्रह एकत्रित करने वाले जीवों को मरण के समय पता चलता है कि मुठ्ठी तो खाली ही है। परिग्रह शान्ति का कारण नहीं है। दुनिया को दिखाने के लिये परिग्रह ग्रहण किया। हे जीव! कोई मिट्टी का प्रदर्शन थोडे ही करता है। अज्ञानी को घर में रखा हुआ परिग्रह कचरे के रुप में दिखाई नहीं देता। चैतन्य स्वभाव की परिपूर्णता का अनुभव होने पर ज्ञानी को परिग्रह में सुखबुद्धि नहीं होती है। जैसे हीरा कचरे में पडा हो फिर भी हीरा तो हीरा ही है, ऐसे ही परिग्रह के कचरे में भी प्रत्येक आत्मा परमात्मा ही है।

धर्मध्यान :

१. आज्ञाविचय धर्मध्यान : जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार लिखे गये आगम के आधार पर वस्तुस्वरुप का विचार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

गुरु कदापि गुरु के लाभ के लिये आज्ञा नहीं देते। शिष्य के हित के लिये गुरु की आज्ञा होती है। गुरु कहते हैं कि मेरे मरण का समाचार मिलते ही तू इस मृतदेह को अग्निसंस्कार देने न आये तो चलेगा, परन्तु समाचार मिलते ही चैतन्य स्वभाव में लीन होना गुरु का विनय है।

गुरु को शिष्य से पानी का गिलास भी नहीं चाहिए। पानी का गिलास देने मात्र से गुरु का विनय करके शिष्य विनय करना चाहता है। परन्तु गुरु कहते हैं कि गुरु का विनय इतना सस्ता नहीं है। वास्तव में पानी गिलास देना भूलकर, गुरु को भी भूलकर एक मात्र एक निज चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होना ही गुरु की आज्ञा का पालन करना है।

प्रतिक्षण प्रत्येक जीव को अपने ज्ञान की अनुभूति होती है, परन्तु वे ज्ञान की अनुभूति को ज्ञेयों की अनुभूति मानते हैं। वास्तव में जीवों को परज्ञेयों की अनुभूति होती तो प्रत्येक जीव स्वयं को ज्ञेयों की अनुभूति हो रही है, ऐसा ही मानते हैं। ऐसा होने से प्रत्येक जीवों को सम्यग्द्रष्टी मानना पडेगा। निश्चय से प्रत्येक जीवों को ज्ञान की अनुभूति होती है, परन्तु ज्ञान की अनुभूति को ज्ञेयों की अनुभूति मानते हैं, ऐसा विपरीत मानने के कारण वे मिथ्याद्रष्टी कहलाते हैं।

पानी में कचरा है, पानी अशुद्ध है, ऐसा कहने वाले को यह ज्ञान होना चाहिए कि पानी शुद्ध है, अतः गिलास के तल पर स्थित कचरा भी दिखाई देता है। ऐसे ही आत्मा में राग-द्वेष है, आत्मा अशुद्ध है, ऐसा मानने वाले जीवों को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि आत्मा शुद्ध है, अतः आत्मा में स्थित राग-द्वेषरुपी मलिनता भी जानने में आती है। सच्चे गुरु का उपदेश चैतन्य स्वभाव की अनुभूति करने के लिये ही होता है। अशुद्धि में भी शुद्धि का चिन्तन होना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

२. अपायविचय धर्मध्यान : संसारी जीवों के दु:ख का और उसमें से छूटने के उपाय का विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है।

पर्याय में स्थित वर्तमान दोषों से मुक्त होने के लिये ज्ञानी निरन्तर चिन्तन करते हैं। पर्याय अशुद्ध है, परन्तु जब पर्याय द्रव्य पर द्रष्टि करती है, तब पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं शुद्ध हूँ, तब पर्याय भी अशुद्ध में से शुद्ध हो जाती है। जैसे तेल की बूंद पानी पर तिरती है, ऐसे चैतन्य स्वभाव रागादिभावों के साथ रह कर भी एक नहीं हो जाता। क्षयोपशमज्ञान की रुचि को धर्म की रुचि नहीं समझना चाहिए। समयसार की ३१ वीं गाथा में क्षयोपशम ज्ञान को ज्ञायक से भिन्न परज्ञेय कहा है। अज्ञानी परज्ञेय की रुचि को ज्ञायक और धर्म की रुचि मान लेता है। चैतन्य की सत्ता में अपनापन करके ही रागादिभावों से निवृत्ति हो सकती है।

३. विपाकविचय धर्मध्यान : कर्मोदय सम्बन्धी विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

कर्म के फल में स्वयं को कर्म एवं कर्मफल रहित ज्ञायक जानना ही वास्तविक विपाकविचय नामक धर्मध्यान है। ज्ञानी चैतन्य को साक्षी बनाकर जो कोई भी कर्म के उदय को सहज ही जानते हैं। तीर्थंकर के जन्म से १५ महिने पहले देवों के द्वारा साढे तीन करोड रत्नो की प्रतिदिन चार बार ऐसे १४ करोड रत्नों की वर्षा होती है। स्वर्ग के वे देव मुनिराज ऋषभदेव को जब आहार की आवश्यकता थी तब कहाँ चले गये थे? वास्तव में पुण्य का उदय हो, तो रत्नों की वर्षा होती है, पुण्य का उदय नहीं हो तो एक रोटी भी नहीं मिलती है।

करोडो रुपये होने पर भी रास्ते में अकस्मात से मरण हो जाता है, रुपये के कारण अस्पताल में इलाज नहीं होता है। परन्तु जिनके पास एक रुपया नहीं था ऐसे पूज्य श्री कानजीस्वामी का जसलोक अस्पताल में इलाज हो गया। रुपये खर्च करने से इलाज नहीं होता, पुण्य खर्च होने पर इलाज होता है। **भले कितना ही पुण्य खर्च हो जाये, परन्तु चैतन्य स्वभाव खाली नहीं हो होता, ऐसा चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा मैं ही हूँ। ज्ञानी आत्मा**

को स्वप्न नहीं आता, स्वप्न तो तब आता है, जब सोते हैं। ज्ञानी तो निरंतर जागते हैं अतः आत्मा का स्वप्न आने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

कर्म के उदय चैतन्य स्वभाव में नहीं है। ऐसा चिन्तन करना विपाकविचय नामक धर्मध्यान है। जैसे बच्चा सोता है, वह भारत में सो रहा हो या अमेरिका में सो रहा हो, कोई फरक नहीं पडता ऐसे ही आत्मा में स्थिर होने के बाद बाह्य में कर्मोदय के फल की ओर द्रष्टि ही नहीं जाना और वीतरागभाव को धारण करना ही धर्म है।

४. संस्थानविचय धर्मध्यान : लोक की आकाररुप रचना का विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

लोक और आत्मा के आकार का विचार करना। आत्मा के आकार का संकोच और विस्तार होता है। फिर भी आत्मा असंख्यात प्रदेशी होने पर भी अखण्ड एकरुप ही है। संसारियों की पैरों से और सिद्धो की सिरों से समानता होती है। इसप्रकार आत्मा के आकार का विचार संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है। निश्चय से मैं भगवान आत्मा देहाकार नहीं है, बल्कि ज्ञानाकार है।

शुक्लध्यान :

१. पृथकत्ववितर्क शुक्लध्यान : पृथकत्ववितर्क शुक्लध्यान आठवें गुणस्थान में प्रारम्भ होता है और दसवें गुणस्थान तक रहता है। तीन योग के धारक जीवों को यह ध्यान होता है।

ध्यान, ध्येय और ध्याता के विकल्प को छोडकर आत्मा ध्यान की अग्नि के द्वारा कर्मो के वन को जलाते हैं। छठवें-सातवे गुणस्थान में झूलने वाले भावलिंगी साधु को भी शुक्लध्यान नहीं होता है।

जो कदापि उत्पन्न नहीं होता और कदापि व्यय नहीं होता ऐसे चैतन्य स्वभाव को छोडकर पर्याय की रुचि के कारण जन्म-मरण होता है। जो भगवान होना चाहता है, मरना चाहता है। जन्म-मरण करना चाहता है। भगवान होना तो पर्याय है। पर्याय तो उत्पाद-व्ययरुप होती है। भगवान की

पर्याय को भी जन्म-मरण होता है। इसलिये त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की ओर द्रष्टि न करके भगवान की पर्याय की ओर द्रष्टि करने से भी भगवान की पर्याय प्रकट नहीं होती। अतः एक मात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही ध्यान का ध्येय है।

२. एकत्ववितर्क शुक्लध्यान : बारहवें गुणस्थान में एकत्ववितर्क शुक्लध्यान होता है। तीन में से किसी एक योग के धारक जीवों को यह ध्यान होता है।

बारहवें गुणस्थान में पूर्ण सुख होता है। ये प्रथम दोनों प्रकार के शुक्लध्यान मुनियों को ही होते हैं। कर्म की ओर द्रष्टि करने से कर्म का नाश नहीं होता, वास्तव में आत्मा का ध्यान करने पर सहज ही कर्म खिर जाते हैं। जिसप्रकार पत्नी की ओर ध्यान जाने पर कर्म सहज ही आत्मा में आ जाते हैं, उसे लाने नहीं पडते। ऐसे ही आत्मा में ध्यान स्थिर होने पर कर्म सहज ही आत्मा से नष्ट हो जाते हैं। निर्विकल्प अनुभूति के काल में ध्यान पकड में नहीं आता, बल्कि ध्यान ध्येय आत्मा ही अनुभव में आता है।

३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान : तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान होता है। मात्र काययोग के धारक जीवों को यह ध्यान होता है।

वास्तव में केवली भगवान ही पूर्ण निर्विकल्प होते हैं। लोकालोक को जानने पर भी चैतन्य स्वभाव में ही स्थिर होना पूर्ण निर्विकल्प दशा को सिद्ध करते हैं। केवलज्ञान प्रकट होने के बाद कदापि नहीं छूट जाता। भगवान आत्मा शुक्लध्यानरुप भी नहीं है, तो आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान स्वरुप कदापि नहीं हो सकता।

४. व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान : चौदहवें गुणस्थान में अयोगी केवली जिन को व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान होता है। योग रहित जीवों को ही यह ध्यान होता है।

शुक्लध्यान की अपेक्षा आठवें गुणस्थान से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है

और चौदहवें गुणस्थान तक मोक्षमार्ग होता है। इसलिये जैनधर्म में अष्टमी और चतुर्दशी मनाई जाती है।

बाह्य तप का सम्बन्ध देह के साथ होने से वे अनन्त काल तक नहीं रहते। परन्तु ध्यान नामक तप मोक्ष में सिद्ध प्राप्त होने के बाद भी होता है। अज्ञानी को आत्मा अनुभव नहीं होता, परन्तु आत्मा के विकल्प का अनुभव होता है। वह विकल्प की अनुभूति में ही निर्विकल्प आत्मानुभूति मानकर संतुष्ट हो जाता है। इसलिये अज्ञानी निर्विकल्प अनुभूति को प्राप्त नहीं होता है।

जैन आगमों में छह प्रकार के बहिरंग (१. अनशन २. उनोदर ३. वृत्तिपरिसंख्यान ४. रसपरित्याग ५. विविक्तशय्यासन ६. कायक्लेश) एवं छह प्रकार के अंतरंग (७. प्रायश्चित ८. विनय ९. वैयावच्च १०. स्वाध्याय ११. व्युत्सर्ग १२. ध्यान) इन बारह तपों का वर्णन किया हैं। उन बारह तपों में पहला तप अनशन एवं बारहवाँ तप ध्यान है।

जैनियों का अनशन ४८ घण्टे का होता है अर्थात् यदि किसी व्यक्ति को रविवार के दिन अनशन हो, तो शनिवार को एकासन और सोमवार को एकासन होता है। इसप्रकार शनिवार को दोपहर में ग्यारह बजे से लेकर सोमवार को दोपहर ग्यारह बजे तक ४८ घण्टे का पहला तप होता है। **पहला अनशन तप ४८ घण्टे तक भी करे, फिर भी सम्यग्दर्शन प्रकट होने का नियम नहीं है। परन्तु यदि जीव को बारहवाँ तप ध्यान (शुक्लध्यान) ४८ मिनिट तक भी होता है, तो उस जीव को नियम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, अरिहंत पद की प्राप्ति होती है।**

अब, जरा सोचिये! आपको अनशन करने वाले जीवों की अधिक महिमा आती है या ध्यान करने वालें जीवों की? सत्य तो यह है कि शरीर में भोजन के नहीं जानेरुप अनशन बाह्य में दिखाई देता है, परन्तु त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का ध्यान अज्ञानियों को चमडे की आँखो से दिखाई नहीं देता।

विचार से साधना प्रारम्भ होती है और ध्यान से आत्मसाधना पूर्णरुप से सफल होती है। इसलिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि शास्त्र में

विचार और ध्यान को आत्मभ्रांतिरुपी बिमारी दूर करने की औषधि बताया है। रुचि के अनुसार उपयोग की स्थिरता होनेरुप ध्यान तो आत्मा में प्रकट होने वाली सहज स्थिति है।

१९. उत्तम त्याग : रहस्य

८. उत्तम त्याग : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति पर्याय में प्रकट होने से आत्मा में वीतराग परिणति प्रकट होती है। उसे उत्तम त्याग कहते हैं।

भगवान आत्मा त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति संपन्न होने से किसी भी परद्रव्य को ग्रहण भी नहीं कर सकता और किसी भी परद्रव्य का त्याग भी नहीं कर सकता। जिन परपदार्थों के त्याग के विचारों में अज्ञानी जीव सारे जीवनभर उलझता रहता है, वे परपदार्थों तो मृत्यु के क्षण बिना विकल्प किये ही जुदे हो जाते हैं। परन्तु परपदार्थों के प्रति जो मोह का भाव होता है, वह भाव एक बार ही नहीं, अनन्त बार मरण हुआ फिर भी नहीं छूटा। यदि त्याग का सच्चा स्वरुप नहीं जाने और व्यर्थ ही अपने मन से बाह्य पदार्थो के त्याग में ही संतुष्ट होकर अटक जाये तो शुद्धात्मा के स्वरुप की पहिचान का अवसर व्यर्थ में चला जायेगा।

वास्तव में परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का भाव अनन्त दु:ख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर ग्रहण-त्याग के भाव स्वरुप मानना अनन्त दु:ख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, ग्रहण-त्याग के भाव स्वरुप नहीं मानते।

दान और त्याग में भेद एवं रहस्य

लोक में दान और त्याग एक ही माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति दान देता है, तो सारा अज्ञानी जगत यही मानता है कि देखो! कितना बडा

त्यागी है। वे त्याग का वास्तविक स्वरुप समझते नहीं हैं, अतः दान को ही त्याग मान लेते हैं। दान और त्याग के भेद को सूक्ष्मद्रष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में ही नहीं बल्कि दया-दान आदि शुभकार्यों के सम्बन्ध में भी वस्तु स्वरुप से विपरीत मानकर अज्ञानी जीव निर्मल होने की बजाय मलिन ही होता है। वह मानता है कि धन कमाकर दान देने से धन कमाने के पाप से छूटा जा सकता है, पाप करके पुण्य कर लेने पर पाप छूट जाता है अर्थात् पुण्य से पाप धूल जाता है।

अज्ञान से अंध अज्ञानी की ऐसी विपरीत मान्यता के कारण उसे कभी धन कमाने के पाप से निवृत्त होने का विचार भी नहीं आता है। यहाँतक कि उसे दान देकर भी समाज में ख्याति एवं प्रसिद्धि पाकर भविष्य में अधिक धन कमाने की इच्छा होती है, जिससे अधिक दान देकर अधिक ख्याति प्राप्त हो सके। पहले गंदे होने के बाद साफ होने से बेहतर तो यही है कि हम पहले से ही गंदे न हो। पाप एवं पुण्य इन दोनों कर्मों से छूटकर आत्मस्वरुप में स्थिर होना ही वास्तविक धर्म है।

अनादि काल से यह आत्मा मोह-राग-द्वेष के भावों से मलिन है, मैल धोने का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। जब शरीर मलिन होता है, तब स्नान करने का कार्य कोई चौराहे पर खडे होकर नहीं करता है क्योंकि निर्मल होने का प्रदर्शन नहीं किया जाता। हम निर्मल होने के लिये घर के कोने में स्नानघर बनाते हैं और छूपकर ही मैल विसर्जित कर देते हैं। उसी प्रकार **आत्मा का मल दूर करने की प्रक्रिया तो अत्यंत निजी है, उसका प्रदर्शन कदापि नहीं होना चाहिए।** कुछ लोग प्रदर्शन करने का कारण बताते हुए कहते है कि ऐसी क्रिया के प्रचार से दुसरे लोगों को भी हमारे द्वारा धर्म करने की प्रेरणा मिलती है। सत्य तो यह है कि जब तक दुसरे लोगों पर द्रष्टि जाती है, तब तक धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता है।

दुनिया में आँख का दान देने वालें लोगो की अज्ञानियों को महिमा आती है, परन्तु सद्गुरु तो आँख वालें लोगों को द्रष्टि देते है अर्थात् सत्य

का ज्ञान कराने में निमित्त होते हैं। अतः सद्गुरु का उपकार अपरम्पार है।

दान के सात योग्य क्षेत्र का वर्णन करते हुए आगम में इसप्रकार लिखा है।

जिनबिम्बं जिनागारं जिनयात्रा महोत्सवं।
जिनतीर्थं जिनागमं जिनायतनानि सप्तधा।।

अर्थ : १. जिनबिम्ब, २. जिनमन्दिर, ३. जिनयात्रा ४. पंच कल्याणक महोत्सव, ५. जिन तीर्थोद्धार, ६. जिनागम प्रकाशन, ७.जिनायतन, ये सात दान के योग्य क्षेत्र है।

जिण-भवन-बिम्ब पोत्थय संघ सरुवाई सत्त खेत्तेसु।
जं बइयं धणबीयं तमहं अणुमोयए सकमं।।

अर्थ : १. जिनभवन, २. जिनबिम्ब, ३. जिनशास्त्र, ४. मुनि, ५. आर्यिका, ६. श्रावक, ७. श्राविका रुप चतुर्विध संध इन सात क्षेत्रों में जो धन रुपी बीज बोया जाता है। मैं उस अच्छे कर्मो की अनुमोदना करता हूँ।

श्री रयणसार में भी सात क्षेत्रों में दिये गये दान का फल इसप्रकार स्पष्ट किया है।

इह णिय-सुवित्त-वीयं जो ववइ जिणुत्त-सत्त-खेतेसु।
सो तिहुवण-रज्ज-फलं भुंजदि कल्लाण पंचफलं।।१८।।

अर्थ : जो पुरुष जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये सप्त क्षेत्रों में अपने नीतिपूर्वक/न्यायोपार्जित श्रेष्ठ धनरुपी बीज को बोता है, वह इस लोक में तीनों भुवनों के राज्यरुपी फल को और पंच कल्याणक रुप फल को भोगता है।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि मान कषाय की पूर्ति के लिये दान देने से अच्छा तो यह है कि यदि हो सके तो अपने धन को भविष्य में जीवनयापन के लिये बचाकर रखे और व्यापारादि बन्द करके नया पाप न करे और अपने सम्पूर्ण जीवन को अध्यात्ममार्ग में ही लगा दें।

जिनागम में मुख्यरुप से चार प्रकार के दान का वर्णन आता है।

१. ज्ञानदान २. अभयदान ३. आहारदान ४. औषधिदान।

इन चार दान में से ज्ञानदान और अभयदान मुख्यरुप से साधु गृहस्थों को देते हैं तथा आहारदान और औषधिदान गृहस्थ साधुओं को देते हैं। याद रहे, जो अज्ञानी रुपये के दान के अहंकार में मानकषाय का पोषण करता है, उस रुपयेदान का इन चार दान में नाम ही नहीं है।

दान के दातार में ये सात गुण अवश्य होने चाहिए।

१. ऐहिक फल अनपेक्षाः सांसारिक लाभ की इच्छा न होना। २. क्षांतिः दान देते वक्त क्रोध रहित शांत परिणाम होना। ३. मुदितः दान देते वक्त प्रसन्नता होना। ४. निष्कपटताः कपट रहित होना। ५. अनसूयत्वः इर्षारहितपना होना। ६. अविषादित्वः विषाद रहितपना होना। ७. निरहंकारित्वः अभिमान रहितपना होना।

अधिकांश लोग दान को ही त्याग समझकर दान देने की भावना को ही त्याग की भावना मानते हैं। दान को ही धर्म मानते हैं।

दान और त्याग में भेद : एक रहस्य

क्र.	दान	त्याग
१.	शुभभाव है।	शुद्धभाव है।
२.	शुभरागभावरुप अशुद्ध परिणति है।	वीतरागभावरुप शुद्ध परिणति है।
३.	दान के फल में देवादि शुभगति प्राप्त होती है।	त्याग के फल में पंचमगतिरुप मोक्ष प्रकट होता है।
४.	परोपकार की भावना होती है।	स्वोपकार की भावना होती है।
५.	सदुपयोग या दुरुपयोग का विचार किया जाता है।	सदुपयोग या दुरुपयोग का विचार नहीं किया जाता है।
६.	वस्तुयें छूटती हैं और विकल्प छूटते हैं।	विकल्प छूटते हैं और वस्तुयें छूटती हैं।

७.	अपनी वस्तु का होता है।	पराई वस्तु का होता है।
८.	कितना दे दिया, उसकी मुख्यता होती है।	कितना बचाकर रखा, उसकी मुख्यता होती है।
९.	सुपात्र और कुपात्र का भेद होता है।	सुपात्र और कुपात्र का भेद नहीं होता है।
१०.	पराधीन है।	स्वाधीन है।
११.	अधर्म है।	धर्म है।
१२.	संसार अवस्था तक ही अस्तित्व है।	अनन्तकाल तक अस्तित्व होता है।
१३.	जो अपने पास हो, उसका ही हो सकता है।	जो अपने पास नहीं हो, उसका भी हो सकता है।
१४.	भूतकाल में अनन्तबार हो चुका है।	भूतकाल में एकबार भी नहीं हुआ है।
१५.	तत्त्वार्थ सुत्र के आश्रव अधिकार में वर्णन किया है।	तत्त्वार्थ सुत्र के संवर अधिकार में वर्णन किया है।
१६.	ज्ञानदान, अभयदान हो सकते हैं।	ज्ञानत्याग, अभयत्याग नहीं हो सकते हैं।
१७.	साधन है।	साध्य है।
१८.	सविकल्पदशा है।	निर्विकल्पदशा है।
१९.	अनेकभेदरुप है।	अभेदरुप है।
२०.	व्यवहार है।	निश्चय है।
२१.	आत्मा का विभाव है।	आत्मा का स्वभाव है।
२२.	अंतराय आ सकता है।	अंतराय नहीं आ सकता है।
२३.	अज्ञानी को दान की महिमा है।	ज्ञानी को त्याग की महिमा है।
२४.	चेतन द्रव्य का दान नहीं दे सकते हैं।	चेतन द्रव्य का त्याग कर सकते हैं।
२५.	विकारीभावों का दान नहीं दे सकते हैं।	विकारीभावों का त्याग कर सकते हैं।

२०. उत्तम आकिंचन्य : रहस्य

९. उत्तम अकिंचन्य : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से अबद्ध-अस्पृष्टस्वभाव पर्याय में व्यक्त होने से आत्मा में आंशिक वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम अकिंचन्य कहते हैं।

जब आत्मिक वैभव अनुभव में आता है, तब बाह्य भौतिक सामग्री धूल-सी असार लगती है। भौतिक परिग्रह की असारता का बोध प्रकट होने पर ज्ञानी उन परिग्रहों को छोडकर अपरिग्रही हो जाते हैं। मर्यादित परिग्रह रखने का नियम लेने वाले जीवों को इस बात का ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि मिथ्यात्व ही सब से अधिक खतरनाक परिग्रह है, जो कि सबसे पहले नंबर पर है। मिथ्यात्व परिग्रह परिमाण नहीं किया जा सकता है। मिथ्यात्व का अंश भी खतरनाक है।

जिस प्रकार जहर की एक बूंद भी बहुत सारी खीर में मिलकर खीर को जहर बना देती है। उसी प्रकार मिथ्यात्व सहित होने वाले व्रत-तप बाल तप ही होते हैं। इसलिये सर्वप्रथम स्वयं को चैतन्य स्वभावी आत्मा मानकर ही मिथ्यात्व छोडने पर लिये गये व्रतादि सार्थक होते हैं।

वास्तव में परिग्रह अनन्त दु:ख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर परिग्रह का स्वामी स्वयं को या अन्य को मानना अनन्त दु:ख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, क्रोधादि पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

२१. उत्तम ब्रह्मचर्य : रहस्य

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य : चैतन्यस्वभावी निज भगवान आत्मा के आश्रय से ब्रह्म स्वरुपी भगवान आत्मा में आंशिक वीतराग परिणति प्रकट होती है उसे उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्य धर्म आत्मा का धर्म है। अत: ब्रह्मचर्य का प्रदर्शन नहीं किया जाना चाहिए। मुनिराज अठारह हजार प्रकार के शील का पालन करते हैं और सम्यग्द्रष्टी को भोगों के काल में भी ज्ञायकभाव में एकत्वरुप द्रढ प्रतीति होती है, अत: भोगों के काल में भी ज्ञानी को निरंतर कर्मो की निर्जरा होती है। बाह्यद्रष्टि से जगत को ऐसा दिखाई देता है कि ज्ञानी भोगों को भोगते हैं, वास्तव में देखा जाये तो ज्ञानी भोगों को भोगते नहीं, बल्कि जानते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन प्रकट होने के बाद ज्ञानी किसी भी परपदार्थ में सुख नहीं मानते।

वास्तव में काम का भाव अनन्त दु:ख का मूल कारण नहीं है। बल्कि स्वयं को त्रिकाली शुद्धात्मा न मानकर क्षणिक कामविकार स्वरुप मानना अनन्त दु:ख है। सम्यग्द्रष्टी स्वयं को त्रिकाली ज्ञायक ही मानते हैं, कामक्रोधादि पर्याय स्वरुप नहीं मानते।

काम-क्रोधादि के अभाव में समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। काम के अभाव में ब्रह्मचर्य, क्रोध के अभाव में क्षमा, आदि शब्द मार्दव से लेकर अकिंचन्य धर्म का सूचक है। पच्चीस प्रकार के कषायों में अनन्तानुबन्धी क्रोध प्रथम क्रम पर है, नपुंसक वेद पच्चीसवें अन्तिम क्रम पर है, जो कि काम का सूचक है। इसप्रकार भगवान को कामक्रोधादि से रहित कहने का आशय है समस्त प्रकार राग-द्वेषरुप कषायों रहित वीतरागी परमात्मा होते हैं।

२२. अष्टाह्निका पर्व : रहस्य

केवली प्ररुपित धार्मिक पर्वों में पर्युषण महापर्व के बाद दुसरे क्रम पर अष्टाह्निका पर्व का विशेष महत्त्व है। इस पर्व के नाम से ही पर्व का भाव समझ में आता है, अष्ट=आठ और अह्नि=दिन। आठ दिन तक मनाये जाने वाले इस पर्व को अष्टाह्निका पर्व कहते हैं। यह पर्व वर्ष में तीन बार मनाया जाता है। १. कार्तिक सुदी अष्टमी से पूर्णिमा तक, २. फाल्गुन सुदी अष्टमी से पूर्णिमा तक, ३. आषाढ सुदी अष्टमी से पूर्णिमा तक।

स्वर्ग के देव इस पर्व को मनाने के लिये मध्यलोक के आठवें नंदीश्वर द्वीप जाते हैं। वहां अकृत्रिम बावन जिन मन्दिरों में देव पूजा करते हैं। तीसरे द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत होने से मनुष्य उसके आगे नहीं जा सकते हैं, अत: हम यहीं जिनेन्द्र भगवान पूजा-अर्चना करके इस पर्व को मनाते हैं। कहीं-कहीं सिद्धचक्र विधान भी होते हैं। कर्तृत्ववादी मिथ्याद्रष्टी तो सिद्धचक्र विधान को चमत्कार मानकर ही पूजन करते हैं। वे मानते हैं कि मैनासुन्दरी ने सिद्ध चक्र का पाठ करके गंधोदक श्रीपाल पर छिडका था, इस कारण श्रीपाल का कोढ दूर हो गया था।

जगत के जीवों को आत्मतत्त्व की रुचि नहीं होने से देह रहित अशरीरी सिद्ध भगवान के पूजन-विधानादिक का फल भी अशुचिमय अपने शरीर में ही घटित करते हैं। सिद्धचक्र के विधान के फल में निज भगवान आत्मा भी देहरुपी कैद से मुक्त होकर अशरीर पद को पाना चाहिए। वर्तमान कलिकाल में इतना तो अवश्य होना ही चाहिए कि **मिथ्यात्वरुप कोढ से मुक्त होकर आत्मा स्वस्थ हो जाये। द्रव्यस्वभाव में मिथ्यात्व का अंश भी नहीं है, जब पर्याय में भी मिथ्यात्व छूट जायेगा, अंश मात्र भी मिथ्यात्व नहीं रहेगा, तब आत्मभ्रान्ति की बिमारी से मुक्ति मिलेगी।**

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने आत्मसिद्धि शास्त्र कहा है कि आत्मभ्रांति

के समान दूसरा कोई रोग नहीं है, सद्गुरु ही उस रोग को दूर करने के लिये वैद्य है, गुरु की आज्ञा ही एक मात्र उपचार है तथा विचार एवं ध्यान आत्मभ्रांतिरुपी बिमारी को दूर करने की औषधि है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों के अभाव से प्रकट होने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। वर्ष में तीन बार मनाया जाने वाला यह अष्टाह्निका पर्व तीन रत्न का प्रतीक मानकर रत्नत्रय की प्राप्ति के पुरुषार्थ में अग्रसर होना चाहिए।

२३. रक्षाबंधन : रहस्य

भावलिंगी संत आचार्य श्री अकम्पन जी सात सौ मुनियों के संघ के आचार्य थे। एकबार वे संघ सहित विहार करते हुए उज्जैन पहुंचे। उस समय उज्जैन के राजा श्री वर्मा थे। उनके वहां बलि, नमुचि, बृहस्पति और प्रह्लाद नाम के चार मंत्री थे। राजा वर्मा और वे चारों मंत्री साधुओं के दर्शन के लिये पहुँचे। सभी मुनिराज आत्मध्यान में लीन थे अतः किसी प्रकार की चर्चा नहीं हो सकी।

मंत्रियों को मुनियों में आस्था नहीं थी, अतः वे राजा को बहकाने के लिये कहने लगे कि मौन ही मूर्खता छुपाने का उपाय है। यही सोचकर साधु कुछ बोलते नहीं हैं।

तब ही श्रुतसागर नामक मुनि आहार करके आ रहे थे, उन्हें देखकर एक मंत्री बोला देखो मूर्ख आ रहा है। वे मंत्री मुनिराज के साथ वाद-विवाद करने लगे। परन्तु मुनिराज ने तर्क और युक्तियों द्वारा उनका अहंकार खंडित कर दिया।

राजा के सामने उन मंत्रियों के अहंकार को बहुत बडी चोट लगी। परन्तु वे राजा की उपस्थिति में कुछ कर नहीं सकते थे। अतः वे कुछ बोले बिना ही वहाँ चले गये। यहाँ मुनिराज श्रुतसागर ने वापिस लौटकर

श्री अकम्पनाचार्य जी को रास्ते घटी हुई घटना के बारे में बताया। जब श्री अकम्पनाचार्य जी ने उनकी ओर उदासीन द्रष्टि से देखा तो श्रुतसागर जी समझ गये कि निश्चितरुप से मेरे द्वारा बहुत बडा अपराध हो गया है। यदि मैं यहाँ संघ के साथ रहूँगा तो संघ को सुरक्षा पर खतरा हो सकता है। इसलिये वे उसी स्थान पर वापिस चले गये, जहाँ मंत्रियों के साथ वाद-विवाद हुआ था। उसी रात वे चारों ही मंत्रियों ने उस स्थान पर जाकर श्री श्रुतसागर मुनि पर तलवार उठाने की कोशिश की परन्तु वे मुनि को कुछ नहीं कर सके। दुसरे दिन जब राजा को मंत्रियों के कृत्यों का पता चला कि उन्हों ने चारों मंत्रियों को अपने राज्य में से ही निकाल दिया।

वे चारों मंत्री हस्तिनापुर चले गये। उस समय वहाँ पद्मराय नामक राजा राज्य करते थे। चारों ही मंत्रियों ने थोडी ही दिनों में राजा का मन जीत लिया। राजा ने प्रसन्न होकर चारों मंत्रियों को वरदान माँगने के लिये कहा। उन चारों ने कहा कि अभी हमें कुछ भी नहीं चाहिए, परन्तु आप की इजाजत हो तो भविष्य जब समय आयेगा तब हम माँग लेंगे। राजा ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया।

कुछ दिन पश्चात् आचार्य श्री अकम्पन जी आदि सात सौ मुनिराज विहार करते हुए हस्तिनापुर आये थे। जब बलि नामक मंत्री ने राजा पद्मराय से सात दिनों के लिये राज्य माँगा और राज्य मिलते ही बलि ने उन मुनिराजों पर घोर उपसर्ग किया। तब विक्रिया ऋद्धिधारी विष्णुकुमार मुनि ने उनकी रक्षा की। वे दीक्षा लेने से पहिले राजा पद्मराय के भाई थे। उनके पास ऋद्धि के कारण अपने शरीर को छोटा या बडा बनाने की शक्ति थी। उन्होंने बावन अंगुल का शरीर बनाकर बावनिया का भेष लेकर बलि के दरबार में गये। बलि ने उन्हें जो चाहिए वह माँगने के लिये कहा। उन्होंने अपने कदमों के हिसाब से तीन कदम जमीन माँगी। जब बलि ने देने के लिये स्वीकार किया, तो उन्होंने अपना शरीर बडा कर दिया और सारी जमीन को दो कदमों में ही नाप ली। इसप्रकार उन्होंने मुनिसंघ की रक्षा की क्योंकि अब इस राज्य पर बलि का कोई अधिकार नहीं रहा था।

इसप्रकार आत्मसाधना से नहीं डिगने वाले श्री अकम्पनाचार्य जी, श्रुतज्ञान के धनी श्री श्रुतसागर जी मुनि, रक्षक के रुप में प्रचलित और रक्षक के प्रतीक श्री विष्णुकुमार जी मुनि ने अपने-अपने नाम के अनुरुप ही कार्य किये। खास बात तो यह है कि श्रावण महिने की पूर्णिमा के दिन उन्होंने मुनिसंध की रक्षा की थी, इसलिये जैनधर्म में रक्षाबंधन का विशेष महत्त्व है।

रक्षा का भाव भी बंधन का ही कारण है, जो जीव इस रहस्य को समझता है, वह रक्षाबंधन का स्वरुप समझ लेता है। त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा स्वभाव से ही नित्य सुरक्षित है, अतः आत्मानुभवी ज्ञानी एवं साधु को रक्षापोटली पहिनने, पहिनाने और पहिनने की अनुमोदना करने में भी रुचि नहीं होती है। **निज भगवान की साधना छोडकर मिथ्यात्वभाव पुष्ट करने या कराने के विकल्प में उलझकर ज्ञानी आत्मकल्याण हेतु प्राप्त हुये अमूल्य अवसर को गंवाते नहीं। जिसने स्वयं को देह के रुप में ही माना है, उसे ही निरंतर अपनी सुरक्षा की चिन्ता बनी रहती है। रक्षापोटली पहिनने से ही बाह्य में अनुकूलता मिलती होती तो जीवों के पुण्यकर्म के फल का अस्तित्व ही नहीं रहता।**

याद रहे, मुनि श्री विष्णुकुमार जी ने अकंपनाचार्य आदि ७०० मुनियों की रक्षा के लिये अपना मुनि पद छोडकर बावनिया का रुप धारण किया था, मुनि की अवस्था में कोई दूसरारुप धारण करके मुनिधर्म को दुषित नहीं किया था। परन्तु यह कार्य उनके आत्मा के लिये उचित नहीं था। क्योंकि मुक्ति के कारणरुप मुनिधर्म को छोडकर संसार के कारणरुप रक्षा के बन्धन में पडना, उस आत्मा के लिये भी अहितकर ही सिद्ध हुआ। मुनिदीक्षा छोडकर रक्षा का कार्य करने के लिये उनकी दीक्षा का विच्छेद हुआ था। **अतः एक मात्र चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा को ही उपादेय और मुक्ति का कारण जानों।**

२४. दीपावली : रहस्य

दीपावली के त्यौहार को हम मुख्यरुप से पांच दिनों तक मनाते हैं। धनतेरस, काली चौदस, दीपावली, नूतन वर्षारंभ, भाईदूज। यद्यपि अन्य धर्मों में भी दीपावली को अलग-अलग कारणों से मनाया जाता हैं, फिर भी जैन धर्म इस पर्व को मनाने का विशिष्ट कारण एवं प्रयोजन हैं। अतः इस पर विचार करना अपेक्षित है।

धन तेरस : भगवान महावीर का निर्वाण दीपावली के दिन हुआ था, उससे दो दिन पूर्व त्रयोदशी के दिन महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी, भगवान ने आखरी बार उपदेश दिया था। तब इस देश में यह दिन धन्य तेरस के नाम से जाना जाता था। धन्य था वह तेरस का दिन, जब हमें भगवान का अन्तिम उपदेश सुनने के लिये मिला था। धन लोलुपी जीवों ने धन्य तेरस को भी धन तेरस में रुपांतरित कर दिया।

महावीर भगवान ने अहिंसा परमो धर्म का उपदेश दिया था, उन्होंने जीव मात्र की हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया था। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग करने का उपदेश दिया था। क्योंकि प्रत्येक आत्मा एक समान है। एकेन्द्रिय में भी सर्वप्रथम पृथ्वीकायिक जीव का नाम आता है। भगवान ने पृथ्वीकायिक जीव की भी हिंसा को त्याज्य कहा। जिसमें पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा होती है, ऐसे हीरा-सोना-चांदी आदि परिग्रह जोडने के लिये हमने उसी धन्यतेरस के दिन को पूरी साल में सब से उत्तम दिवस माना। लोग धन तेरस के दिन शुभ मुहूर्त समझकर हीरा-सोना-चांदी आदि खरीदने जाते हैं। स्वयं जैन मानने वालें लोगों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि क्या वे सचमुच जैन कहलाने योग्य है या फिर कुलपरम्परा से मिले हुए चमडे के देह के कारण ही स्वयं को जैन मान ले लिया है? चमडा कदापि जैन और अजैन नहीं होता। **जो इन्द्रियों के विषयों में सुख नहीं मानकर चैतन्य स्वभावी ज्ञायकभाव का आश्रय लेता है, वही जैन है।**

भगवान महावीर का संदेश था कि हम शरीर को आहार और औषधि देकर बचाने का प्रयास करते हैं, स्वयं को बचाने के लिये न जाने कितने जीवों को मारते हैं, अंत में तो परिणाम यह आता है कि शरीर बचता ही नहीं, बच सकता ही नहीं। अत: हे जीव! शरीरादि जड का नहीं, बल्कि अपने परिणामों का विचार करके भेदज्ञान कर और ज्ञायक का आश्रय ले।

वास्तव में तत्त्वज्ञान की प्रतीक ऐसी धन्य तेरस के दिन हमें कम से कम ७ धण्टे और १२ मिनिट तक स्वाध्याय करना ही चाहिए।

काली चौदस : काली चौदस को रुप चतुर्दशी भी कहते हैं। जब काली चौदस के दिन लोग भगवान की वाणी सुनने के लिये समवसरण में गये, तो भगवान की दिव्यध्वनि नहीं छूटी। उस चौदस को हम काली चौदस कहते हैं, गोरी चौदस नहीं कहते। क्योंकि अज्ञान को अंधकार और ज्ञान को प्रकाश की उपमा दी जाती है। उस दिन से लेकर इस भारत की भूमि पर तीर्थंकर परमात्मा द्वारा उपदेश मिलना बन्द हो गया और इस भूमि पर अज्ञानरुपी अंधकार छा गया। अत: इस दिन को हम काली चौदस के नाम से जानते हैं।

यद्यपि भव्य जीवों इस दिन भगवान की वाणी प्राप्त नहीं हुई थी, परन्तु भगवान के रुप के दर्शन अवश्य हुए थे। इस कारण से काली चौदस को रुप चतुर्दशी भी कहते हैं।

वास्तव में वीतरागी परमात्मा के दर्शन की प्रतीक ऐसी रुपचतुर्दशी के दिन हमें देवदर्शन करके निजदेव के दर्शन करना चाहिए।

दीपावली : हम यह तो जानते हैं कि दीपवली के दिन भगवान महावीर का मोक्ष हुआ था, परन्तु उसी दिन से इस परम पवित्र भारत की भूमि पर तीर्थंकर परमात्मा का वियोग भी हुआ था। महावीर भगवान का मोक्ष भगवान महावीर के लिये अव्याबाधसुख का कारण बना परन्तु वह घडी तो हमारे लिये विरह की घडी थी।

जब किसी की माँ का स्वर्गवास होता है, तब बेटा यह जानकर खुश

नहीं होता कि माँ को स्वर्ग की प्राप्ति हुई। बेटा तो माँ के वियोग में दु:खी होता है। हमें भगवान महावीर के विरह में दु:खी होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा दिया हुआ अगाध तत्त्वज्ञान आत्मकल्याण के लिये हमें उपलब्ध हुआ है। इसलिये दीपावली को उछल-कुद करके न मनाकर गम्भीरता से विचार करके वीतरागी वाणी का चिन्तन-मनन करना चाहिए। **जिस दिन महावीर भगवान का निर्वाण हुआ, उसी दिन उनके प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। छठवें-सातवें गुणस्थान में झुलने वालें, हर अंतर्मुहूर्त में निज शुद्धात्मा के निर्विकल्प ध्यान में लीन होने वाले भावलिंगी साधु तीर्थंकर परमात्मा के विरह में रोने नहीं लगते, यदि गौतम स्वामी दीपावली के दिन महावीर भगवान के निर्वाण से रोने लगते, तो जरा सोचिए! क्या रोते-रोते किसी जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है क्या? छोटा बच्चा भी समझ सकता है कि आत्मा के ज्ञान और ध्यान से ही आत्म को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।**

तीर्थंकर परमात्मा को विकल्प ही नहीं होते। वे तो पूर्ण निर्विकल्प होते हैं। वे किसी जीव को निर्वाण से पहले अपने से दूर नहीं भेज देतें। महावीर भगवान का मोक्ष हुआ तब गौतम स्वामी समवसरण में ही थे। समवसरण इतना विशाल होता है। आज पावापुरी और गुणावा के बीच जितना अन्तर है, वह समवसरण का विस्तार ही तो था। आज वे ही स्थान अलग-अलग गाँव हो गये, तो हम ने कह दिया कि भगवान महावीर से गौतम स्वामी दूर भेज दिये गये थे।

इसप्रकार यदि हमें दीपावली उछल-कुद करके, नाच-गान करके नहीं मनानी है, तो रोने-धोने से भी दीपावली नहीं मनाई जाती। **वास्तव में गौतम स्वामी ने जैसे दीपावली मनाई थी, ऐसे दीपावली मनाना चाहिए। गौतम स्वामी ने महावीर भगवान के उपदेश को अपने जीवन में अपनाकर केवलज्ञान की प्राप्ति की और दीपावली मनाई थी।** हम भी दीपावली के दिन दो मिट्टी के दीपक प्रकटाकर हमारे घर के दरवाजे की दोनों ओर रख देते हैं। जिस प्रकार एक प्रज्जवलित दीपक के समीप जाकर स्पर्श करके

दूसरा दीपक भी प्रज्जवलित होता है। उसी प्रकार भगवान महावीर के ज्ञानरुपी दीपक के समीप रहकर गौतम स्वामी का ज्ञानरुपी दीपक प्रकट हुआ। दरवाजे पर रखे मिट्टी के दो दीपक महावीर स्वामी और गौतम स्वामी के प्रतीक हैं। **हमें भी महावीर भगवान और गौतम स्वामी, ये दोनों दीपकों के समीप रहकर अपना ज्ञानरुपी दीपक प्रज्जवलित करना चाहिए। मिट्टी के दीपक इस बात के प्रतीक है कि देहरुपी मिट्टी में भी भगवान आत्मा के ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो सकता है।**

अमावस के दिन महावीर भगवान का निर्वाण हुआ, यह हमारे लिये प्रतीकात्मक पर्व है। हमें यह प्रेरणा मिलती हैं कि बाह्य में घना अंधकार भी अंतर के दीपक को प्रज्जवलित करने में बाधक नहीं होता। आशय यह है कि बाह्य में पूर्व कर्मोदय के निमित्त से कितनी ही विकट परिस्थिति क्यों न आये? आत्म कल्याण करने के लिये हमें बाह्य संयोग-वियोग बाधक नहीं बनते।

वास्तव में महावीर भगवान एवं गौतम स्वामी के ध्यान की प्रतीक दीपावली के दिन हमें भी निजात्मा के ध्यान में लीन होने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

नूतन वर्षारंभ : हम यह तो जानते हैं इस दिन हम एक-दूसरों से मिलकर साल मुबारक कहकर नये वर्ष की शुभकामना करते हैं।

वास्तव में मिथ्यादर्शन का भाव अनादिकाल से ही जीव के साथ है, एक मात्र सम्यग्दर्शन ही अपूर्व है, नया है। अतः जब आत्मा में आत्मध्यान के फल में सम्यग्दर्शन प्रकट करे, तभी असली नया वर्ष प्रारम्भ होता है।

भाई दूज : इस दिन का रहस्य यह है कि भाई और बहिन एक ही मां से उत्पन्न होते हैं, फिर भी बहिन मां को छोडकर चली जाती है और भाई अपने घर में ही रह जाता है। उसी प्रकार ज्ञान और राग एक आत्मा में से उत्पन्न होते हैं, फिर भी राग का विकारी भाव आत्मा में छूट जाता है और ज्ञान अपने निज स्वभाव में ही स्थित रहता है।

२५. श्रुतपंचमी (ज्ञानपांचम) : रहस्य

जैनधर्म में श्रुतपंचमी का विशेष महत्त्व है। श्रुतपंचमी को ज्ञानपांचम अथवा ज्ञानपंचमी भी कहते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन पांच प्रकार के ज्ञान में से श्रुतज्ञान को दूज का चन्द्रमा और केवलज्ञान को पुर्णिमा का चन्द्रमा कहते हैं। दूज होने के बाद नियम से पूर्णिमा होती है। ऐसे ही सम्यग्दर्शन के साथ श्रुतज्ञान प्रकट होने पर इस भव में अथवा आगामी भवों में निकट काल में केवलज्ञान की प्राप्ति होती ही होती है। **दूज का चाँद पुर्णिमा के चाँद को बुलाता है। श्रुतज्ञान से केवलज्ञान पहुंचकर वास्तविकरुप में श्रुतपंचमी मनाई जानी चाहिए।**

तीर्थंकर भगवान महावीर के पश्चात् पंचमकाल में गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बुस्वामी केवलज्ञानी हुए। यद्यपि पंचमकाल में केवलज्ञान और मोक्ष नहीं होता है, किन्तु उन्होंने चौथेकाल में जन्म लेकर इतनी आत्मविशुद्धि प्रकट कर ली थी, कि पंचमकाल में भी वे मोक्ष गये।

महावीर के निर्वाण के दिन गौतमस्वामी को केवलज्ञान प्रकट हुआ तत्पश्चात् उन्होंने बारह वर्षों तक वीतराग धर्म का उपदेश दिया। उनके निर्वाण के बाद सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्हों ने भी बारह वर्षों तक वीतराग धर्म का उपदेश दिया। जिस दिन सुधर्मस्वामी का निर्वाण हुआ, उसी दिन जम्बुस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्हों ने भी बारह वर्षों तक वीतराग धर्म का उपदेश दिया। इसप्रकार तीर्थंकर भगवान महावीर के पश्चात् गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बुस्वामी ने अनन्त केवलज्ञानी प्ररुपित धर्म का उपदेश दिया। जम्बुस्वामी के निर्वाण के पश्चात् इस भारतभूमि पर कोई केवलज्ञानी नहीं हुए, वे अन्तिम केवली थे।

जम्बुस्वामी के निर्वाण के बाद केवली तो नहीं हुए परन्तु श्रुतकेवली ने वीतरागी धर्म उपदेश देकर जिनशासन की प्रभावना की। **जो लोकालोक जानते हैं, वे केवली हैं और जो लोकालोक को जानने वालें केवली भगवान**

द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली है। भद्रबाहुस्वामी इस युग के अन्तिम श्रुतकेवली थे। श्रुतकेवली बारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं। सम्यग्द्रष्टी ही श्रुतकेवली हो सकते हैं, परन्तु समस्त सम्यग्द्रष्टी श्रुतकेवली नहीं होते। जिन्हें सम्यग्दर्शन और द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व का ज्ञान हो, वे ही श्रुतकेवली होते हैं। द्रव्यलिंगी मिथ्याद्रष्टी साधु को अधिक से अधिक ग्यारह अंग और नव पूर्व का ही ज्ञान होता है।

श्रुतकेवली के अभाव में वीतरागी भावलिंगी आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं ने प्रवचनों एवं शास्त्रों के माध्यम से धर्म का उपदेश दिया। आत्मज्ञानी महात्माओं ने आत्मानुभूति के प्रमाण से उन शास्त्रों पर विवेचन करके जिनवाणी का प्रचार किया। खास बात यह है कि भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग २५४० वर्ष बाद भी भगवान की वाणी परम्परा से हमारे पास उपलब्ध है और भविष्य में भी पंचमकाल के अन्त तक प्राप्त होती रहेगी। **अब हमारा यह कर्तव्य है कि वीतराग भगवान की वाणी को त्रिकाली भगवान आत्मा के स्वरुप को शास्त्रों और प्रवचनों के माध्यम से देश-विदेश में पहुचायें। यदि हमें एक हाथ से केवली प्ररुपित धर्म का उपदेश मिला है, तो दुसरे हाथ से उसे आगे आने वाली पीढियों तक शुद्धात्मा के उपदेश को पहुँचाये।**

अब पहले जैसे दिन नहीं रहे, आज से कुछ काल पहले जीवों को ज्ञान का क्षयोपशम इतना विशेष था कि अकलंक मुनि को एक बार सुनने पर याद रह जाता था, निकलंक को दो बार सुनने पर याद रह जाता था। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा और आप कहेंगे कि अब हमारी स्थिति तो ऐसी है कि हमें याद नहीं रहता। आपके प्रवचनों में वीतरागी भगवान की वाणी सुनते हैं, परन्तु हमें तो कुछ याद नहीं रहता।

ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हें याद नहीं रहता है, ऐसी फरियाद ही झूठी है। क्योंकि यदि कोई तुम्हें एक बार ही गाली देता है, तो सारी जिन्दगी याद रह जाती है। वहाँ अकलंक मुनि की तरह एक बार सुनते ही क्यों याद रह गया? भाई! तुम भी अकलंक मुनि से कम नहीं हो। अपनी शक्ति

की ओर आज तक कभी द्रष्टि नहीं की, इसलिये अपने को हीन मान रहे हो। तुम्हें गाली सुनने की अधिक रुचि हैं, तुमने गाली आदि शब्दों को विशेष महत्त्व दिया हैं, इसलिये वे शब्द तुम्हारे ज्ञान में स्थित हो जाते हैं, परन्तु वीतरागी परमात्मा के तत्त्वज्ञान की रुचि के अभाव के कारण ही तुम्हें तत्त्वज्ञान की बातें याद नहीं रहती हैं। और हाँ, तुम्हें याद न रहे, तो भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

जरा चित्त को एकाग्र करके सोचो! तुम्हें याद नहीं रहता, इतना तो याद रहता है न, याद नहीं रहता इसका निर्णय किसने किया? वह निर्णय करने वाला ज्ञान सदैव आत्मद्रव्य में विद्यमान है। **ज्ञान स्वभाव के बल पर स्वयं को क्षायोपशिमज्ञानरुप क्षायोपशमिकभाव से भिन्न परम पारिणामिक भावरुप जानों।**

भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग २५४० वर्ष पश्चात् भी समयसार आदि आगम श्रुतज्ञान के रुप में जाने जाते हैं, लिखित ज्ञान के नाम से नहीं। क्योंकि जिन ज्ञानियों ने भी यह ज्ञान की परम्परा फैलाई है, उन्होंने सुनकर ही लिखा था। अतः आज भी तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान के रुप जाना जाता है।

श्रुतज्ञान का विशेष महत्त्व है। स्थूलरुप से देखने पर ज्ञान की अपूर्ण अवस्था में पदार्थों को जानने के लिये पाँच इन्द्रियों में से स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियों का स्पर्श अनिवार्य है। चक्षु इन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के माध्यम से ज्ञेयों को स्पर्श किये बिना ज्ञान होता है। उसमें भी आँख के माध्यम से आँख के आगे के पदार्थों का ही ज्ञान होता है, परन्तु कान के माध्यम से आगे, पीछे, दायें, बायें, उपर, नीचे इसप्रकार किसी भी दिशाओं की ध्वनि का ज्ञान होता है। अतः श्रुत ज्ञान अधिक सुविधापूर्ण है।

इतना ही नहीं, लिखे हुए शब्दों को पढने में वक्ता के भाव पूरी तरह से समझ में नहीं आ सकते। जैसे द्रव्यद्रष्टि से आत्मा नित्य ही है। इस कथन में **ही** पर जोर देना हो, तो वक्ता के बोलने ढंग से, वक्ता के चेहरे की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से वक्ता के भाव सरलता से समझ में आ सकते हैं।

जब बुढापे में वजनदार शास्त्र उठाने की शक्ति नहीं होगी, तब प्रवचन या प्रवचन की टेप, सीडी सुन सकते हैं। यदि शरीर में से अशक्तिवश मल-मूत्र छूट जाये शास्त्र को हाथ लगाने में अशुद्धि के कारण दोष लग सकता है, प्रवचन या प्रवचन की कैसेट सुनने में दोष नहीं लगता। इसप्रकार श्रुतज्ञान की विशेष महिमा है।

सकारात्मक द्रष्टि से देखने पर आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये आज इतनी सुविधायें उपलब्ध हो गई है, जितनी सुविधायें पहले के जमाने में भी नहीं थी। क्योंकि आज के युग में हम मोबाईल में अनेकानेक घण्टे के प्रवचन संग्रहीत करके कहीं भी ले जा सकते हैं। पेनड्राइव में शास्त्रों की पी.डी.एफ फाइल संग्रहित करके सारी दुनिया में आसानी से ले जाकर कम्प्युटर, लेपटोप, आई-पेड, मोबाईल आदि उपकरणों के माध्यम से पढ सकते हैं। **अधिक क्या कहे? जिस जीव को धर्म करना हो उसके लिये तो यह सुवर्णयुग आया है।**

अपने घर में, दुकान में, गाडी में जाते-आते, विमान में, ट्रेन में, आदि स्थानों पर मोबाईल में संग्रहीत (स्टोर किये हुए) प्रवचनों को स्पीकर पर अथवा दूसरें लोगों को आपत्ति हो तो इयरफोन के माध्यम में निरंतर सुनते रहना चाहिए। समाज, परिवारजन, मित्रों आदि के साथ जुडे हुए होने के कारण यदि आप पार्टियों में, शादियों में, स्मशान में जाना पडता हैं, आपको जाने की रुचि नहीं है, तो ठीक है, एक स्थान पर बैठकर कान में इयरफोन लगाकर प्रवचन सुनिये। भेदज्ञान कीजिये। विषयों में प्रवर्तन करके विषय-कषाय को पुष्ट करने से तो अच्छा होगा कि समय का सदुपयोग करे। यदि प्रवचन में सुना हुआ एक वाक्य भी आत्मा को असर कर दे, तो मानव जीवन सफल हो सकता है। प्राथमिक भूमिका में धर्म करने के लिये समय कभी मिलता नहीं है, बल्कि अन्य कार्यों के करने के साथ-साथ वीतरागी धर्म को अपने जीवन अपनाने के लिये समय निकालना चाहिए।

जिनागम में त्याग करने का उपदेश दिया है, वह उपदेश भी जीव को उसकी भूमिकानुसार दिया है। सूक्ष्मद्रष्टि से देखा जायें तो हमें वस्तु का त्याग

नहीं करना हैं, बल्कि प्राप्त अनुकूलताओं का सदुपयोग करना हैं। जब तक गृहस्थदशा में रहते हैं, तब तक विषयों को भोगने के लिये घर का उपयोग नहीं करके प्रवचन सुनने या शास्त्र पढने के लिये सदुपयोग किया जा सकता है। इसप्रकार घर में स्थित साधनों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

मात्र गृहस्थ ही नहीं, बल्कि भावलिंगी साधु भी पूर्णरुप से पराई वस्तु का त्याग नहीं करते हैं। यह जानते हुए कि परिवानजनों की तरह यह शरीर भी पराया ही है, फिर भी वे परिवारजनों तो को छोडते हैं, शरीर को नहीं छोडते हैं। प्राप्त मानव देह का तो सदुपयोग करते हैं। अतः प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी भूमिकानुसार वस्तुओं का सदुपयोग और त्याग करना चाहिए।

जैनधर्म में रहस्यपूर्ण भगवान आत्मा ही है, जो कि मात्र स्वसंवदेदन प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, वही द्रष्टि का विषय है, श्रद्धा का श्रद्धेय है, ज्ञान का ज्ञेय है, ध्याय का ध्येय है, आराधना का आराध्य है, साधना का साध्य है, निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है, निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग पर चलकर अनन्त सिद्ध अनन्त सुखी हुए है, हो रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे। निज शुद्धात्मा ही धर्म के सर्व उपदेश का सार है, सुखी और शान्ति का आधार है। प्रत्येक भगवान आत्मा स्वयं को शरीर एवं शरीर के क्षणिक संयोग से भिन्न त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा मानकर अनन्त सुख और शान्ति को उपलब्ध हो ऐसी फूलचन्द की मंगल भावना है।

प्रश्न पत्र

जैन धर्म रहस्य : देव अधिकार

01. णमोकार मंत्र एवं पंच परमेष्ठी का स्वरुप अपने शब्दों में लिखिए।
02. णमोकार मंत्र की चुलिका का रहस्य स्पष्ट कीजिए।
03. जय जिनेन्द्र बोलकर अभिवादन करने का रहस्य क्या है?
04. ॐ ध्वनि कितनी महाभाषा और लघुभाषाओं में विभाजित होती थी?
05. लोक में मंगल, उत्तम, शरण कौन है? क्यों?
06. णमोकार मंत्र का पाठ नव बार क्यों किया जाता है?
07. सच्चे देव किसे कहते हैं? रागी और वीतरागी देव में क्या अन्तर है?
08. णमोकार मंत्र में अरिहंत को सिद्ध से पहिले नमस्कार क्यों किया हैं?
09. वीतरागी भगवान को वीतमोही या वीतद्वेषी क्यों नहीं कहा?
10. सर्वज्ञ सिद्धि कीजिए।
11. भगवान हितोपदेशी क्यों होते हैं?
12. तीर्थंकर भगवान स्वरुप स्पष्ट कीजिए।
13. भगवान महावीर के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालिये।
14. वर्तमान में सीमंधर स्वामी का विशेष महत्त्व क्यों हैं?
15. जिनालय एवं चैत्यालय स्वरुप स्पष्ट कीजिए।
16. जिनप्रतिमा कैसी होनी चाहिए? क्या अचेतन प्रतिमा पूजने योग्य है?
17. देवदर्शन की विधि अपने शब्दों में लिखिए।
18. सर्व जीवों को सिद्ध भगवान के समान क्यों कहा है?
19. पंच कल्याणक कौन-से है? पंच कल्याणक का महत्त्व बताईए।
20. किस लक्ष्य से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने चाहिए।
21. क्या प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है? कैसे?
22. अज्ञानी जगत किसे नमस्कार करने में विशेष रुचिवान है?
23. इस लोक में सर्वश्रेष्ठ चमत्कार क्या है?
24. वीतरागी भगवान का सुख कैसा होता है?
25. अशरीरी भगवान कौन होते हैं? वे कहाँ रहते हैं?

जैन धर्म रहस्य : शास्त्र अधिकार

01. शास्त्र किसे कहते हैं? कौन-से शास्त्र शुभ हैं?
02. आगम की भाषा और शैली को अपने शब्दों में लिखिए।
03. आगम के अर्थ समझने की पद्धति क्या है?
04. अनेकांत और स्याद्वाद का स्वरुप स्पष्ट कीजिए।
05. अनुयोग किसे कहते है? अनुयोग कितने और कौन-कौन से हैं?
06. प्रथमानुयोग किसे कहते है? प्रथमानुयोग का दूसरा नाम क्या है?
07. शलाका महापुरुष कितने होते हैं? नाम गिनाईए।
08. करणानुयोग किसे कहते है? करणानुयोग का दूसरा नाम क्या है?
09. जीवस्थान-मार्गणास्थान-गुणस्थान किसे कहते हैं? वे कौन-से हैं?
10. लोक कितने भाग में विभाजित है? उनका सामान्य स्वरुप बताईए।
11. नरक कितने है? कौन-कौन से? नरक की विशेषता लिखिए।
12. हम कहाँ रहते हैं? अभी यहाँ कौन-सा काल चल रहा है?
13. उर्ध्वलोक की रचना अपने शब्दों में लिखिए।
14. क्या पुण्य के उदय से भक्ति का भाव आता है? स्पष्ट कीजिए।
15. प्रथमोपशम सम्यक्त्व किसे कहते है? पंचलब्धि का स्वरुप क्या है?
16. द्रव्यानुयोग का रहस्य और विशेष महत्त्व क्या है?
17. साधक को द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान से क्या लाभ है?
18. विश्व की स्वतंत्रता पर निबंध लिखिए।
19. संसार का स्वार्थी स्वरुप जीवन के अनुभव से स्पष्ट कीजिए।
20. भेद-विज्ञान करने के लिये क्या विचार करना चाहिए?
21. मैं कौन हूँ? स्वयं की पहिचान कैसे हो सकती है?
22. निमित्त-उपादान का स्वरुप विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए।
23. निश्चय और व्यवहार को भेद सहित विवेचन कीजिए।
24. क्रमबद्धपर्याय में क्रमबद्ध पुरुषार्थ का स्वरुप क्या है?
25. चरणानुयोग किसे कहते हैं? गृहस्थ एवं मुनिधर्म में भेद क्या है?

जैन धर्म रहस्य : गुरु अधिकार

01. गुरु किसे कहते हैं? मिथ्याद्रष्टी जीव को गुरु मानने का फल क्या है?
02. सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र कैसा होता है?
03. सम्यग्दर्शन का स्वरुप आगम प्रमाण से स्पष्ट कीजिए।
04. तत्त्व किसे कहते हैं? समस्त तत्त्वों का स्वरुप बताईए।
05. अपूर्व सम्यग्दर्शन की महिमा बताईए।
06. सम्यग्दर्शन प्रकट करने से पहिले जीव की भूमिक कैसी होती है?
07. देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन क्यों कहा है?
08. व्यसन किसे कहते हैं? व्यसन का व्यवहार-निश्चय स्वरुप क्या है?
09 श्रावक के कितने मूलगुण होते हैं? स्वरुप लिखिए।
10. सदाचार किसे कहते हैं? अन्याय-अनीति-अभक्ष्य का स्वरुप क्या है?
11. आत्मा का स्वरुप व्यक्त कीजिए। ज्ञान स्वभाव की महिमा बताईए।
12. जीव के असाधारण भाव कितने है? उनका स्वरुप स्पष्ट कीजिए।
13. जगत में सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली वस्तु क्या है? क्यों?
14. भेदज्ञान का स्वरुप क्या है? प्रज्ञाछैनी किसे कहते है?
15. निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रकट होते ही क्या होता है?
16. बारह भावना पर निबंध लिखिए।
17. वैराग्य और उदासीनता मुनिदीक्षा में कैसे परिवर्तित होती है?
18. साधु के अठ्ठाईस मूलगुण का स्वरुप अपने शब्दों में लिखिए।
19. भावलिंगी और द्रव्यलिंगी में गुणस्थान सहित अन्तर स्पष्ट कीजिए।
20. परिषह किसे कहते है? बाईस परिषह का स्वरुप बताईए।
21. परिषह और उपसर्ग में क्या भेद है? उपसर्ग कौन करते हैं?
22. क्या सभी मुनि को चलते-फिरते सिद्ध कहा है?
23. बालदीक्षा देने से जीव का हित हो सकता है? दीक्षा कब देनी चाहिए?
24. शिथिलाचारी को द्रव्य स्वभाव से परमात्मा देखने पर क्या होता है?
25. क्षयोपशमज्ञान और आत्मज्ञान में क्या अन्तर है? लक्ष्य क्या है?

जैन धर्म रहस्य : धर्म अधिकार

01. पुण्य और धर्म में क्या भेद है? क्या इस काल में धर्म हो सकता है?
02. मिथ्यात्व को सबसे बडा अधर्म क्यों कहा है?
03. क्या अज्ञानी को व्यवहार धर्म होता है? क्यों?
04. श्रावक-श्राविका किसे कहते हैं? रहस्य स्पष्ट कीजिए।
05. रात्रिभोजन का त्याग किसे, कैसे और क्यों करना चाहिए?
06. सामायिक और प्रतिक्रमण किसे होते हैं? सूक्ष्म निरुपण कीजिए।
07. तीर्थ किसे कहते है? तीर्थयात्रा का स्वरुप एवं फल क्या है?
08. क्या पूजा और भक्ति करने से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है? क्यों?
09. सत्संग किसे कहते है? सद्निमित्तों की महिमा बताईए।
10. पर्व किसे कहते है? जैन पर्व की विशेषता क्या है?
11. पर्युषण महापर्व और धर्म के दस लक्षण कौन-से हैं?
12. क्षमा को वीर का आभूषण क्यों कहा है? सच्चा क्षमावान कौन है?
13. आत्महित में मान कषाय किस प्रकार बाधक होता है?
14. क्या मन-वचन-काया की एकरुपता का नाम ही आर्जव धर्म है?
15. लोभ को पाप का बाप क्यों कहा है?
16. सिद्ध भगवान में सत्यधर्म घटित कीजिए।
17. संयम और तप में क्या अन्तर है? संयम की महिमा बताईए।
18. उत्तम तप धर्म पर निबंध लिखिए।
19. दान और त्याग में क्या अन्तर है?
20. सबसे अधिक खतरनाक परिग्रह क्या है? क्यों?
21. ब्रह्मचर्य किसे कहते है? क्या शादी-शुदा को ब्रह्मचर्य धर्म होता है?
22. अष्टाह्निका पर्व पर निबंध लिखिए।
23. रक्षाबंधन पर्व से हमें क्या बोध प्राप्त होता है?
24. हमें दीपावली कैसे मनानी चाहिए?
25. जैनधर्म में श्रुतपंचमी क्यों मनाई जाती है? विवेचन

शुद्धि पत्रक

क्रम	पृष्ठ संख्या	पंक्ति नंबर	अशुद्धि	शुद्धि
1	कवर पृष्ठ–2	23	डाउडलोड	डाउनलोड
2	5	12	मिलने	मिलते
3	12	20	का	की
4	21	7	बध	बंध
5	21	25	वाली	वाले
6	22	1	यश:किर्ती	यश:कीर्ति
7	23	14	देखर	देकर
8	24	10	अंक	अंक में
9	25	4	विशालकिर्ती	विशालकीर्ति
10	25	5	इश्वर	ईश्वर
11	29	8	प्रवृत्तियों	प्रवृत्तियों को
12	29	9	जिनालायों	जिनालयों
13	31	9	हो पाते	कर पाते
14	31	14	के	की
15	31	22	खयाल	ख्याल
16	32	3-5	कुल्हा	कुल्ला
17	32	7	घनियाँ	धनियाँ
18	33	25	होना	होता
19	40	22	जिसे	जिन्हें
20	40	22	मिलती	मिलती हैं,
21	42	22	ने	का
22	47	11	जाती	जा
23	47	16	बिना के	बिना
24	50	1	नयों का	नयों का ज्ञान
25	52	2	धर्म शब्द का	अंत शब्दा का अर्थ
26	52	9	गुण	गुण में
27	58	23	भी है	ही है
28	58	24	अन्वेशण	अन्वेषण
29	61	9	बाफ	भाप
30	61	9	धनोदधिवातवलय	घनोदधिवातवलय
31	61	10	धनवातवलय	घनवातवलय
32	62	10	रुकिम	रुक्मि
33	64	13	वर्तमान	वर्तमान में
34	66	12	देवों	देवों को
35	67	27	कल्याण के	कल्याण के लिये
36	68	2	प्रदेश	प्रदेश पर
37	68	3	प्रदेशों के	प्रदेश

क्रम	पृष्ठ संख्या	पंक्ति नंबर	अशुद्धि	शुद्धि
38	68	15	वैयवृत्य	वैयावृत्य
39	68	19	युह	यह
40	69	9	व्यक्ति	व्यक्ति का
41	71	22	देशनलब्धि	देशनालब्धि
42	72	14	जीव	जीव का
43	73	12	शास्त्रों	शास्त्रों में
44	76	11	रह	रहें
45	76	12	रहते	रहती
46	76	21	राग का	राग
47	78	10	का	से
48	78	11	द्रव्य	द्रव्य की
49	79	26	सिद्ध	सिद्धि
50	86	16	के	से
51	86	21	व्यहवार	व्यवहार
52	96	7	देरी	देरी से
53	97	22	श्रद्ध	श्रद्धा
54	108	8	वीतराग	वीतरागता
55	110	3	फल	फल में
56	113	14	जीव ने	जीव
57	114	13	कोलहल	कोलाहल
58	114	22	महिने	महिनों
59	117	9-10	मलिक	मालिक
60	120	22	ज्ञानी	ज्ञानी का
61	121	15	दस्तकत	दस्तखत
62	124	25	दीर्धकाल	दीर्घकाल
63	128	12	जीवों	जीवों को
64	136	4	जीने	जीने की
65	137	14	वाके	वाले
66	139	6	में	में जाये
67	139	20	साधनों	साधन
68	144	20	माध्यम में	माध्यम से
69	145	3	होने	होने पर
70	150	23	धूम	घूम
71	152	19	व्यकित	व्यक्ति
72	154	5	प्रकार	प्रकार के
73	156	25	बिजली	बिजली के
74	157	14	करना	करना है
75	159	20	जीने	जीने की
76	159	21	कर	करना

क्रम	पृष्ठ संख्या	पंक्ति नंबर	अशुद्धि	शुद्धि
77	160	12	भावनाओं	भावनाओं का
78	160	22	आने के	आने
79	161	17	अर्थात्	अर्थ
80	162	14	अनित्यता	अनित्यता का
81	164	1	बोध से	बोध होने पर
82	164	1	जाने के	जाने का
83	164	15	पीढी की	पीढी के
84	165	2	फूलों	फूलों से
85	167	7	के	के लिये
86	167	8	एकक्षेत्रागाही	एकक्षेत्रावगाही
87	168	16	लिप्सस्टीप	लिपस्टिक
88	168	19	रह	रहा
89	169	7	धुमाकर	घुमाकर
90	169	8	अपवित्रता	अपवित्रता का
91	169	19	मृतदेह	मृतदेह को
92	173	2	संख्यात	असंख्यात
93	173	15	करण	कारण
94	173	27	उसमें	उसमें भी
95	174	19	लगाने	लगाने का
96	174	23	पीने का	पीने को
97	174	28	भावना	भावना का
98	175	6	भावना	भावनाओं में
99	175	14	अज्ञानी	अज्ञानी को
100	180	14	करने के	करने
101	183	17	हो	को
102	184	3	होने	होने से
103	184	14	सत्यार्थ	असत्यार्थ
104	184	26	स्वतंत्र	स्वतंत्रता
105	195	3	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग नहीं
106	195	22	भगवान	भगवान की
107	196	27	नग्नता के	नग्नता के बिना
108	198	19	गंवाते	गंवाने
109	203	8	आहार	पानी
110	203	8	पेट	पेट में
111	208	7	स्वभाव	स्वभाव में
112	209	13	का	को
113	213	2	सहज	सहन
114	213	17	दु:खी	दु:खी होने
115	217	1/1 एवं अनुक्रमणिका	शिथिराचारी	शिथिलाचारी

क्रम	पृष्ठ संख्या	पंक्ति नंबर	अशुद्धि	शुद्धि
116	228	11	दूसरे	पाँचवें(अपेक्षा से)
117	228	18	अडताडीस	अडतालीस
118	229	11	करने	करते
119	232	15	पशुओं	पशुओं को
120	234	14	पहिन	पहन
121	242	4	को	से
122	242	5	नहीं	नहीं की
123	242	10	को	से
124	242	24	करना	करने
125	245	21	सिखना	सीखना
126	253	1	राग	रात
127	253	16	योग्य	योग्य नहीं
128	253	18	के	की
129	257	1	भूमिका	भूमिका में
130	257	12	के	की
131	257	12	निमित्त	निमित्त से
132	259	11	मिथ्याद्रष्टि	मिथ्याद्रष्टी का
133	266	18	के	से
134	275	22	पीने	पीने से
135	278	14	भूख	भूख से
136	278	19	सुखबुद्धि	सुखबुद्धि से
137	278	26	खाने का	खाने का नाम
138	280	22	नहीं	नहीं होने
139	282	17	करना	कर
140	282	21	का	का नाम
141	282	23	जगत	जगत में
142	283	17	क्रशमल	क्रमश:
143	284	24	बिना	बिना नहीं
144	287	25	इस	यह
145	288	17	मेरे	मेरी
146	288	23	ढंकने	ढंकने का
147	289	23	अज्ञानी	अज्ञानी को
148	290	22	दिखाई	दिखाई देता है
149	292	1	का	को
150	296	19	होने	होने का
151	298	6	दान	दान में
152	300	4	अनुभव	अनुभव में
153	304	26	मुनिसंध	मुनिसंघ
154	309	21	जाती	जाती है
155	318	19	त्याग	क्या

लेखक की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

www.fulchandshastri.com

- ज्ञान से ज्ञायक तक (हिन्दी, गुजराती)
- क्रमबद्ध पुरुषार्थ (हिन्दी, गुजराती)
- आत्मसिद्धि अनुशीलन (गुजराती, अंग्रजी)
- ज्ञायकभाव प्रकाशक-समयसार टीका (हिन्दी, गुजराती, अंग्रजी)
- मरण का हरण (हिन्दी, गुजराती)
- क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव (हिन्दी, गुजराती, अंग्रजी)
- आतंकवाद में अनेकांतवाद (हिन्दी, गुजराती, अंग्रजी, जापानीझ)
- महावीर का वारिस कौन? (गुजराती, हिन्दी)
- मुझे मत मारो (हिन्दी, गुजराती, इन्डोनेशियन, बताक)
- छहढाला-षटपद विवेचन (हिन्दी)
- गुणाधिपति आत्मा (गुजराती, हिन्दी, अंग्रजी)
- अंक अंकित अध्यात्म (गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी)
- पुण्यविराम (गुजराती, हिन्दी, अंग्रजी)
- वर्धमान से महावीर-एक नाटक (हिन्दी)
- मंगलसूत्र (हिन्दी, गुजराती)
- ज्ञानदर्पण सहस्त्री (हिन्दी, गुजराती)
- जैनधर्म रहस्य (गुजराती, अंग्रजी)
- आध्यात्मिक साधना प्रश्नोत्तरमाला (गुजराती)
- पंच परमागम (अंग्रजी लिप्यंतरण)
- स्वरुप ही ऐसा है (गुजराती, हिन्दी)
- जैनसिद्धांत का वटवृक्ष (गुजराती, हिन्दी, अंग्रजी)

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः।।

अनेक प्रकार के अक्षरों से शब्द रचे गये हैं, शब्दों से वाक्य रचे गये हैं
और फिर उन वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र रचा गया है,
हम से कुछ भी नहीं किया गया।

- श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव कृत पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक २२६

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 / 23884222